सम्पादकीय

समकालीन उपन्यास : सीमाएँ और सम्भावनाएँ

: १ :

कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्य-रूप है । पिछले तीन-चार सौ वर्षों में इसने समस्त विश्व-साहित्य में अपने को जिस प्रकार स्थापित किया उससे आतंकित होकर यह आशंका अक्सर व्यक्त की जाती रही है कि इसके आच्छादन में कविता और नाटक का विकास अवरुद्ध हो जायगा। यद्यपि इस प्रकार की अतिरंजित आशंकाएँ बार-बार भ्रान्त सिद्ध होती रही हैं, किन्तु उनमें सत्य का इतना अंश अवश्य है कि कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है । गीति-काव्यों के पुञ्जीभूत भाव-सत्य, दुःखान्त नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और करुणा, गीति-कथाओं की गति और प्रवह-मानता, मुक्तकों का उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य—इन सभी पुराने साहित्य-रूपों की शिल्प-गत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया था। यह सम्भावना प्रतिभासित हो रही थी कि इस साहित्य-रूप में प्रथम बार मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ अवतरित हो सकेगा; उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फैले हुए सीमान्त और गति तथा प्रसार के अति-रिक्त गहराई के आयाम का चित्रण करके उप-न्यास मानव-जीवन के सर्वांग-सम्पूर्ण प्रतिपालन में कविता और नाटक आदि सभी पुराने साहित्य-रूपों में से सर्वाधिक सफलता प्राप्त करेगा।

इस आशा का मूल कारण यह भी था कि अपने विकास-काल में ही उपन्यास ने मानव-जीवन के एक ऐसे मर्म सूत्र को पकड़ा था जिसमें उसका सारा वैयक्तिक अस्तित्व, सामा-जिक जीवन और सांस्कृतिक विकास अन्तर्ग्रथित था। वह थी मनुष्य की आत्मान्वेषी वृत्ति, जिसकी आरम्भ-रेखा थी जिजीविषा और परिणति थी आत्मोपलब्धि। मनुष्य में जीवन धारण करने की सामर्थ्य है। समस्त प्रतिरोधों के बावजूद वह जीवित रहना चाहता है, परम्परा और परि-स्थिति की पृष्ठभूमि में उसकी वह अदम्य जिजीविषा सक्रिय रूप में प्रतिफलित होती है। किन्तु यह प्रक्रिया निरर्थक या यान्त्रिक नहीं है, वह सार्थक है और लक्ष्ययुक्त है। उसका लक्ष्य है अपने अस्तित्व और चेतना के ऊपरी

पर्तों के नीचे बहुत गहरे में निहित अपने वास्तविक भाव को खोजना, खोजकर अपनी अगणित बाह्य प्रक्रियाओं, आचरणों और सामाजिक सम्बन्धों में उससे तादात्म्य स्थापित करना, और अपने समस्त जीवन-व्यापार में निरन्तर यह प्रयास करना कि आत्मोपलब्धि के इस सत्य का एक अंश, जिस पर उसकी खोज, उसकी विजय, उसकी महत्ता की छाप है; ऐसा एक अंश वह किसी-न-किसी रूप में प्रवहमान सामाजिक जीवन को दे जाय। इसीलिए उपन्यास में चित्रित मानव निरपेक्ष स्थिति में चित्रित नहीं किया जाता, अपने समग्र परिवेश में, वातावरण, परम्परा तथा परिस्थिति की पृष्ठभूमि में चित्रित होता है; किन्तु यह आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया ही मानव-पात्रों को सजीव और सार्थक बनाती है। अपनी वैयक्तिक सत्ता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने बाह्य सम्बन्धों और सामाजिक आचरणों में (चाहे वे आचरण प्रणयाकांक्षा से प्रेरित हों, नैतिक निष्ठा से प्रेरित हों या राजनीतिक आदर्शों से प्रेरित हों) औपन्यासिक पात्र अगर आत्मान्वेषण कर पाता है या उस ओर उन्मुख होता है, तभी वह सजीव पात्र बन पाता है, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा हो पाती है अन्यथा उस औपन्यासिक कृति में कितना ही विस्तृत और तथ्यपूर्ण विवरण हो, बौद्धिक ऊहापोह हो, रहस्यपूर्ण रोमांचक कथा-शिल्प हो, किन्तु उसका मानवीय पक्ष निष्प्राण और निर्जीव रहता है और वह उच्च कोटि का उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य का अपनी परिस्थितियों से सम्बन्ध, मनुष्य और मनुष्य का रागात्मक अथवा सामाजिक सम्बन्ध, मनुष्य का निरपेक्ष सत्य, मर्यादा, मूल्य या किसी अरूप भावात्मक अथवा आदर्शात्मक सत्ता से सम्बन्ध, इन सम्बन्धों की विविधता और इनका वैचित्र्य तथा इन सबके जटिल प्रभाव से निर्मित होने वाला मानव-व्यक्तित्व अपनी असंख्य विविधताओं में अपरिमित सम्भावनाओं को छिपाए रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-प्रणाली में, अपने आत्मान्वेषण में दूसरे से बिलकुल पृथक् रहता है और कथाकार का मुख्य कार्य यही है कि वह चित्रण में उसकी उस वैयक्तिकता को उभार सके तथा वह अपने ढंग से कैसे अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति में अपने-आपको उपलब्ध करता चल रहा है इसको पूरी सहानुभूति से दिखला सके। महानतम कथा-कृतियों में आत्मोपलब्धि के इसी तत्त्व को उसके विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। टालस्टॉय के 'वार एण्ड पीस' में एक विराट् कैनवस पर कितने ही चरित्र आते हैं जो अपनी जीवन-प्रक्रिया में आत्मान्वेषण में तल्लीन हैं। उसमें विभिन्न आर्थिक वर्ग के लोग हैं, विभिन्न आयु-स्तर के लोग हैं, विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न राजनीतिक मत, विभिन्न पेशे और विभिन्न परिस्थितियों के लोग हैं; यही नहीं वरन् एक ही व्यक्ति अपने जीवन की विभिन्न घड़ियों में विभिन्न स्तरों पर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियों से अपने-आपको पाता और खोता चलता है। एक सीमाहीन प्रसार है, जिसमें जितने प्रकार के पात्र हैं उतने ही प्रकार की पद्धतियाँ और प्रणालियाँ हैं और उन सबके बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य उनको वैयक्तिकता, सजीवता और सार्थकता प्रदान करता है। इससे थोड़े पृथक् डास्टावस्की के उपन्यास हैं, जिनमें इसी प्रक्रिया को इसके बहुविध प्रसार में न दिखाकर उसकी गहनता और जटिलता में दिखाया गया है। विक्टर ह्यूगो से लेकर रोमा रोलाँ तक जिन कथाकारों ने ऐसी महान् कथा-कृतियाँ प्रस्तुत की हैं जिन्हें महाकाव्यों के समकक्ष रखा जा सकता है उनमें वह सूक्ष्म दृष्टि और व्यापक सहानुभूति रही है जिससे वे प्रत्येक पात्र की

वैयक्तिक आत्मोपलब्धि को प्रस्तुत कर सके और उनमें एक सूत्रबद्धता तथा समरसता भी खोज सके।

किन्तु १९वीं शताब्दी का अन्त होते-होते इन महान् उपन्यासों की परम्परा भी समाप्त होती हुई दीख पड़ती है। रोमां रोलाँ का 'जाँ क्रिस्ताफ़' शायद इस परम्परा की अन्तिम कृति कहा जा सकता है। इसके बाद हम व्यापक तौर पर उपन्यासों में चित्रित मानव-पक्ष को कई प्रकार से ह्रासोन्मुख पाते हैं। कहीं उसके वैविध्य और विस्तार में कमी हो गई है, कहीं उसमें गहराई की कमी है और केवल सतही तौर पर मनुष्य का चित्रण होने लगा है, कहीं गहन वस्तु-तत्त्व के अभाव में केवल शिल्प-चमत्कार पर आग्रह है और कहीं मानव-पक्ष को निर्जीव और निष्प्राण छोड़कर उपन्यास को किसी विशेष जैविक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक या धार्मिक मतवादों का वाहन बनाने की चेष्टाएँ मिलती हैं। उपन्यासकार अपने पात्रों के आत्मान्वेषण को न चित्रित करके अपने लबादे उन्हें पहनाने की कोशिश करता है और अपनी पगडण्डियों पर उन्हें मोड़ने का प्रयास करता है। अपने संकीर्ण सिद्धान्तों के आधार पर उनका एकांगी निरूपण तथा विश्लेषण करता है। परिणामस्वरूप उसके उपन्यासों में चित्रित मानव-जीवन कृत्रिम और सतही होता जाता है, पात्रों का व्यक्तित्व और निजत्व समाप्त होता जाता है। पिछली अर्द्ध-शताब्दी में विश्व-उपन्यास में निस्सन्देह मानव-तत्त्व का विघटन हुआ है।

: २ :

इस विघटन की प्रकृति को समझने के लिए उन चिन्तन-धाराओं और प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है जिनका व्यापक प्रभाव समकालीन उपन्यासों पर पड़ा है। इनमें से सबसे पहली धारा उस यथार्थवाद की है जिसका उदय रोमाण्टिसिज़्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ और जिसको ज़ोला ने अपने उपन्यासों में प्रथम बार पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित किया। ज़ोला के यथार्थवाद को बाद में प्रकृतवाद (नैचुरलिज़्म) की संज्ञा दी गई। इस धारा के अन्तर्गत मानव-अस्तित्व को प्राकृतिक व्यवस्था से पृथक् न करके इस प्रकार चित्रित किया गया जैसे वह भी उस विराट् प्राकृतिक जीवन में पशु-पक्षियों की ही श्रेणी का जीव है और मूलतः उसमें भी क्षुधा, काम, अहं तथा गिरोह बनाने की प्रवृत्तियाँ हैं और उसका सारा आचरण उन्हींसे परिचालित है। इस धारा ने उपन्यासों में चित्रित मानव-पक्ष पर द्विविध प्रभाव डाले। जहाँ तक मानव-परिवेश, वाह्य परिस्थिति, परम्परा और पृष्ठ-भूमि का सम्बन्ध है, इस धारा ने औपन्यासिक परम्परा को निस्सन्देह एक नया मोड़ दिया, किन्तु जहाँ तक इस विराट् मान-चित्र के केन्द्र-बिन्दु मनुष्य का सम्बन्ध है, उसने उसको सीमित और एकांगी कर दिया, उसकी परम्परागत श्रेष्ठता से वंचित करके उसको पशुधर्मी और विकृति-प्रधान जीव मान लिया।

आगे चलकर इस यथार्थवादी धारा की दो प्रमुख शाखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक धारा मनुष्य को व्यक्ति रूप में परिकल्पित करके उसके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल ग्रन्थियों को सुलझाने में तल्लीन हो गई और दूसरी धारा उसको समष्टि की एक सामान्य इकाई मान-कर उसके वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या करती रही। ये दोनों धाराएँ उपन्यास के मानव-पक्ष को बिलकुल निर्जीव कर डालने में पूर्णतया सफल हुई हैं। एक ने मनुष्य को केवल अर्द्ध-विक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगी की स्थिति तक उतार दिया और दूसरी ने मनुष्य की वैय-क्तिकता छीनकर उसे बने-बनाए साँचे में ढाल-कर कठपुतली में परिवर्तित कर दिया। इस

प्रकार आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति को, जो उपन्यासों के मानव-पक्ष को बल देती रही, दोनों ओर से कड़े आघात लगे। मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वादियों ने आत्मोपलब्धि को तो स्थान दिया, पर एक ओर उन्होंने आत्मान्वेषण की राह अत्यन्त सँकरी और जटिल बना दी और दूसरी ओर उन्होंने मनुष्य के आत्म-तत्त्व को पूर्वनिर्धा-रित, पशुधर्मी और अनिवार्यरूपेण विकृत मान लिया। डास्टावस्की के उपन्यासों का मनुष्य भी उपचेतन की अँधेरी गलियों में भटकता है, किन्तु उसमें कहीं-न-कहीं दैवी अंश का साक्षात्-कार करने की सामर्थ्य है, इसीलिए उसके अस्तित्व में एक आभास ऐसा भी है जिसके सम्मुख स्वतः फ्रायड अपने को पराजित अनु-भव करता है। किन्तु समकालीन, मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासकार मनुष्य के उस आयाम को केवल एक भ्रान्ति (illusion) मानते हैं इसीलिए उपचेतन और अचेतन की भूल-भुलैयाँ में भटकने के बाद भी मानव-सत्ता का जो चित्र हमारे सम्मुख आता है वह पहाड़ खोदकर निकाले गए चूहे की तरह ही निराशाजनक और उबाने वाला प्रतीत होता है।

दूसरी ओर समाजिक यथार्थवादियों ने भी यह मानने से इन्कार किया कि मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया कई स्तरों पर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामों में होता रहता है। मनुष्य अपने को केवल वर्ग-संघर्ष ही नहीं वरन् अन्य दिशाओं में भी उपलब्ध करता है। उन्होंने मनुष्य के आत्मान्वेषण को केवल एक बूर्जुआ भ्रान्ति मानकर उसे इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति का साधन-मात्र माना। फलस्वरूप उनके उपन्यासों में अवतरित होने वाले पात्रों की कोई वैयक्तिक आत्मोपलब्धि नहीं रही, उनको पूर्व निर्धारित आकार के लबादे उढ़ा दिये गए और उसके बाद वे इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति के अनुसार होने लगे। वैयक्तिक आत्मान्वेषण के द्वारा सत्य की उपलब्धि से विमुख होकर कोई दूसरा लबादा ओढ़ लेना एक ऐसी स्थिति है जिसके करुण या हास्यास्पद परिणामों की ओर उपन्यासों के उदय-काल में ही सर्वेंण्टीज ने अपनी अमर कृति 'डॉन क्विक्ज़ोट' में गहरी चेतावनी दी थी। विचित्र वीर डॉन क्विक्ज़ोट अपनी सीमाओं तथा सामर्थ्य, दोनों को भूलकर मध्यकालीन वीरों का लबादा ओढ़कर पुरानी ढाल और जंग खाई हुई तलवार लेकर कल्पित दैत्यों से लड़ने चल पड़ता है। राज-कुमारी के नाम पर एक भटियारिन को प्रेम करके और दैत्यों के नाम पर हवाचक्कियों से सिर टकरा-कर लौट आता है। मनुष्य का आत्मान्वेषण आरोपित तो हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि अर्द्ध-राजनीतिक उपन्यासों का यथार्थ मानवीय नहीं प्रतीत होता, हमको छू नहीं पाता।

यहीं पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि यथार्थवाद की इन दोनों धाराओं ने मानव-सत्य के कुछ ऐसे पक्षों को अवश्य उद्घाटित किया है जो उसकी आत्मोपलब्धि को और भी सम्पन्न बना सकते थे, किन्तु इन धाराओं के अधिकांश लेखकों ने यह भुला दिया कि मनुष्य इन सभी चिन्तन-सम्प्रदायों और मतवादों से बड़ा है, उसकी जीवन-प्रक्रिया इतनी गहन, बहुमुखी और वैभवशाली है कि वह किसी भी एक मतवाद द्वारा पूर्ण रूप से बाँधी नहीं जा सकती। इसीलिए उपन्यासकार को, जो मानव-सत्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करना चाहता है, कलाकार की दृष्टि अपनानी चाहिए; मनोवैज्ञानिक या राजनीतिक कमिस्सार की दृष्टि नहीं। उस कला-दृष्टि में एक ऐसी व्यापक सहानुभूति होती है जो किसी भी पात्र को अपने रंगीन चश्मे से नहीं देखना चाहती वरन् उसीकी परिस्थितियों में अपने को रख-कर, उसीकी अनुभूतियाँ करके, उसीके

आत्मान्वेषण के दर्द में डूबकर, उसकी आत्मोपलब्धि के सन्तोष में तुष्ट होकर उसकी मानवीयता को उद्घाटित करती है। वह कला-दृष्टि मनुष्य की चेतना के विविध आयामों में, उसकी सत्ता के विभिन्न स्तरों में और उसकी अदम्य अपराजेयता में पूर्ण विश्वास रखता है। कई स्थलों पर हमें ऐसा दीख पड़ता है कि कई उपन्यासकारों की कथाकृतियों में अपने घोषित मतवादों और सिद्धान्तों के बावजूद अनायास ही व्यापक दृष्टिकोण, उदारता और सूक्ष्म मर्म-ग्राहिता उभर आई है जिसने मानवीय पक्ष को अत्यन्त प्रबल कर दिया और उनके पात्रों में वही सजीवता और आत्म-बोध मिलता है जो उनके मतवाद के अनुसार श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। सोवियत रूस का गोर्की और चीन का लुहसूँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गोर्की के पीछे तुर्गनेव, डास्टावस्की और टाल्सटाय की परम्परा थी और लुहसूँ ने अपनी कला-दृष्टि का गठन बालज़ाक, डिकेन्स और गोर्की से ग्रहण किया था। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों में कई स्थलों पर व्यापक कला-दृष्टि उभर आती है और ऐसे स्थलों पर उपन्यासों का मानव-पक्ष सजीव हो उठता है। और उसकी एकरसता टूट जाती है।

पिछले बीस वर्षों की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह रही है कि जिन क्षेत्रों में चिन्तन-स्वाधीनता है, उनमें धीरे-धीरे कथाकारों ने इन संकीर्ण मतवादों से मुक्त होकर व्यापक मानवतावादी भूमि पर अपनी कला की स्थापना की है। एक बड़ा समूह ऐसे लेखकों का है जिन्होंने अपने लेखन का प्रारम्भ इन धाराओं के अन्तर्गत किया था किन्तु ज्यों-ज्यों वे जीवन को समझते गए त्यों-त्यों उन्होंने मनुष्य की आत्मोपलब्धि को, उसकी अपराजेयता को और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया। जान स्टीन बेक, आर्थर केस्लर और इगनात्सियो सिलोने स्पष्ट रूप में घोषित कर चुके हैं कि अर्द्धराजनीतिक मतवादों के बजाय मनुष्य की आत्मोपलब्धि कथा-साहित्य का केन्द्रीय सत्य है। दूसरी ओर विलियम फाक्नर अर्न्स्ट हेमिंग्वे मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों का चित्रण करने के बाद आज स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि निर्भीकता तथा साहस मनुष्य का वह शाश्वत सम्बल है जिसके द्वारा वह उच्चतर स्तरों पर अपने को विकसित करता है और परिस्थितियों पर विजय पाता है।

इसी बीच दो और ऐसी धाराएँ उपन्यासों में प्रतिबिम्बित हुई हैं जिन्होंने मानवीय आत्मान्वेषण को बिलकुल नये स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया है। एक है नास्तिक अस्तित्व-वादी धारा और दूसरी आस्तिक मानवतावादी धारा; जिसमें कैथोलिकों की प्रधानता है। अस्तित्ववादी धारा के प्रमुख कथाकार अल्बर्ट कैमस और जाँ पाल सार्त्र द्वितीय महायुद्ध में पराजित फ्रांस की देन है। यद्यपि उनमें मार्क्सवाद की अन्धसामूहिकता के विरुद्ध काफी तीखा विद्रोह है, किन्तु वह तीव्र संहारकारी अनास्था पर आधारित है और जिस संशय, त्रास और चिन्ता को अस्तित्ववाद मनुष्य के आत्मान्वेषण के मूल में प्रतिष्ठित करता है, उसके कारण अस्तित्ववादी उपन्यासों का मनुष्य अस्वस्थ, त्रस्त और भयभीत ही दीख पड़ता है, और उसकी आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है। दूसरी धारा के उपन्यास परम्परागत ईसाई करुणा, भ्रातृत्व और प्रेम के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार मानकर चलते हैं और साथ ही मनुष्य को वे केवल कामार्त्त और क्षुधार्त्त ही न मानकर उसे दैवी स्तरों से युक्त मानते हैं और उसकी ऊर्ध्व-मुखी गति को भी प्रश्रय देते हैं। ऐसे उपन्यास-कारों में मॉरियाक तथा ग्राहमग्रीन आदि कैथोलिक लेखकों ने मानवीय पक्ष को अत्यन्त गहन स्तरों पर चित्रित करने में सफलता पाई है।

उन्होंने पुनः एक मनुष्य के आत्मान्वेषण को बहुत गहरे अर्थ दिये हैं। किन्तु जब वे मानवीय व्यापारों में किसी दैवी सत्ता का हस्तक्षेप स्वीकार करते हैं, दैवी अनुग्रह को समाविष्ट कराते हैं, तभी वे मानवीय पक्ष को दुर्बल करने लगते हैं। ग्राहमग्रीन के अन्तिम उपन्यास 'एण्ड ऑफ द अफेयर' की तुलना 'पावर एण्ड ग्लोरी' या 'हार्ट आफ द मैटर' से करने पर इसके प्रचुर प्रमाण मिल सकते हैं।

इस प्रकार हर क्षेत्र में उपन्यासों में दृष्टिगोचर होने वाली मानवीय पक्ष की दुर्बलता का मूल कारण यही है कि मनुष्य के आत्मान्वेषण की वृत्ति को सीमित, सतही, कुण्ठित या लक्ष्य-भ्रष्ट चित्रित किया गया है। यही कारण है कि आज का उपन्यास डास्टावस्की, विक्टर-ह्यूगो या टॉलस्टॉय के उपन्यासों की भाँति शाश्वत मूल्यों की स्थापना नहीं कर पाता। अमेरिका में प्रतिवर्ष बेस्ट सेलर लिखे जाते हैं और पाँच वर्ष बाद उनको कोई याद नहीं रखता। रूस से हर साल स्टालिन पुरस्कार जीतने वाले उपन्यास आते हैं पर वे एक सुसंस्कृत अभिरुचि वाले पाठक को बचकाने लगते हैं। पूरे समकालीन उपन्यास का स्तर पिछली महान् कृतियों की तुलना में असन्तोषजनक है।

: ३ :

इस प्रसंग में समकालीन हिन्दी-उपन्यास की स्थिति पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। हिन्दी-उपन्यास के साहित्यिक स्तर का आरम्भ अगर प्रेमचन्द से मानें तो हिन्दी-उपन्यास अभी अपनी किशोरावस्था में ही है। विषय-वस्तु, कथा-शिल्प, भाषा सभी दृष्टियों से अंग्रेजी, फ्रांसीसी या रूसी उपन्यास के आगे हिन्दी-उपन्यास अभी अपरिपक्व ही है, यह हमें ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए। उनके उपन्यास-साहित्य के पीछे जितनी लम्बी पृष्ठभूमि है, जितनी श्रेष्ठ सफलताएँ हैं, बालजक, ज़ोला, डिकेन्स, तुर्गनेव, डास्टावस्की, टाल्सटाय, रोमा रोलाँ-जैसी महान् प्रतिभाओं के अवशिष्ट प्रभाव हैं, उन सबके कारण अपने संकट-काल में भी पाश्चात्य उपन्यास हिन्दी-उपन्यास से कहीं आगे है। इसीलिए कुछ लोगों का आशय, जो पाश्चात्य उपन्यास की ह्रासोन्मुखता पर विचार करने के उपरान्त बिना कोई कारण दिये भारतीय उपन्यास की वर्तमान या भावी श्रेष्ठता की उद्घोषणा करने लगते हैं, समझ में नहीं आता। कम-से-कम वर्तमान स्थिति में ऐसा अकारण अदम्य आशावाद असंगत-सा लगता है। किन्तु दूसरी ओर जो लोग इस स्थिति से विक्षुब्ध हैं या पूर्णतः निराशाग्रस्त हैं, उनका दृष्टिकोण भी दूसरे अतिरेक का परिचायक है। हिन्दी-उपन्यास को इस बात का श्रेय तो देना ही होगा कि लगभग चालीस वर्षों की अवधि में वह होड़ लगाकर आगे बढ़ा है और चार दशकों में उसने चार शताब्दियों की यात्रा पूरी करने का प्रयास किया है। केवल इन चार दशकों में हिन्दी अपनी सीमाओं और परिधियों के बावजूद अगर 'गोदान', 'गढ़ कुण्डार', 'चित्रलेखा', 'सुनीता', 'शेखर', 'संन्यासी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा'-जैसी कृतियाँ प्रस्तुत कर सकी है तो उसके प्रयास और उसकी सम्भावनाओं पर निराश होने या विक्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उन अभावों पर ध्यान दिया जाय जिनके कारण हिन्दी-उपन्यास की प्रौढ़ता पर सन्देह किया जाता है।

समकालीन हिन्दी-उपन्यासकार प्रायः यह भूल जाता है कि उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जो विकासशील रहा है, कई उपधाराओं में विभाजित होकर प्रवाह पाता रहा है। शिल्प की परिपक्वता के लिए आवश्यक है कि जिस माध्यम को उसने ग्रहण किया है

उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं, दोनों से वह पूर्णतया परिचित रहे। मानवीय सत्य के प्रसार, गति और गहराई को बाँधने के लिए पिछले महान् उपन्यासकारों ने जो विराट् शिल्प-रेखाएँ खींची थीं, वह उनसे बहुत-कुछ सीख सकता है। हिन्दी-उपन्यासकार जब तक विश्व-उपन्यास की महानतम सफलताओं का सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं बनता तब तक न तो वह उस परम्परा में अपनी कोई स्थिति ही बना सकता है और न उस परम्परा को आगे ही बढ़ा सकता है। हिन्दी में विश्व-उपन्यास से अभी तक जो-कुछ लिया गया है उसका बहुत-कुछ अंश अनुकरण अथवा अपहरण के रूप में ग्रहण किया गया है। किन्तु उन प्रणालियों और प्रवृत्तियों को पचाकर अपने ढंग से, अपनी सांस्कृतिक परम्परा में बँधी हुई अपनी जनता के मानवीय सत्य को, अपने पात्रों की आत्मोपलब्धि को हिन्दी-उपन्यासकार ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दे पाया है, ऐसा कह सकना कठिन है। उस दिशा में प्रयास अवश्य हुए हैं किन्तु उन प्रयासों में कहीं पर प्रसार की कमी है, कहीं पर गहनता की। मानव-अस्तित्व को उसकी पूर्णतम जटिलता, गहनता, रसमयता, अपराजेयता और श्रेष्ठता के साथ अभी तक हिन्दी-उपन्यास में प्रस्तुत नहीं किया जा सका। हमारे उपन्यासों का केन्द्र-मानव या तो स्वतः उपन्यासकार के रुग्ण, अस्वस्थ मन का प्रक्षेपण-मात्र बन रहा है, या उसकी दलगत राजनीति का अखबारी चित्र। मनुष्य को जब तक हम उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन-प्रक्रिया के विविध आयामों के साथ हिन्दी-उपन्यास में प्रतिष्ठित नहीं करते, उसके आत्मान्वेषण को पूर्ण प्रसार और उसकी आत्मोपलब्धि को पूरी गहराई तक उतरकर चित्रित नहीं करते तब तक हमारा उपन्यास प्रौढ़ नहीं हो सकता। इस प्रयास में उपन्यासकार को यह तत्त्व भी भली भाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि वैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, पत्रकार या राजनीतिक कमिस्सार इन सबका मार्ग उपन्यासकार का मार्ग नहीं है। मानवीय सत्य पर उसकी पकड़ इन सबसे गहरी होती है, उसकी सहानुभूति का विस्तार इन सबसे अधिक है, उसके पात्रों की आत्मोपलब्धि एक-मात्र कसौटी है जिस पर वह इन सब धातुओं को कस सकता है। साहित्य के अन्य रूपों की भाँति उपन्यास में भी लेखक का रागात्मक बोध सबसे महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य पर उसकी आस्था उसका सबसे बड़ा सम्बल है। पिछली शताब्दी के महान् उपन्यासों ने मनुष्य को एक जीवन-दृष्टि दी थी। आज भी उपन्यासकार को अपना वह दायित्व भली भाँति पहचानकर उसे अपने ढंग से पूरा करने की आवश्यकता है। जैसा कहा जा चुका है कि उसकी "पक्षधरता और संघर्ष-विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्त-शिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है···इस संकट-काल के उखड़े-पुखड़े हुए, अर्द्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जीकर उसके द्वारा की गई मूल्यों की खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है।"[1]

उपन्यास का यह दायित्व पहचान लेना

१. साहित्य की नई मर्यादा—'आलोचना', ११।

आवश्यक है, क्योंकि साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास इस दायित्व का निर्वाह अधिक सुविधापूर्वक कर सकता है। जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, उसके सम्मुख पाश्चात्य उपन्यासकारों की तुलना में कुछ सुविधाएँ भी हैं, कुछ असुविधाएँ भी। हिन्दी-उपन्यास का पाठकवर्ग अभी उतना प्रबुद्ध नहीं है। हिन्दी-उपन्यास का शिल्प अभी उतना प्रौढ़ नहीं है। उसकी भाषा अभी उतनी मँजी नहीं है। किन्तु हमारी प्रगति निराशाजनक नहीं है। 'चित्रलेखा', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'नदी के द्वीप' में हिन्दी-उपन्यास की भाषा को एक उदात्त लय और आभिजात्य संस्कार मिला है, जिसके द्वारा मानवीय आत्मान्वेषण की सूक्ष्मतम वृत्तियों को अभिव्यक्ति मिलने की सम्भावना दीख पड़ती है। 'बया का घोंसला और साँप', 'नई पौध', 'बहती गंगा' और 'मैला आँचल' [1] में उपन्यास की भाषा को नये लोक-संस्कार मिले हैं। प्रेमचन्द ने जो ढाँचा तैयार किया था आज वह रूप, रंग और दीप्ति से सम्पन्न हो चुका है, किन्तु मानव-सत्य को उसके समग्र परिवेश और बहुविध आयामों में अभिव्यक्त कर पाने की दिशा में हिन्दी-उपन्यास आगे नहीं बढ़ पाया है, क्योंकि जिस बिन्दु पर स्थित होकर हमने मनुष्य को समझने का प्रयास किया है, विश्व-उपन्यास की तुलना में वह बिन्दु काफी सतही है। यह बात प्रेमचन्द के बारे में भी उसी तरह लागू होती है यह स्वीकार करने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। एक विकासोन्मुख साहित्य तो सदा दुर्बलताओं को पहचानकर, उनका निराकरण करके आगे बढ़ता है, दुराग्रह तो सदा प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण का लक्षण होता है।

हिन्दी-उपन्यास प्रगति और विकास के पथ पर है। उसकी विकास-यात्रा का एक दौर समाप्त हो चुका है। इस नये दौर में वह अपने लक्ष्य को जितने उच्च स्तर पर स्थापित करेगा, उतनी ही प्रौढ़ कृतियाँ प्रस्तुत कर सकने में वह सफल हो सकेगा और विश्व-उपन्यास के क्षेत्र में उतना ही सम्मानजनक स्थान बना सकेगा।

---

१. बिहार के एक नये लेखक फणीश्वरनाथ 'रेणु' का प्रथम उपन्यास, जो अपने ढंग का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है।

देवराज उपाध्याय

प्रबन्ध-काव्य, रोमांस और उपन्यास

: १ :

वास्तव में देखा जाय तो किसी साहित्यिक रूप-विधान के विकास के मूल में किसी चिर परिचित पर नूतन दृष्टिकोण का समावेश ही होता है। एक विचारक के शब्द हैं :

"One may view the evolution of every literary genre as the exploitation of some pre-eminent technical principles, positive or negative, on the poetic value of all other available materials."

इसका भाव यही है कि तत्कालीन भावाभिव्यक्ति के जितने साधन उपलब्ध हैं उन्हीं की सहायता से कोई बहुत ही आवश्यक कार्य सम्पादन किया जाने लगता है, जो होता तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, पर आज तक जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था, तब साहित्य में एक नूतन रूप का आविष्कार होता है। उदाहरण के लिए काव्य के इस स्वरूप को लीजिए, जिसे अंग्रेजी में Ballad कहा जाता है। बैलेड भी एक तरह की कविता ही है, पर ऐसी कविता है, जिसमें कथा के अंश की प्रमुखता उभरने लगती है। पहले जहाँ काव्य या साहित्य का क्षेत्र उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की हरीतिमा से नेत्रों में आनन्द का अंजन लगाता चलता था वह आज इस कथा का सम्बल पाकर इन बाह्य उपकरणों से बहुत-कुछ स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगा। उसे यह भान होने लगा कि उसे गहराई से भी अधिक व्यापकत्व की आवश्यकता है; यदि छन्द का बन्धन हो भी तो ऐसा हो कि कथा को अधिक देर तक उलझाए न रख सके।—अतः इस वर्णनात्मक तत्त्व के प्रवेश-मात्र से ही रचना के कलेवर से अनेक अनुपयोगी अंश इस तरह मुड़ते गए जिस तरह विकास-क्रम में मानव-शरीर के बहुत-से काम में न आने वाले अंगों का ह्रास होता गया है।

काव्य के उपकरणों के स्थान पर एक सीधी-सादी तीर की गति से निरन्तर कुछ दूर तक चलकर समाप्त हो जाने वाली कथा की अवतारणा के कारण व्यापकता तथा विस्तार ने घनत्व का स्थान लिया और जटिलता पर सरलता का आदर बढ़ चला। पर यह अनिवार्य नहीं कि हर कथा का स्वरूप सीधा-सादा ही हो। वह छोटे-छोटे और सीधे-सादे दृश्यों के बदले विराटता और जटिलता का दृश्य उपस्थित करने लगती है, कथा में भाग लेने वाले पात्रों की संख्या में वृद्धि होने लगती है और एक साथ अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती हैं। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के सामूहिक आघात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप कथा-साहित्य के उस रूप की उत्पत्ति

होती है, जिसे हम रोमांस कहते हैं।

: २ :

इस रोमांस में हम एक विचित्र बात पाते हैं। कथा का विस्तार तो रहता ही है, पर इसमें कवित्वपूर्ण भावात्मक वातावरण भी साथ-साथ घना होता जाता है। बैलेड्स के कथात्मक तत्त्व में अपनी सत्ता की स्थापना के लिए कथेतर तत्त्व को अथवा ऐसे तत्त्व को जिनमें उसे सहायता देने का साक्षात् तत्परत्व नहीं है, या जो पहले से कथा-भिन्न तत्त्वों की सेवा करते आए हैं, यथासाध्य पृथक् ही रखने की प्रवृत्ति रहती है। यह स्वाभाविक भी है। पर प्रभुता की दृढ़ स्थापना हो जाने पर नीति की दूरदर्शिता ही माँग करने लगती है कि प्रजावर्ग के वे दल जो आज तक शासन-संचालन से पृथक् रखे गए हैं उन्हें भी क्रमशः हाथ बटाने के लिए नियन्त्रित किया जाय। कथा जो बैलेड के रूप में काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तो उसने काव्य-तत्पर विपक्षी तत्त्वों को निकालना शुरू किया। पर बाद में अपनी स्थिति दृढ़ होने पर उसने इस निराकरण की नीति में परिवर्तन करके विरोधी तत्त्वों को ही अपना बनाकर उन्हें ऊँचे-ऊँचे पदों पर स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। उदाहरणार्थ जब रोमांसों की प्रगति हुई, कथावस्तु की जटिलता बढ़ने लगी, उसके व्यापकत्व और विस्तार को सँभालने के लिए बहुसंख्यक पात्रों का समावेश होने लगा तो जिनकी सहायता लेकर कथा ललकारती हुई आगे बढ़ रही थी, उन तत्त्वों की शक्ति की सीमा भी दीख पड़ने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कहीं से कुछ और सहायता मिले बिना लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा हो रही है। इसके लिए रोमांसों का ध्यान अपने पूर्ववर्ती Troubadour नामक कवियों और उनके प्रयोगों की ओर गया। यह देखा गया कि कवि अपनी कविताओं में वीरों के अस्त्र-शस्त्रों, उनकी अलंकृत साज-सज्जा, रण-क्षेत्र प्रमाण, युद्ध और श्मशान-यात्रा इत्यादि की विस्तृत विवृति के द्वारा पाठकों के ऐन्द्रिय कल्पनात्मक भावों को अपूर्व तृप्ति प्रदान करने में समर्थ होता है। क्यों नहीं इसी वर्णनात्मक साधन को थोड़ा मनोनुकूल-रूप में परिवर्तित करके अपने उद्देश्य की सिद्धि का साधन बनाया जाय? बस क्या था, यही दूसरे से उधार ली हुई वर्णनात्मकता अपने नये रूप में आकर रोमांस की सेवा में नियोजित हो गई। इस वर्णनात्मकता ने पहला काम यह किया कि कथा की गति को मन्द कर दिया। कथा जो तीर की तरह निकलकर आगे बढ़ती थी उसमें ठहराव आ गया। इसीलिए आप देखेंगे कि रोमांस के पात्र तथा उनकी कथा के विषय बहुत-कुछ सीमित हैं। नायक व्यक्ति नहीं है, पर एक उच्चकुल समुद्भूत नायक है। उसका व्यवहार, सदाचार, आचरण इत्यादि एक साँचे में ढला हुआ है। वह राजा है, धर्मात्मा है, अपने भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित वीर (Knight) है; यदि नायिका हुई तो वह सुन्दरता की देवी होगी और अपनी रक्षा के लिए लोगों के हृदय में Chivalry के भावों को जगाने की उसमें शक्ति होगी अर्थात् पात्र टाइप होंगे और व्यक्ति नहीं। उनके कार्य-कलाप तथा उनकी प्रतिक्रिया के ढंग भी टिपिकल होंगे। वे सदा किसी महत्त्व-पूर्ण वस्तु की खोज में निरत होंगे। प्रतिद्वन्द्विता (Holy grail) उनके जीवन का अंग होगा, सदा सामने एक उच्च आदर्श की लौ जगमगाती और उन्हें प्रेरित करती रहेगी, विपन्नों, विशेषतः निरीह नारियों का उद्धार उनके जीवन का व्रत होगा, प्रतिज्ञा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल होगा। प्रेम के लिए कठिन परीक्षाएँ, क्रीड़ा-समारोह, विवाह की धूम-धाम,

रण-प्रयाण, श्मशान-यात्रा के दृश्य, राक्षसों से युद्ध, धार्मिक युद्ध इत्यादि का वर्णन अधिकता से होगा; तिस पर भी इन सबके बीच एक सुन्दरी कन्या का हाथ अवश्य होगा। ये सब ही एक सफल रोमांस के उपकरण हैं और इन्हीं उपकरणों की धूम-धाम में रोमांस ने दूसरों के घर से लाई हुई वर्णनात्मकता को ला बिठाया।

यहाँ तक तो कोई विशेष विचित्र बात नहीं हुई। पर रोमांस के रचयिताओं ने इनको नियोजित करने में जिस कौशल से काम लिया वह श्लाघ्य और उनकी कलात्मक सूझ का परिचायक अवश्य है। कथा-प्रसंग के मध्य में पड़े हुए काव्यात्मक वर्णन कथा की गति को कुछ देर तक रोक ही देकर नहीं रह जाते, वे कुछ और करते हैं। यहाँ याद रखना चाहिए कि रोमांस रूपी वस्त्र के निर्माण में कितने ही तन्तुओं का ताना-बाना बना रहता है। इसमें एक तन्तु (कह लीजिए एक कथा) की प्रगति रुक जाती है, पर अन्य तन्तु अपने कार्य में क्रियाशील रहते ही हैं। और इस रोक-थाम का प्रभाव पूरी रचना पर इस रूप में पड़ता है कि पूरी सृजित जीवनानुभूति में एक बड़ी सूक्ष्म, प्रभविष्णु पर आह्लादक वक्रता आ जाती है। ऐसा मालूम होने लगता है कि घटनाओं की प्रगति रुक भले ही गई हो पर सम्भव है वह नजरों से ओझल हो पृष्ठ-भूमि में चली गई हो, आस-पास ही कहीं उसकी छिपी धारा बहती हो और कभी भी आकस्मिक रूप में हमारे सामने मानो शून्य से टपककर आश्चर्य में डाल दे सकती हो। सतही ज्यामिति Solid Geometry मानों के क्षेत्र में घुस आई हो। दो आयामों पर अपनी तूलिका से चित्र खींचने वाला कलाकार अचानक तीसरे आयाम को भी अपनी सीमा में लेने लगा हो।

रोमांस-लेखकों ने इस काव्यात्मक वर्णन का जिस रूप में उपयोग किया है और कौशल का परिचय दिया है उसे देखकर आज बीस-पचीस वर्ष पूर्व देखे गए (नहीं, सुने गए) दृश्य की याद आ जाती है। हमारे गाँव में अथवा आस-पास के गाँवों में उत्सव-समारोहों के अवसर पर संगीतज्ञों की एक छोटी मण्डली आया करती थी और अपने संगीत-कौशल का प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन करती थी। उनमें एक उस्ताद थे जिनका न तो गला ही मधुर था और न उन्हें कला में ही पारंगतता प्राप्त थी। हाँ, उन्हें बहुत-से कवित्त, सवैये और दोहे याद थे। किसी संगीत के बीच में, जिस समय संगीत अपना रूप खड़ा ही कर रहा हो, उसमें प्राणवत्ता आ ही रही हो, वह कवित्तों और सवैयों के उद्धरण से संगीत की गति को रोक देते थे। मस्तिष्क में संगीत के कारण एक तनाव की सृष्टि हो गई है, हम उसे सम पर आकर ताल गिरते देखने के लिए उत्सुक हैं तब गति रुक गई, कवित्त और सवैयों का ताँता कुछ देर तक चलता रहा। बाद में कवित्त की समाप्ति पर यथावसर रुकी पर छिपकर चलती रहने वाली संगीत की धारा को वह इस कौशल से पकड़ते थे कि सारी रिक्तता भर ही नहीं जाती थी पर मानो वही रिक्तता सबसे मूल्यवान् बन जाती थी और उसका इस कौशल से भरा जाना तो सर्वस्व ही बन जाता था। एक उदाहरण लीजिए। उन्होंने गाना प्रारम्भ किया : का नैना झुमकावे ठगनियाँ, का नैना झुमकावे। कुछ देर तक गाने के बाद संगीत का स्वरूप खड़ा हो जायगा और उसकी स्वाभाविक परिणति दीखने लगेगी। तब तक कवित्तों का पारायण प्रारम्भ होगा। ध्यान रहे कि तब तक अन्य वाद्य-यन्त्र अपना काम करते रहेंगे; तबले पर थाप पड़ती रहेगी, हारमोनियम पर अंगुलियाँ नाचती रहेंगी। कवित्त शुरू होता है वह भी एक विचित्र लहजे में :

लागत ही पावस के कामिनी कलोल हेतु, कारी घटा देख चहुँओर भटकतु हैं।
बीथिन में मोर शोर चातक की टेर सुनि, बड़े-बड़े ध्यानिन के ध्यान उचटतु हैं॥
ऐसी ऋतु माँहि पिया जाय के विदेश बसो, दुखी अबलानि हृदय काम भयकतु हैं।
ज्ञानी, विज्ञानी और ध्यानिन को कौन कहै, सावन की घटा देख जोगी जटा पटकतु हैं॥

अब इस 'पटकतु हैं' को पटककर वह इस कौशल से 'का नैना झुमकावे' को वहीं पकड़ेंगे जहाँ छोड़ा था कि सारा वातावरण ही चमत्कृत हो जाय। हमारे रोमांसकार के रचयिता यही करते थे। जिस तरह कवित्त के कारण संगीत में वक्रता आ जाती थी जो कुशलता से सीधी होकर वातावरण को भव्यतर और समृद्धतर कर देती थी, उसी तरह इन काव्यात्मक वर्णनों ने प्रवेश करके प्रतिभा के सहारे रोमांसों को वैचित्र्यपूर्ण बना दिया था। सर्प-गति का निरीक्षण कीजिए। वह कुछ आगे बढ़ता है, फिर कुछ पीछे मुड़ता है, इसी आकर्षण-प्रत्याकर्षण से गति पाता हुआ अग्रसर होता है और एक ऐसी लहरीली गति की सृष्टि करता है जो अन्यथा कभी भी सम्भव न थी। रोमांसकारों ने इसी कला का विकास किया था। उन्होंने विरोधी शक्तियों से ही शक्ति प्राप्त करके अपनी प्रतिभा तथा रचना-नैपुण्य का परिचय दिया था।

: ३ :

साहित्यक क्षेत्र में रोमांस के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओं और जीवन की वास्तविकता में क्या सम्बन्ध था? कथात्मक साहित्य में वर्णित जीवन और प्रकृति के क्षेत्र में ईश्वर-निर्मित जीवन में चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं और उनके आधार पर कथाओं का वर्गीकरण हो सकता है—असम्भव, दुर्लभ, सम्भव, सुलभ। इनके अंग्रेजी प्रतिशब्द होंगे—Impossible, improbable, possible and probable. आज की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास उत्पन्न हुआ है रोमांस से ही, पर अपनी पृथक् सत्ता की घोषणा के लिए और रोमांस तथा अपने बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचने के लिए यही कहता है कि जहाँ रोमांसकार प्रथम दो प्रकार के सम्बन्धों को उपजीव्य तथा आधार के रूप में ग्रहण करते थे वहाँ हमने उन्हें सर्वथा असंगत समझकर त्याग दिया है। हमारा सम्बन्ध जीवन और साहित्य के तृतीय और चतुर्थ प्रकार से ही है। इसी बात को क्लारारीव ने अपनी पुस्तक Progress of Romance में इन शब्दों में व्यक्त किया है:

The novel is a picture of real life and manner and of times, in which it is written. The Romance in lofty and elevated language, describes which never happened nor is likely to happen. The novel gives a familiar relation of such things, as pass every day before our eyes, such as may happen to our friends, or to ourselves, and the perfection of it is to present every scene in so easy and natural a manner and to make them appear so probable as to deceive us into persuasion (at least while we are reading) that all is real until we are affected by joys or distresses of persons in the story as if they were our own.

अतः हम यह कह सकते हैं कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण, जीवन की सत्यता के प्रति

नूतन परिवर्तित दृष्टिकोण की सवारी रोमांस के रथ पर चढ़कर जीवन के पथ पर निकली तो धीरे-धीरे परिस्थितियों के बीच में पड़कर सारा दृश्य ही बदल गया अथवा यों कहिए कि परिवर्तित होने की विवशता उत्पन्न हो गई। रथ की सामग्री वही थी, पहिये वैसे ही थे, अश्व भी वही, बागडोर भी वही, पर वाहक बदल गया था, उसके विचार दूसरे थे, वह किसी दूसरे ही उद्देश्य से यात्रा के लिए निकला था, अतः कथा-साहित्य के वातावरण में काया कल्प का दृश्य उपस्थित हो गया।

: ४ :

१८वीं शताब्दी के पश्चात् से लेकर आज तक औद्योगिक क्रान्ति और अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति से प्रेरणा ग्रहण करती हुई हमारी सभ्यता ने जो रूप धारण किया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता है 'छिन्न-भिन्नता,' अर्थात् बाह्य रूप से साधन-सम्पन्न होकर जंगलों के छिटपुटे जीवन का परित्याग करके संगठित होकर नगर में लोग भले ही चले आए हों पर उनका हृदय शतधा टुकड़ों में विभक्त होता गया है। ये क्षणिक लहरें और बुदबुदों की पकड़ में आते-आते फिसल पड़ने वाले बुदबुदों की छाया हमारे मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर काटती रहती है और हमारी कल्पना और प्रतिभा को ललकारती है कि शक्ति हो तो मुझ पर आजमाकर देखो। है साहस हमें कलात्मक और दर्शनीय रूप में स्थित करने का ?

इसी ललकार के उत्तर में हमारे आधुनिक उपन्यासों की सृष्टि हुई है और इस ललकार ने अपने रूप को इतनी शीघ्रता से बदला है कि कलाकार को साँस लेने की फ़ुरसत नहीं रही है। कलाकार की प्रतिभा को पहले भी इस तरह के परीक्षण का सामना नहीं करना पड़ा था सो बात नहीं, पर इस तरह पद-पद पर आगे बढ़ते रहने वाली और अपने भेष को परिवर्तित करने वाली will o' the wisp से पाला नहीं पड़ा था। कला बाह्य वस्तु को अपनी आँच में गलाकर सार्थक रूप प्रदान करती ही है। तब तक वह दूसरा रूप धारण करके कलाकार की प्रतिभा को चुनौती दे जाती है। **जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।** याद रखना चाहिए कि आज का उपन्यास उसकी उपज है, जो आज शायद प्रथम बार पूर्णरूपेण खण्ड-खण्ड हो गया है, खील-खील होकर बिखर गया है, तिल-तण्डुल-न्याय का सच्चा उदाहरण उपस्थित कर रहा है। आज रूपक क्यों नहीं लिखे जाते ? महाकाव्य क्यों नहीं लिखे जाते ? उपन्यासों और गीति-काव्यों का ही बोल-बाला क्यों है ? इसीलिए कि उपन्यास के अतिरिक्त जितने भी साहित्यिक विधान हैं उनका निवेदन एक ऐसी जनता के प्रति होता है जो कलाकार की भावनाओं, विचारों, मान्यताओं तथा आस्थाओं से सहानुभूति रखती है, दोनों के तन्तु, जिन्हें लेकर उनके मानस-पट का निर्माण हुआ है, एक ही प्रकार के होते हैं; वे दोनों एक-दूसरे की भाषा को समझते हैं। रूपकों का निर्माण तो तभी हो सकता है जब कि दर्शन और नाटककार दोनों एक ही मानसिक और आध्यात्मिक जगत् के निवासी हों, दोनों की मानसिक पृष्ठभूमि में समानता हो। नाटकों के इतिहास को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि नाट्य-कला के चरमोत्कर्ष का युग वही रहा है जब नाटककार और दर्शनवर्ग में वही सम्बन्ध था जो उपासना के लिए आए भक्तों और पुरोहित में होता है। भक्त-मण्डली और प्रार्थना के पुरोहित में एक ही तरह के भाव-प्रवाह का संचरण होता रहता है। आज का लेखक जब कुछ लिखने के लिए अग्रसर होता है तो जो बात सबसे प्रमुख रूप में उसके सामने

आती है वह यह कि उसको एक ऐसी जनता के प्रति आत्मनिवेदन नहीं करना है जो अलग-अलग कुरसियों पर बैठी रहकर भी एक हो भाव-तरंग पर बह रही हो। नहीं, उसे एक ऐसे जन-समूह का सामना करना है जो पास-पास रहकर भी एक-दूसरे का नाम तक नहीं जानते, एक-दूसरे को सशंक दृष्टि से देखते हैं और बिना परिचय के एक-दूसरे से वार्तालाप भी करना पसन्द नहीं करेंगे। सचमुच मानव-इतिहास ने अभी तक ऐसा युग नहीं देखा था जिसमें मानवता बाह्य दृष्टि से तो इतनी पास आ गई हो, पर उसका आध्यात्म, उसका मानस, उसका हृदय इस तरह टूट-टूटकर बिखर गया हो। मानवता के हृदय को एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाला तार टूट गया हो और भूमि पर बिखरे हुए मनके शून्य में पड़े हुए अपने को नष्ट करने पर तुले हुए हों।

युग की इस वैयक्तिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व उपन्यास कर रहा है। यह एक अराजक युग की उपज है, अतः यह परम्परा-प्राप्त उपादानों को ही लेकर चलता है; पर अराजकता का दृश्य उपस्थित हो ही जाता है। यही कारण है कि इसमें इतना लचीलापन है, इस पर किसी तरह का बंधन नहीं। यह कोई भी रूप किसी समय धारण कर सकता है। इसमें एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की कहानी रह सकती है, या एक घण्टे की या एक मिनट की, मदोन्मत्त साहसिकों की कथा रह सकती है, या पूरा समाज भी इसकी परिधि में आ सकता है, या कथा का नितान्त अभाव भी हो तो कोई परवाह नहीं, जीवित मनुष्यों की कथा हो सकती है, कब्र से उठकर यहाँ मनुष्य आ सकते हैं, भड़कीले वर्णन हो सकते हैं, रेखाचित्र हो सकते हैं या केवल अर्द्ध-स्फुट कथनों के द्वारा पाठकों की अनुमान-वृत्ति या अर्थापत्ति के सहारे सब-कुछ छोड़ा जा सकता है। सर्वसमर्थ, सर्वदा ईश्वर-समकक्ष और झरोखे पर बैठकर सबका मुजरा लेने वाले लेखक की शैली अपनाई जा सकती है। उत्तम पुरुषात्मक 'मैं' वाली शैली, पत्रात्मक शैली या सबके विचित्र सम्मिश्रण से भी काम लिया जा सकता है। आज भावात्मक जगत् में अराजकता है तो उसके प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यिक जगत् में सुराज की व्यवस्था कहाँ से आ सकती है?

: ५ :

इस तरह की अराजकता के वातावरण का सामना करना हो और अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से ही इस बाह्याघात के प्रति प्रतिक्रियाशील होने की यदि मनुष्य के अन्दर आन्तरिक प्रेरणा हो तो उसके सामने कुछ ही ऐसे मार्ग खुले रह जाते हैं, जिन्हें वह ग्रहण कर सकता है। वह पलायनवादी हो सकता है अथवा डटकर परिस्थितियों का सामना करने के लिए ललकारकर, सामने आकर परिस्थितियों को मोड़ने का प्रयत्न करता है। यदि उसने पलायनवाद का मार्ग पकड़ा तो उसके दो रूप दृष्टिगोचर होंगे। प्रथमतः वह साहित्य के वास्तविक उद्देश्य और तत्त्व को छोड़कर शिल्पकार हो जायगा, शैली और रचना की विचित्र कारीगरी के सहारे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करेगा। यदि ऐसा नहीं हो सका तो वह सारे वस्तुनिष्ठ जगत् का परित्याग करके आत्मनिष्ठ जगत् के अञ्चल में मुँह छिपा लेगा। अर्थात् वह सारी दुनिया की कथा न कहकर अपनी ही कथा कहने लग जायगा और इस कथा-साहित्य में आत्मचरितात्मकता की वृद्धि होगी। तीसरी सम्भावना इस बात की है कि वह युग की प्रचलित अराजकता, उच्छृङ्खलता, सस्ती इन्द्रियपरायणता, हवा के रुख पर हल्के ढंग से मुड़ पड़ने वाली ढुलमुल-यक़ीनी पर अपना आत्म-समर्पण कर दे और एक गुलाम की तरह हाँ-में-हाँ

मिलाना ही अपना कर्तव्य समझ ले। दिन के मध्याह्न-काल में भी यदि युग-रूपी स्वामी कहता है कि सन्ध्या हो गई तो वह तारे भी उगा देगा। यदि वह पलायनवादी न होकर यथार्थवादी हुआ और उसके अन्दर हार्दिक और चारित्रिक दृढ़ता हुई तो उसकी लेखनी व्याख्यात्मक हो जायगी। उसे पद-पद पर अपनी बातों का स्पष्टीकरण करते चलना पड़ेगा, बात-बात पर अपनी सफाई देनी होगी, अपने को justify करना पड़ेगा। पहले उसकी रचना में, उसका विश्वास था, सारी दुनिया है। केवल संकेत-मात्र से उसके हृदय के सारे संस्कार झंकृत हो सकते हैं। पर आज उससे इस विश्वास का सम्बल छिन गया है। वह जानता है कि उसकी रचना को किसी का सहारा प्राप्त नहीं। अतः उसे अपना सहारा देना ही होगा, अपनी बात मनवानी ही होगी, फुसलाकर, पुचकारकर, नहीं तो गले पर रद्दा देकर भी। यही कारण है कि आजकल औपन्यासिकों का एक ऐसा दल है जिसने कथा-भाग को अपने यहाँ से निष्कासित कर दिया है। यदि छोटी-सी कथा है भी तो उसे इतना पीटा गया है, इतना धुना गया है कि वह घटना न रहकर मानसिक जगत् की लहर-मात्र रह गई है। जेम्स ज्वायस, मार्सेल प्रू, वर्जिनिया वुल्फ़ इत्यादि इसी श्रेणी में आयेंगे। हिन्दी में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास इस बात के प्रमाण हैं कि व्याख्यात्मकता ने कथा में कितना स्थान बना लिया है।

अब जिसे हमने पलायनवादी कथाकार कहा है उसके बारे में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। क्या कारण है कि अधिकांश कथाकारों में शिल्प का अंश अधिक उभरा हुआ है। उनमें और कुछ न हो पर प्रयोगों की नूतनता अवश्य है; उनमें लोगों की तमाशबीन वाली प्रवृत्ति से लाभ उठाने का दृढ़ आग्रह है। कारण यही है कि कथाकार की प्रतिभा अपने प्रज्ञाचक्षु से देखती है कि आज की दुनिया अन्दर से बँटी हुई भले ही हो पर बाहर से एक है, उसके भाव-जगत् और अध्यात्म-जगत् के टुकड़े अवश्य उड़ गए हों पर ऐन्द्रिय जगत् बरकरार है। वह समुद्र की जल-राशि की शाश्वतता को भले ही न देख सके पर वह लहरों के कलरव-नर्तन का मजा खूब ले सकती है। वह साहित्य की आत्मा को भले ही न देख सके पर नाम-रूपात्मक जगत् को खूब पहचान सकती है। पहले आलोचना का सिद्धान्त-वाक्य था 'का भाषा, का संस्किरत, भाव चाहिये साँच,' पर अब अवस्था बदल गई है। अब भाव के महत्त्व के दिन लद गए। भाषा अथवा शिल्प का महत्त्व बढ़ गया है। यदि शिल्पकारिता के अंश प्रौढ़ हैं तो रचना स्वीकृत हो जायगी, आदरणीय होगी। यही इस युग का नारा है 'कला-कला के लिए' जिसका महत्त्व आज भी किसी तरह स्वीकरणीय है ही। आज की दुनिया के पास किसी रचना के मूल्याङ्कन के लिए एक कसौटी है अर्थात् टेकनीकल-स्टेण्डर्ड। वह इसी भाषा को समझती है। अतः साहित्यकार भी उसे टेकनीक की उत्तमता ही प्रदान करेगा। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप' की चाहे किसी ने कुछ भी निन्दा की हो पर उसकी टेकनीक के तो सभी कायल हैं।

कथा-साहित्य में आत्मनिरीक्षणता का प्राबल्य इस नूतन युग की अराजकता की देन है। हिन्दी प्रेमचन्दोत्तर-युग के कथा-साहित्य का बृहदंश आत्मनिरीक्षणात्मक हो गया है। प्रेमचन्द स्वयं अपनी अन्तिम कृति 'मंगल-सूत्र' में आत्मनिरीक्षक हो गए थे। जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत', इलाचन्द्र की 'पर्दे की रानी', उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा', 'अंचल' का 'मरु-प्रदीप' सब इसी शैली में हैं। यूरोपीय कथा-साहित्य में

वही बात देखने में आती है। डी० एच० लारेंस, मर्सिल प्रू, जेम्म ज्वायस, आन्द्रे जीद इत्यादि में यही आत्म-निरीक्षणात्मक पद्धति प्रधान हो उठी है। क्या इन सबको केवल संयोग कहकर टाल दिया जाय। इसका एक-मात्र कारण यही है कि बाह्य संसार में किसी एक आधार को न पाकर उपन्यासकार अपने में लीन होकर देखना चाहता है कि कहीं उसके अन्दर ही शायद वह आधार-शिला प्राप्त हो सके।

अजितकुमार

उपन्यास की विकास-यात्रा : रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक

: १ :

यूरोपीय कथा-साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास बड़ा रोचक है। चौदहवीं शती तक 'रोमांस' उस आदर्शात्मक पद्यकथा को कहते थे जिसमें प्रेम अथवा रोमांच (adventure) का वर्णन होता था। ये कृतियाँ या तो फ्रेंच आदि रोमांस-भाषाओं से अनूदित होती थीं या 'क्लासिक' तथा अन्य ऐसे ही स्रोतों से ली जाती थीं।

दूसरी ओर, वास्तविक जीवन की दुरूहताओं और विषमताओं के आधार पर लिखी गई गद्य-कथाओं को इस युग में 'नोवास' कहा गया। बोकैसियो तथा उनके समकालीनों ने इन्हें 'नॉवेला' कहा। वास्तविक कथावस्तु को लेकर ऐसी अनेक गल्पें चौदहवीं शती में इंग्लैण्ड में लिखी गईं जिन्हें 'टेल्स' कहा जाता था। चॉसर ने 'टेल्स' के अन्तर्गत अपने समय में प्रचलित विविध पद्य-कथाओं को भी लिया है।

बोकैसियो के दो शताब्दी बाद तक 'नावेले' की रचना पर्याप्त संख्या में होती रही। एलिजावेथ-काल के अंग्रेजी-साहित्य में उन कथाओं को 'नावेल' नाम दिया गया, जो एक तो अनुवाद या अनुकरण समझी जाती थीं और दूसरे जिनका घटना-चक्र तथा निरूपण 'नया' समझा जाता था। फिर भी एलिजावेथकालीन कई साहित्यकार 'नावेल' के स्थान पर 'हिस्ट्री' शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते थे जैसा शेक्सपीयर के 'हैमलेट' और 'रोमियो-जूलियट' आदि नाटकों के शीर्षकों और रिचर्डसन तथा फ़ील्डिंग के उपन्यासों से प्रकट है। इस प्रकृति से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन दिनों 'वास्तविकता' के प्रति एक ऐसी—कल्पित ही सही—निष्ठा का पालन किया जाता था कि 'कथा' को 'इतिहास' का नाम लेखक सहर्ष दे देते थे।

जब प्रिन्टिंग प्रेस का आविष्कार हुआ तो 'रोमांस' शब्द का प्रचलन लगभग बिलकुल समाप्त हो गया, किन्तु अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में जब इनका पुनः उदय हुआ तो 'उपन्यास' और 'रोमांस' का अन्तर स्पष्ट करते हुए क्लेरा रीव ने लिखा : "उपन्यास यथार्थ जीवन और व्यवहार का तथा उस काल का जिसमें वह लिखा गया है, एक चित्र है। रोमांस उदात्त और उन्नत भाषा में उस सबका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ है और न जिसके घटित होने की सम्भावना है। उपन्यास उन परिचित वस्तुओं का वर्णन करता है जो प्रतिदिन हमारे सम्मुख होती रहती हैं, जो हमारे या मित्रों के अनुभव की हैं। उपन्यास की पूर्णता इसीमें है कि वह प्रत्येक दृश्य का अंकन ऐसे सरल और स्वाभाविक रूप में करे कि वह पूर्णतः सम्भाव्य हो जाय

और हमें (कम-से-कम उपन्यास पढ़ते समय) यथार्थ की प्रतीति या भ्रम होने लगे। हम सोचने लगें कि उपन्यास के पात्रों के सुख-दुःख मानो हमारे सुख-दुःख हैं।"[1]

क्लेरा रीव के विभाजन को और अधिक स्पष्ट करते हुए क्रॉस ने लिखा है कि 'वास्तविक जीवन का यथार्थवादी विधि से अंकन करने वाला गद्य-कथा-साहित्य सामान्य रूप से आलोचना एवं अन्य चर्चाओं में 'उपन्यास' कहा जाता है और जीवन का अयथार्थ एवं अतिरंजित विधि से अंकन करने वाला, जीवन को अद्भुत, असम्भाव्य या असम्भव रोमांचों के फलक पर चित्रित करने वाला, मानव-प्रकृति में निहित गुणों-अवगुणों में आदर्श की स्थापना करने वाला गद्य-कथा-साहित्य 'रोमांस' कहा जाता है।"[2]

प्रायः चालीस वर्ष बाद लिखी गई एक पुस्तिका में हम उपन्यास और उसके यथार्थवादी स्वरूप की कहीं अधिक संगत व्याख्या पाते हैं। राल्फ़ फाक्स लिखते हैं—"उपन्यास गद्य में लिखी गई कथा-मात्र नहीं है; वह मनुष्य के जीवन का गद्य है। उपन्यास वह प्रथम कलारूप है जो समग्र मनुष्य को समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।...यथार्थ की एक दूसरी ही दृष्टि उपन्यास प्रस्तुत करता है। काव्य, नाटक, सिनेमा, चित्रकला या संगीत द्वारा प्रस्तुत यथार्थ से निश्चय ही उपन्यास का यथार्थ भिन्न है। ये सब यथार्थ के उन पहलुओं को भले ही अभिव्यक्त कर सकें जो उपन्यास की पहुँच के बाहर हैं, परन्तु किसी एक पुरुष, स्त्री या बच्चे का सम्पूर्ण जीवन भली प्रकार अंकित कर सकने में इनमें से कोई भी समर्थ नहीं है।"[3]

उपन्यासों के ऐतिहासिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए राल्फ़ फ़ॉक्स ने बताया है कि उपन्यास बूर्ज़ुवा संस्कृति की विशेष रचना ही नहीं, उसकी महानतम रचना भी है। रेनेसाँ के पूर्व उपन्यास अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में मिलता है और रेनेसाँ के बाद ही आधुनिक बूर्ज़ुवा सभ्यता उदित होती है और उपान्यस-कला को निरन्तर विकसित करती है। उपन्यास ने भी प्रत्येक अन्य कलारूप की भाँति मानव-चेतना को विशद और गम्भीर बनाया है। उसके प्रति हमारे मन में सहज मोह है। इसलिए जब हम देखते हैं कि महाकाव्यों का अन्त प्राचीन सभ्यता के अन्त के साथ हो गया तो यह शंका होती है कि क्या हमारी सभ्यता के ह्रास के साथ उपन्यासों का भी ह्रास हो जायगा?

इस शंका को निर्मूल तभी माना जा सकता है जब प्राचीन सभ्यता के प्रसंग में आधुनिक सभ्यता को और महाकाव्य के प्रसंग में उपन्यास को देखा जाय और दोनों की परस्पर तुलना द्वारा आज की उन संक्रमणशील प्रवृत्तियों को पहचाना जाय जो उपन्यास को अधिकाधिक जीवन्त और क्रान्तिकारी रूप दे रही हैं।

उपन्यास को आधुनिक समाज का महाकाव्य कहा जाता है। प्राचीन महाकाव्यों के साथ उपन्यास की तुलना करने पर हम देखते हैं कि महाकाव्य अपने समाज की, एक विशेष रूप में, इतनी पूर्ण अभिव्यक्ति थे कि उपन्यास वैसे कदाचित् कभी न हो सकेंगे। महाकाव्य के चरित्रों में और उनके समाज में एक सन्तुलन था। 'इलियड' चरित्रों से अधिक एक समाज का चित्र है—एक समाज का जिसमें व्यक्ति अपने को समूह अथवा प्रकृति का विरोधी नहीं पाता। वह समाज

१. क्लेरा रीव—'द प्राग्रेस ऑव रोमांस' (१७८५)
२. द्रष्टव्य : क्रॉस—डिवेलपमेण्ट ऑव इंग्लिश नॉवेल (लिखित—१८९९)
३. राल्फ फाक्स—द नॉवेल एण्ड द पीपुल (१९३७)—पृष्ठ २०

का अंग है, प्रकृति का भी अंग जैसा है। वह प्रकृति से प्रायः अनुशासित है, किन्तु कभी भी वह प्रकृति से युद्ध नहीं छेड़ता, प्रकृति का स्वामी नहीं बनता। इन महाकाव्यों के चरित्र भी विशिष्ट नहीं, टाइप-मात्र हैं—बुद्धि, साहस, स्वामिभक्ति के टाइप।

दूसरी ओर, किसी एक पुरुष या स्त्री के सुख-दुःख की—निजी जीवन की—कथा कहने वाली रचनाओं का उदय उस समय हुआ है जब ग्रीस, रोम और केल्टिक जातियों के प्राचीन सामाजिक जीवन का विघटन हो गया था। अब कथाओं में अधिक व्यापक संसार का—अपने में पूर्ण समाज का नहीं—चित्र खींचा जाने लगा है। समाज और प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्षरत व्यक्ति ही उपन्यास की कथावस्तु है। फलतः 'उपन्यास' ऐसे ही समाज में पल्लवित हो सकता है जिसमें समाज और व्यक्ति के बीच का सन्तुलन नष्ट हो चुका है। यह समाज पूँजीवादी समाज है।

इन स्थापनाओं को स्पष्ट करने के लिए राल्फ फ़ाक्स, प्राचीन काल के एक महाकाव्य 'ऑडेसी' और अठारहवीं शती के एक उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' को लेकर उनके परस्पर पार्थक्य को दिखाते हैं। 'ऑडेसी' का नायक ऑडीसस ऐसे समाज का प्राणी है जिसके पीछे कोई इतिहास नहीं है, जिसमें पुराण-कथा और यथार्थ में कोई अन्तर नहीं किया जाता। यह सृष्टि का शैशव-काल है और मनुष्य देवताओं से प्रगाढ़ रूप में परिचित है। समुद्र-यात्रा करते हुए ऑडीसस् को ज्ञात है कि उसका भाग्य देवताओं के हाथ में है—तूफ़ान देवताओं का 'क्रोध' है, जहाज का टूटना मार्ग में देवताओं द्वारा ली गई एक अन्य 'परीक्षा' है।

'रॉबिन्सन क्रूसो' के साथ ऐसा कुछ भी नहीं है। वह ह्रासोन्मुख सामन्तवादी व्यवस्था और विकासोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था के संगम-स्थल पर खड़ा है, इसलिए क्रूसो समस्त अतीत की अवहेलना का नया इतिहास बनाने को अग्रसर होता है। क्रूसो वह नया इन्सान है जो अपने शत्रु—प्रकृति—को जीतने चल पड़ता है। क्रूसो का संसार एक यथार्थ संसार है जिसका वर्णन भौतिक वस्तुओं के मूल्य को भली प्रकार समझने वाली भावना के साथ किया गया है। 'रॉबिन्सन क्रूसो' में तूफ़ान प्रकृति की निर्दयता है; समुद्री डाकू और बाग़ी मनुष्य हैं और इन सबसे ऊपर क्रूसो की 'अपनी' आशावादिता है, जो उसे सारी कठिनाइयों पर विजय दिलाती है।

उपर्युक्त दोनों कथाएँ अद्भुत यात्राओं की कथाएँ हैं। दोनों के नायक अपने जीवन के शेष दिन शान्तिपूर्वक बिताने के लिए, अन्त में विश्राम लेते हैं। किन्तु, ऑडीसस का ध्येय केवल इतना है कि ट्रॉय के युद्ध से लौटकर अपने घर इथाका द्वीप पहुँच जाय। दूसरी ओर, क्रूसो की यात्रा घर से बाहर निकलकर अन्यान्य देशों में साम्राज्य स्थापित करने वाले, प्रकृति को ललकारने और विजय प्राप्त करने वाले मानव की यात्रा है।

'रॉबिन्सन क्रूसो' जिस सामाजिक व्यवस्था की प्रारम्भिक स्थिति की रचना है उसे हम पहले ही 'पूँजीवादी' नाम से अभिहित कर चुके हैं। इस व्यवस्था ने एक ओर तो हमारे अतीतकालीन स्वप्नों को, विज्ञान एवं आधुनिकता को प्रगति देकर, पूरा किया है और दूसरी ओर इसने महान् प्राचीन संस्कृतियों को और पवित्र मानवीय सम्बन्धों को आमूल नष्ट कर दिया है। आडम्बर, धोखा, चरित्रहीनता, व्यापार, यही इस व्यवस्था के ज्वलन्त रूप हैं।

पूँजीवाद ने कलाकार को एक नितान्त नई परिस्थिति में डाल दिया है। अठारहवीं

शती के मध्य तक कलाकार स्वतन्त्र था कि मनुष्य को जिस तरह चाहे देखे और अंकित करे, अतीत की जैसी चाहे आलोचना करे। और पूँजीवाद ने क्या किया ?

पूँजीवाद ने यथार्थवाद को एक प्रणाली के रूप में विकसित किया, उपन्यास में इस प्रणाली को परम उत्कर्ष दिया। पूँजीवाद ने 'मनुष्य' को कला का केन्द्र बनाया और पूँजीवाद ने ही अन्ततः वे सारी सुविधाएँ नष्ट कर दीं जिनमें यथार्थवाद विकसित हो सकता था। पूँजीवाद ने मात्र इतनी सुविधा दी कि कला में—और मुख्यतः उपन्यास में—'मनुष्य' केवल विकृत एवं शक्तिहीन रूप में ही व्यक्त हो सके।

पूँजीवाद ने श्रम-विभाजन और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण में वृद्धि की और इस प्रकार कला में तो सर्वत्र ह्रास का संचार किया ही साथ ही व्यक्ति और समाज के वैषम्य के पाटों में कलाकार को भी कुचल दिया, सांस्कृतिक सम्बन्धों में विकृति आ गई; कला को भी अन्य बेची और खरीदी जाने वाली वस्तुओं के समकक्ष माना जाने लगा। पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं में कला में जो ताजगी और शक्ति मिलती थी, वह बहुत-कुछ नष्ट हो गई।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के जॉन बनियन, डेफ़ो और स्विफ़्ट आदि उपन्यासकारों ने अपने युग की सामाजिक विशेषताओं पर जो कठोर व्यंग्य किये थे, उनसे शक्ति पाकर अठारहवीं शती के फील्डिंग, स्मालेट और स्टर्न आदि कलाकारों ने यथार्थवादी चित्रण का और भी परिष्कार किया। उन्होंने अपने पात्रों को वास्तविक अनुभव से चुना और यह दिखाने के लिए हास्य-व्यंग्य का उपयोग किया कि 'हम वह नहीं हैं जो हम दीखते हैं।' इन उपन्यासकारों ने निर्ममता के साथ 'बनावट के उस आवरण' को उघाड़ा है जिसमें छिपे रहकर क्रोध, प्रतिशोध, नृशंसता, मूढ़ता आदि मनोवृत्तियाँ समाज को धोखा देती रहती हैं।

इन अपेक्षाकृत पहले के उपन्यासकारों के समय में औद्योगिक पूँजीवाद का वह स्वरूप निखरा नहीं था जिसकी कुछ भीषणताओं का विवरण हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। उन्नीसवीं शती के उपन्यासकार पूँजीवाद की विभीषिकाओं के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए और जब इस शती के अन्तिम चरण में कला और सौन्दर्य की उपेक्षा तथा इनके पूर्ण ह्रास का अनुभव रस्किन और विलियम मॉरिस ने किया तो उन्होंने सौन्दर्यवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया। सौन्दर्य की पूजा तो मानो रस्किन का धर्म था। स्विनबर्न और वाल्टर पेटर ने इस आन्दोलन को आगे बढ़ाकर फ्रांस के कलावादी सिद्धान्त को इंग्लैण्ड में प्रवेश दिया। व्यक्ति की अपनी अबाध सत्ता, उन्मुक्त कल्पना और स्वेच्छा को प्रतिष्ठित करने के यत्न हुए। रस्किन आदि को भ्रम था कि 'मध्यकालीनता को कलात्मक रूप में पुनर्जीवित कर' वे साहित्य की आदिम स्वच्छता को पा सकेंगे। इसलिए वर्ले, रिम्बा, बादलेया और फ़्लाबेयर आदि फ्रांसीसी कलाकारों का सम्मान इंग्लैण्ड में भी होने लगा। कला-सम्बन्धी विचित्र सिद्धान्त गढ़े जाने लगे और कला के वातावरण में एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति के दर्शन होने लगे।

पेटर के शिष्य ऑस्कर वाइल्ड ने 'सौंदर्यवाद' का प्रतिपादन करते हुए अपने एक रोचक निबन्ध में लिखा : "...कला की महान् कृतियाँ जीवित वस्तु हैं—वास्तव में ये कला-कृतियाँ ही एक-मात्र वस्तुएँ हैं जो जीवित रहती हैं। आदर्श आलोचक इस सत्य को इतनी भली प्रकार पहचानता है कि मुझे विश्वास है कि सभ्यता के अधिकाधिक विकास और संगठन के साथ श्रेष्ठ व्यक्ति वास्तविक जीवन में कम रुचि लेने लगेंगे। कला ने जिनका स्पर्श किया

है कदाचित् केवल उन्हीं वस्तुओं से, (श्रेष्ठ व्यक्ति) जीवन का प्रभाव या परिचय ग्रहण करना चाहेंगे।"

उसी निबन्ध में अन्यत्र वाइल्ड ने लिखा है : "...तृप्ति अथवा अनुभव के लिए जीवन के पास न जाना चाहिए। जीवन तो सूत्रहीन परिस्थितियों के कारण संकीर्ण बन जाता है। कलात्मक मनोवृत्ति को एक ही वस्तु सन्तुष्ट कर सकती है और वह है विधान और आत्मा का सुन्दर मिश्रण। जीवन में यह नहीं मिलता।...कला और केवल कला के द्वारा हम अपनी पूर्णता की अनुभूति कर सकते हैं; कला के द्वारा और मात्र कला के द्वारा वास्तविक स्थिति के कष्टदायी त्रासों से हम अपने को सुरक्षित रख सकते हैं।"[1]

इन 'कष्टदायी त्रासों' से बच भागने की आकुलता जब हम कलाकारों में देखते हैं तो तत्कालीन परिस्थिति का चित्र सम्मुख आ जाता है। हम जानते हैं कि पूँजी के केन्द्रीकरण से मानवीय सम्बन्धों में जो अन्तर आ गया था, उसके कारण बूर्जुवा संस्कृति के प्रति उन्नीसवीं शती के उपन्यासकारों में तीव्र घृणा का भाव जागा था। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के महान् स्थानों को अपूर्ण देखकर मग्न, और श्रमिकवर्ग के उदय से स्तम्भित इन उन्नीसवीं शती के कलाकारों के मन में 'विज्ञान' तक के प्रति अनास्था घर कर गई। वे विज्ञान की बहु प्रचारित प्रगति को भी एक बड़ा धोखा मानने लगे थे।

सच पूछें तो उन्नीसवीं सदी के कलाकार उस संसार को अस्वीकृत करने का प्रयत्न करते हैं जो उन पर ऐसे-ऐसे 'मानों' को लादता है जिन्हें वे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। उनका कला-आन्दोलन भी एक ऐसा ही प्रयास है। वह ललकारकर कहता है कि 'कला रुपये के लिए नहीं है; कला कला के लिए' है।[2]

इसी समय यूरोप के फ्रांस तथा रूस आदि देशों के कथा-साहित्य में अभूतपूर्व परम्पराओं का निर्माण हो रहा था। स्तांदाल द्वारा निरूपित यथार्थ चित्रण की शैली को फ्रांस में ही बालज़ाक, फ़्लाबेयर और विक्टर ह्यूगो द्वारा पुष्ट आकार मिला। बूर्जुवा समाज के खोखलेपन, उसकी पतनोन्मुखता और हीन आकांक्षाओं से लेकर समाज द्वारा उपेक्षित पात्रों तक के विविध चित्र इन उपन्यासकारों ने खींचे। किन्तु भीतर-ही-भीतर कोई ऐसा घुन इन सारे कलाकारों को खाए जा रहा था जिसके कारण इनकी कला अधिकाधिक विकृत होती जा रही थी। मात्र कला ही नहीं नर्वाल, रिम्बा, सेवाने, वैंगाग आदि उन्नीसवीं सदी के अनेकानेक कलाकारों के मानसिक विकार और करुण अन्त इस सत्य पर प्रकाश डालते हैं कि वे ऐसी सभ्यता से क्षुब्ध थे जिसकी दृष्टि में कला का कोई मूल्य न था।

ज़ोला एक समाधान देने का उद्योग करते हैं। श्रमिकों के उद्वेगपूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करके वे 'प्रकृतवाद' के आधार पर समस्या के सुलझाने का प्रयास करते हैं परन्तु हम सबको पता है कि जटिल एवं अव्यवस्थित सामाजिक जीवन की मूल समस्याओं को हल करने में वे भी कुछ विशेष सफल नहीं हुए।

अस्तु; पूँजीवादी समाज के उस घोर साहित्यिक आपत्काल में आशा की जो पहली

१. ऑस्कर वाइल्ड : द क्रिटिक ऐज़ आर्टिस्ट

२. द्रष्टव्य : राल्फ फ़ाक्स—'द नॉवेल एण्ड द पीपुल' तथा एस० डी० नील—अ शार्ट हिस्ट्री ऑव द इंग्लिश नॉवेल (दसवाँ अध्याय)

किरण फूटी वह थी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी उपन्यास का उदय। तुर्गनेव, टॉलस्टाय और डास्टाएव्सकी ने जो यथार्थ देखा और अंकित किया वह उनके "फ्रांसीसी आचार्यों के यथार्थ की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श्य और अधिक मार्मिक था। जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण और निर्दोष यथातथ्य वर्णन के साथ ही जटिल परिस्थितियों तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनःस्थितियों का निर्मम विश्लेषण करने की दक्षता का जैसा परिचय उन्होंने दिया वह भी उस युग के लिए अपूर्व और कल्पनातीत था।"[1]

इन रूसी उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जारयुगीन दुर्दान्त शासन की आपदाओं के बीच भी 'सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास-सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को' कभी न डिगने दिया। इसी महान् परम्परा में आगे चलकर गोर्की ने भी अपना महानतर योग दिया।

: २ :

एक ओर तो उपन्यास-क्षेत्र में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ विकास पा रही थीं और दूसरी ओर यथार्थवाद के उक्त आन्दोलन के समानान्तर कुछ अन्य कला-प्रणालियाँ भी पनप रही थीं। आज हम उन्हें प्रतीकवाद, अति यथार्थवाद, डाडाइज़्म, फ़ार्मलिज़्म आदि अनेकानेक नामों से जानते हैं। ये कला-रूप मुख्यतः कविता और चित्र-कला के क्षेत्रों में कार्य करते रहे हैं और बीसवीं शती में पल्लवित हुए हैं किन्तु तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोधों को तथा आगामी साहित्य के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि संक्षेप में इन वादों-विवादों में से प्रमुख की विचार-धारा को जान लिया जाय।

'प्रतीकवाद' प्रथमतः प्रकृतवाद और यथार्थवाद का विरोधी आन्दोलन था। फ्रांस में इसके अगुआ थे वर्ले, रिम्बा और मलार्मे; तथा अन्यत्र यीट्स, हार्थर्न, इलियट, जेम्स जाइस, ब्लाक आदि। प्रतीकवाद के अस्त्र थे रहस्यवादिता, सूक्ष्मता, दुरूहता, अबोधगम्यता और आदर्शवादिता, शैली, छन्दों एवं संगीत के परिष्कार, काण्ट, हीगेल और शॉपेनहाअर के दर्शनों की पृष्ठभूमि। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में निरूपित होकर यह साहित्य-धारा बीसवीं सदी में विशेष फली-फूली।

'अतियथार्थवाद'—बीसवीं शती के एक अन्य आन्दोलन—ने उसको अपना सर्वप्रथम विषय बनाया जो 'दृश्यमान वास्तविकता से परे' हो। यह आन्दोलन 'स्वच्छन्दतावाद' का ही एक बदला हुआ रूप था। स्वप्नों तथा व्यक्ति की अर्द्धजाग्रत अवस्थाओं के चित्र अतियथार्थवादी कृतियों में खींचे गए। स्वतःचालित विचार और लेखन इस वाद की विधियाँ थीं। इसने अव्यवस्था को प्रश्रय दिया और अनीश्वरवाद को आधार-शिला माना। बॉदलेयर, लुई आरागों, पाल एलुआर, रीड, आन्द्रे ब्रेटन आदि अतियथार्थवाद के समर्थक और पोषक रहे हैं।

'फ़ार्मलिज़्म' नाम से रूसी साहित्य की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों के विरोध में समाजशास्त्रीय और प्रतीकवादी निकायों ने एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन चलाया। ये कला को शैली-

---

१. इलाचन्द्र जोशी : विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य ('आलोचना', ११)

विधान या शिल्प-मात्र मानते थे। शिल्प कला की विधि नहीं उसका उद्देश्य भी है। इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने आलोचना, कला तथा साहित्य के इतिहास आदि विषयों की व्याख्या अपने ढंग से की थी।

इन तथा ऐसे ही अन्य कई आन्दोलनों के मूल में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उन पर हम यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। समाज की गलनशील एवं साहित्य की यथार्थोन्मुख विकास-शील शक्तियों के बीच में पड़कर उन्नीसवीं शती के कलाकारों ने प्रतिक्रिया, विकृति और नकारात्मकता की भूमि पर खड़े होकर सौन्दर्य, कला तथा साहित्य के क्षेत्रों में उपर्युक्त अनेक दृष्टिकोण रखे।

इन दृष्टिकोणों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि अक्सर तो उनमें व्यक्त होकर 'आदर्शवाद' ही कई रूपों में 'यथार्थवाद' का विरोध कर रहा था। आदर्शवाद ने ही नैतिक और सौन्दर्य-बोधक मूल्यों की बाह्यात्मकता तथा नियामकता पर बल दिया था और फिर 'आदर्शवाद' ने ही मनुष्य के उस दैवी और अलौकिक स्वरूप की व्याख्या की जो पार्थिव जीवन-मृत्यु से परे है। इस धरातल पर आदर्शवाद ने प्रकृतवाद का खण्डन किया। 'आदर्श-वाद' ने ही मनुष्य के हीन, कुरूप, सामान्य स्वभाव की उपेक्षा करके उसके श्रेष्ठता और रुचिकर गुणों का अन्वेषण करना चाहा। इस और इसीसे सम्बद्ध 'प्रतीकवाद' के धरातल पर आदर्श-वाद ने यथार्थवाद का खण्डन किया।[1]

और, प्रकृतवाद क्या था? स्थूल रूप से प्रकृतवादी रचनाएँ उन्हें कहा जाता था जो प्रकृति-प्रेम का वर्णन करती हों। सामान्यतः प्रकृतवाद के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती थीं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने की चेष्टा करके 'यथार्थवाद' का एक रूप प्रस्तुत करती हों। विशेष रूप से 'प्रकृतवाद' १९वीं शती के उन कलाकारों द्वारा प्रतिपादित मत है जो मानव को प्रकृत रूप में अंकित करना चाहते थे—मानववादी अथवा धार्मिक रूप में नहीं। फलतः ये कलाकार भौतिक विज्ञान के आधार पर मनुष्य का विवेचन करते थे और अनगढ़, व्यंग्यात्मक, हीन और गन्दे ढंग से विषय का प्रतिपादन करते थे। हम पहले कह चुके हैं कि इनके अगुआ एमिली जोला थे। वे ऐसी बाह्यात्मकता का पालन करने में विश्वास करते थे जिसमें 'रचना का यथार्थ' निहित रहता हो। हम यह भी कह चुके हैं कि जोला समस्या का निदान या समाधान देने में सफल नहीं हुए, किन्तु जोला की रचनाओं से ही बल पाकर आयरिश उपन्यासकार जार्ज मूर सत्य के बहुत निकट पहुँच गए थे जब उन्होंने लिखा, "उपन्यास को 'समकालीन इतिहास' ही होना चाहिए ताकि वह हमारे युग की सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक तथा पूर्ण प्रतिकृति हो सके।"

और, यथार्थवाद क्या था?

इस प्रश्न का उत्तर फ़िलहाल हम आन्द्र जीद से सम्बन्धित एक रोचक घटना का उल्लेख करके देंगे। आन्द्र जीद से एक आलोचक ने पूछा कि आखिर इसका क्या कारण है, 'सामाजिक असमानता' से जीद का परिचय केवल उसी समय हुआ जब वे १९२५ में फ्रेंच काँगो की यात्रा करने गए?

जीद ने बताया कि वास्तव में ऐसा न था। उन्होंने १८९३-९६ में की गई यात्राओं

१. द्रष्टव्य : शिपले—डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर, पृष्ठ ३१०

के पूरे विवरण यदि प्रकाशित किये होते तो यह ज्ञात होता कि 'सामाजिक असमानता' से वे बहुत पहले परिचित हो चुके थे। पर कलाकार के नाते उनका क्षेत्र कुछ और ही था। अन्य विषयों की चर्चा उनके क्षेत्र के बाहर की बात थी और उन पर अधिक समर्थ और 'एक्सपर्ट' लेखकों को क़लम उठानी चाहिए थी।

वास्तव में जीद के लिए उस समय संसार की स्थिति केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) रूप में थी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कांगों-यात्राओं के सिलसिले में ही जीद ने संसार को 'यथार्थ' रूप में देखना प्रारम्भ किया, न केवल उस रूप में जैसा वह (संसार) उनकी व्यक्तिगत चेतना में स्थित था। फिर भी, काँगो-यात्राओं के समय भी जीद का दृष्टिकोण अन्तर्सापेक्ष्य ही था। यह अव्यवस्था से क्षुब्ध एक 'क्रोधित' व्यक्ति का दृष्टिकोण था न कि समग्रता और स्थिरता के साथ वस्तुओं को देखने वाले व्यक्ति का।

आन्द्र जीद ने स्वयं स्वीकार किया है कि प्रारम्भ में वह विश्वास करता था कि केवल 'विशेषज्ञ' को ही अपने विषय पर कुछ कहना चाहिए! जिन्होंने अन्याय, अत्याचार और पीड़ा को सहा है, उन्हींको उसे मिटाने के लिए आवाज़ उठानी चाहिए। लेकिन धीरे-धीरे जीद ने जान लिया कि दूसरे लोगों को भी 'पीड़ित' के स्वर-में-स्वर मिलाना होगा अन्यथा 'पीड़ित' की अकेली आवाज़ तुमुल कोलाहल में डूब जायगी। काँगो में तो जीद ने देखा कि अन्यायियों का विरोध करने वाला कोई भी नहीं है। तब जीद ने ज़बान खोली। पर इस समय भी वह विद्रोह एक 'साम्राज्यविरोधी' का विद्रोह न था। यह तो बहुत बाद में आन्द्र जीद ने अनुभव किया कि जो व्यवस्था ऐसे अनाचारों और अन्यायों को केवल इसलिए 'सहन' करती, 'रक्षा' करती और 'पक्ष' लेती थी कि उनसे लाभ उठाती रह सके, वह निश्चय ही ऊपर से नीचे तक हेय और निन्दनीय थी।[1]

दृष्टिकोण के विकास की यह समूची प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी आन्तरिक बुद्धिवादिता और अन्तर्भूत चेतना को त्यागकर, उस आदर्शवादी धरातल को भी उस समय छोड़ देता है—जब वह देखता है कि बाह्य संसार की मात्र-सत्ता ही नहीं है बल्कि उसे समझा और जाना भी जा सकता है। व्यक्तिगत चेतना—जो बाह्य संसार की मन में तो 'पुनर्निर्मिति' है और विचारों में 'अनुवाद'—बहिर्गत संसार को भली प्रकार जान लेने पर ही उन्मुक्त संचरण कर सकती है।

सच पूछा जाय तो दृष्टिकोण के परिवर्तन की यह कहानी केवल आन्द्र जीद या किसी एक व्यक्ति की कहानी नहीं, यह तो एक पूरे युग की कहानी है जो कला के कार्यों, सिद्धान्तों या उद्देश्यों के विषय में संकुचित दृष्टियों को त्यागकर अधिक व्यापक, स्वस्थ और यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर प्रगति करना चाहता है, इसके लिए पूर्वग्रहों और अन्तर्विरोधों से लड़ता है और उन पर विजयी होता है।

: ३ :

किन्तु बीसवीं शताब्दी की जटिलताएँ कलाकार को सुथरे और प्रशस्त पथ पर नहीं चलने

---

१. राल्फ़ फ़ाक्स द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त विवरण के लिए देखिए: 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल,' पृष्ठ ३२–३७

देतीं, क्योंकि अब पथ 'अनेक' से 'अनन्त' हो गए हैं। ज्ञान, विज्ञान और मनोविज्ञान ने प्रगति कर ली है। अब सुनिश्चित कथानक, सुस्पष्ट चरित्र और सुगठित शिल्प से काम नहीं चलेगा। अब 'गैलीलियो, डार्विन, मार्क्स और फ्रायड'[1] कलाकार के मन पर चारों ओर से छाने लगे हैं। तो, मूल्यों में फिर विघटन होना चाहिए और नई पद्धतियाँ निरूपित होनी चाहिएँ, क्योंकि हम "चलते जा रहे हैं—कभी इस दिशा में, कभी उस दिशा में—भले ही यह कोल्हू के बैल-

पिछले तीन वर्षों में १२ अंक प्रकाशित हो चुके हैं जिनकी सामग्री हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं के लिए महत्त्वपूर्ण तथा संग्रहणीय है। इन अंकों की विषय-सूची मँगवाइये तथा इनके लिए पत्र लिखिए। प्रथम दो अंक अप्राप्य हैं; शेष सभी मिल सकते हैं।

आलोचना के अंक ३ से १२ तक की फुटकर प्रतियों का मूल्य कुल मिलाकर ३४) होता है। इसमें **इतिहास विशेषांक** ५), **इतिहास शेषांक** ३) तथा **आलोचना विशेषांक** ५) का मूल्य भी सम्मिलित है।

ये दसों अंक एक साथ मँगवाने पर आपको ३०) (केवल तीस रुपए) में मिल सकते हैं। डाक-खर्च भी नहीं लगेगा। ३०) का मनीआर्डर भेजिए; वी० पी० पी० से मँगवाने के लिए ५) अग्रिम भेजिये।

...ाहित्य की आलोचना करते हुए लिखा कि वेल्स, ...दी हैं। "ये 'आत्मा' की अपेक्षा 'शरीर' से अधिक ... लेखकों की रचनाओं पर एक बिल्ला चिपकाएँ ...वादी'—तो हमारा अभिप्राय है कि वे महत्त्वहीन ...श्रम एवं कौशल का व्यय केवल इसलिए करते हैं ...श्वत' जान पड़े।"[3]

...उसकी अनुरूपता दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, ...आत्मा, सत्य या यथार्थ', जो 'मूल वस्तु' है, वह ...ों में नहीं सँवर पाती, जिन्हें हम प्रस्तुत करते हैं। ...न' अनेक प्रभावों को ग्रहण करना जान गया है। ...रे उतर जाने वाले प्रभाव प्रत्येक दिशा से असंख्य ... हमें बताते हैं कि महत्त्व का क्षण कुछ और ही है। ...स नहीं; उसे जो लिखना 'चाहिए' ऐसा न लिखकर ...वह अपनी रचना को रूढ़ि पर आधारित न करके ...ता है तो कथानक, सुखान्त-दुःखान्त कथाएँ, प्रेम ...रूप में न होगा जैसा हम आज तक समझते और

... के पक्ष में अपूर्व तर्क देते हुए कहा कि नये लेखक ...का प्रयास करते हैं; वे उसे अधिक निष्ठा के साथ ...त करता है। इसके लिए वे रूढ़ियों का परित्याग ...ह असम्बद्ध और अप्रासंगिक जान पड़ता हो, किन्तु ...हते हैं जिस पर प्रत्येक दृश्य और घटना अंकित

... कुमारी वुल्फ़ ने जेम्स जॉइस को 'आध्यात्मिक' ...ी लपटों को प्रकट करना चाहते हैं जो मस्तिष्क के ... इसके लिए जेम्स जॉइस सम्भावना, सम्बद्धता, क्रम ...भूतपूर्व साहस दिखाते हैं।

१. ... १८

२. वर्जीनिया वुल्फ़, माडर्न फिक्शन (१९२३)

३. वही

वर्जीनिया वुल्फ़ भी निर्भीकतापूर्वक कहती हैं कि 'आधुनिकों' की रुचि का 'वह' बिन्दु कदाचित् मनोविज्ञान की अतल पर्तों में निहित है। और इस प्रकार अभी तक बिलकुल अज्ञात रहने वाला एक नितान्त नूतन आकार हमारे सम्मुख आ खड़ा होता है।[1]

सधी हुई कलम और अकाट्य लगने वाले तर्कों द्वारा इन नये विचारों का प्रतिपादन किया गया। इन नये उपन्यासकारों ने 'व्यक्ति' पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और उसका 'मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान' करना चाहा। 'कथानक और चरित्र' अविस्मरणीय हों या न हों, 'मन का सत्य' प्रकट होना ही चाहिए। एक व्यक्ति के 'मानसिक जीवन का इतिहास' लिखने के लिए 'अनुभव के क्षणों' पर उपन्यासकार ने दृष्टि केन्द्रित की; इन्हींको अपनी लेखनी में पकड़ना चाहा। व्यक्ति का व्यक्तित्व भी कोई 'एक' वस्तु नहीं है, वह 'मनोवैज्ञानिक स्थितियों का क्रम' मात्र है। मनुष्य 'भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक क्षणस्थायी आदमियों' की एक माला है। यदि इन 'विभिन्न क्षणस्थायी आदमियों' के बीच कोई सुनिश्चित सूत्र स्थापित किया जायगा तो यह जीवन को झुठलाना होगा। असम्बद्ध दृश्यों में असम्बद्ध घटनाओं और उनमें भी असम्बद्ध घोषणाओं की शैली पाश्चात्य उपन्यास में विकसित हुई। सेक्स, घृणा, वितृष्णा, असामाजिकता आदि के यथातथ्य और विस्तृत वर्णन हुए, क्योंकि जीवन को 'रिकार्ड' करने के लिए कुछ भी छोड़ना नहीं चाहिए, सब-कुछ ले लेना होगा।[2]

हक्सले, जेम्स जॉइस, लारेन्स और वर्जीनिया वुल्फ़ आदि के द्वारा प्रतिपादित और आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा अनुमोदित इन परस्पर विरोधी, किन्तु मिलते-जुलते प्रेरणा-सूत्रों से परिचालित विचार आधुनिक उपन्यास में व्यक्त हुए। सबसे बड़ा व्यंग्य तो यह था कि 'तथ्य, यथार्थ और सत्य' के प्रति पूर्ण निष्ठा का दावा इन उपन्यासकारों द्वारा किया जाता था।

ह्यू वालपोल ने इन 'अस्त-व्यस्त, सूक्ष्म और भयावह' विचारों की अरोचक अभिव्यक्तियों के लिए लिखा—"यह विधि बहुत सरल है—चालाकी, आराम और साहस से भरी हुई। असम्बद्ध आत्म-कथा लिखने की यह शैली 'आधुनिक' भी है और इसमें 'अपने से भिन्न कथानक या चरित्र' निर्मित करने की असुविधा भी नहीं। अवसादयुक्त होकर विकृत व्यक्तियों की बात लिखना ठीक ही है, क्योंकि फ्रायड कह चुके हैं कि हम सब मग्न, पुंसत्वहीन और विरूप हैं।··· इसलिए मग्नता की विशद व्याख्या करने वाले और शून्य (nothing) का कटुतम उद्घाटन करने वाले उपन्यास लिखे गए हैं। अत्याचारों को सहन करने वाली दीन जनता तथा संघर्षरत साहसयुक्त जनता से इन कलाकारों ने अपना बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।"[3]

: ४ :

स्पष्ट है कि इस प्रकार का नकारात्मक तथा आत्मपरक दृष्टिकोण साहित्य में अधिक दिन नहीं चल सकता था। विद्रोह होना अवश्यम्भावी था और हुआ भी। जो शंकाएँ पाठकों के मन में सबसे पहले जागीं वे इन उपन्यासों की 'सत्यता' को लेकर थीं। पाठकों ने कहा कि यदि जीवन-मात्र इतना ही है तो उसका अंकन करने की आवश्यकता क्या है ? और यदि जीवन इस

---

१. वही।
२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य : सी० ई० एम० जोड, गाइड टु माडर्न थॉट, पृष्ठ २८४-२३७
३. टेन्डेन्सीज़ ऑफ माडर्न नॉवेल—इंग्लिश, ह्यू वालपोल

सबसे कुछ 'अधिक और अन्य' है तो उसका विवरण इन कथाओं में नहीं मिलता।

यह संकट उस समय और भी तीव्र हो गया जब कहा जाने लगा कि आधुनिक मनोविज्ञान समस्त मानवीय क्रियाओं, विचारों, भावनाओं को पूर्ण रूप से समझने में समर्थ है। तब एक प्रश्न सबको विह्वल करने लगा कि क्या उपन्यासकार अपने कार्य को 'मनोवैज्ञानिक' द्वारा पूरा किये जाने के लिए छोड़ देगा ? क्योंकि अभी तक तो हम यही जानते थे कि महाकाव्य के बाद उपन्यास ही वह प्रथम कला-रूप है जो मनुष्य समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।[1]

जिस सहज रूप में प्रश्न उठा था उतने ही सहज रूप में उत्तर भी मिल गया कि 'नहीं, यह न होगा' क्योंकि मनोविज्ञान की सीमाएँ इस समय तक सबको ज्ञात हो गई हैं। ये सीमाएँ क्या हैं ?

एक : मनोविज्ञान मानव-विचार की समस्त प्रक्रियाओं और मानव-प्रकृति के सभी परिवर्तनों की व्याख्या नितान्त मनसपरक आधारों पर करता है।

दूसरे : मनोविज्ञान का मानव-व्यवहार, विचार और अनुभूति के स्रोतों को अचेतन में खोजता है और इन स्रोतों की मूल प्रकृति 'सेक्स' बताता है।

तीसरे : मनोविश्लेषण शास्त्र, विवेक, इच्छा-शक्ति और सौन्दर्य-बोध आदि अपेक्षया बाद में विकसित हुए मानवीय गुणों को महत्त्व न देकर मनुष्य की आदिम और बर्बर पशु-प्रकृति को सर्वोपरि मानता है।

चौथे : मनोविज्ञान व्यक्ति को उसकी पूर्णता में देख पाने में असमर्थ रहा है। वह मनुष्य के सामाजिक महत्त्व को नहीं समझता।

इतना ही नहीं, मनोविज्ञान जीवन के ऐसे झूठे दृष्टिकोणों का आधार बना है जो मानव-व्यक्तित्व को विघटित करना ही कला का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। साथ ही मनोविज्ञान ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि व्यक्ति सामाजिक समग्रता की इकाई-मात्र है। इस सामाजिक समग्रता के नियम प्रतिफलित होकर जब व्यक्ति-मन में प्रवेश करते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति को नियन्त्रित और परिवर्तित करते हैं।

अपनी उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव की ज्ञान-राशि में अद्भुत योग दिया है। उसकी अपेक्षा करना सम्भव नहीं है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि आज के मनुष्य को बाहर और भीतर दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही है। उस लड़ाई का बाह्य रूप है—भुखमरी, बेकारी और युद्ध; और अन्तर-गत रूप है—इन अनेक संकटों का मन पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब। इस दोहरे संघर्ष का प्रत्येक अंश एक-दूसरे पर प्रभाव डालता है इसलिए आज हमें बहिर्भूत (Objective) और अन्तर्भूत (Subjective) आदि विभाजन निरर्थक या बनावटी जान पड़ते हैं। आज हम ऐसी परम्पराओं को विकसित करने वाले हैं जिनमें उपर्युक्त दोनों वृत्तियाँ परस्पर उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगी।

वालपोल के अनुसार ये परम्पराएँ 'रोमांटिसिज़्म' की होंगी, क्योंकि उपन्यासों का आधुनिकतम झुकाव इन्हींकी ओर है। इसके संकेत कूपर पॉवेस, फिलिस बेन्टले, फ्रांसिस ब्रेट आदि उपन्यासकारों की रचनाओं में मिलते हैं, किन्तु जब हम वर्तमान सोवियत और चीनी साहित्य पर

1. देखिए, इसी निबन्ध का पूर्वांश

दृष्टि डालते हैं तो स्थिति भिन्न जान पड़ती है।

डी० एस० मर्स्की के अनुसार 'नये सोवियत उपन्यास की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता के साथ संगति और ज्ञान के प्रकार के रूप में कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति। इनके सम्मिलन को सोवियत आलोचकों द्वारा 'सामाजिक यथार्थवाद' कहा जाता है।'[1] सोवियत उपन्यास का मूल मन्त्र 'संघर्ष' है—वह संघर्ष, जो अन्ततः विजय में परिणत होगा; किन्तु शोषक बूर्जुवा और सम्पत्तिशाली के खिलाफ़ आर्थिक-राजनीतिक युद्ध अभी छेड़े रहना है। इस संघर्ष का स्वरूप सृजनात्मक भी है, क्योंकि वह प्रकृति की अवरोधक शक्तियों का विरोध करता है और हमारे मन में शताब्दियों से स्थित कुण्ठाओं और दास-मनोवृत्तियों को दूर करके हमें समाजवादी मानवता के निकट पहुँचने के लिए शिक्षित करता है।

इसी प्रकार चीन के कथा-साहित्य ने भी अपनी महान् यथार्थवादी परम्पराओं को एक सामाजिक परिणति दी है। इन दिशाओं में अग्रसर होने के लिए चीन के कलाकार अत्यधिक ईमानदार बनने और यथार्थ के क्रान्तिकारी विकास को सच्चाई के साथ ग्रहण करने का उद्योग करते हैं। वास्तविक जीवन में अब भी अनेक विषमताएँ हैं। प्रगतिशील विकासोन्मुख शक्तियों को ह्रासशील मरणोन्मुख शक्तियों से घोर संग्राम छेड़ना पड़ता है। चीनी कलाकार ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझकर इन विषमताओं की विवेचना करते हैं और समाज-स्थित वर्ग-वैषम्यों का विवरण गहराई के साथ प्रस्तुत करना चाहते हैं। लूसून ने मुक्ति के पहले चीन पर शासन करने वाले प्रतिक्रियावाद के प्रति जनता में जो घोर घृणा थी उसका अंकन करके सत्य-असत्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा स्थापित की। जीवन की विषमताओं को परदे में ढककर या आकर्षक रूप में ढाल-कर रखना चीन के साहित्यकारों ने पसन्द नहीं किया, क्योंकि ऐसा करना यथार्थ को विकृत बनाना होता; ऐसा करने से साहित्य का सच्चा प्रभाव नष्ट हो जाता और उसकी विचार-सरणि के मूल में स्थित संघर्ष क्षीण पड़ जाता।[2]

यह सच है कि चीन के या पश्चिम के 'क्रान्तिकारी उपन्यास' ने अभी इस 'घोषित' महान् लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया है और वे उस स्तर तक नहीं पहुँच सके हैं जहाँ से वे मानव के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि करके हमारी चेतना और बोध को बढ़ा देंगे। इन उपन्यासों में प्रायः शक्तिहीनता, शुष्कता और रूपाग्रह के दर्शन होते हैं। परिपक्वता, परिष्कार, उत्कर्ष अथवा महानता की दृष्टि से उनमें बड़ी कमियाँ हैं। पर वे इस सत्य पर भली प्रकार प्रकाश डालते हैं कि वर्तमान वैषम्यों और दुरूहताओं से संघर्ष करने और उन पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया में ही मानव के क्रान्तदर्शी आशावाद की सच्ची शक्ति निहित है।

: ५ :

विश्व-उपन्यास की तुलना में हिन्दी-उपन्यास का लघु जीवन अपनी समग्रता में अधिक स्वस्थ और विकारमुक्त जान पड़ता है। यथार्थ की जो दृष्टि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाई थी वह आज तक निरन्तर विकसित ही हुई है। 'परीक्षागुरु' से प्रारम्भ करके 'बाबा बटेसरनाथ' तक कथा-साहित्य की परम्परा भले ही बहुत गौरवपूर्ण न हो, स्वस्थ अवश्य रही है। उसने उप-

१. टेन्डेन्सीज़ ऑफ द माडर्न नॉवेल—रशा—डी० एस० मर्स्की
२. चाइनाज़ न्यू लिटरेचर एण्ड आर्ट

देश, नीति और सुधारवादिता से प्रारम्भ किया था और आज वह श्रमिक, कृषक एवं मध्यमवर्गों के यथार्थवादी चित्रणों में से विकसित हो रही है। वर्णन की सचाई और विवरणों की यथा-तथ्यता हिन्दी-उपन्यास के सहज अंग रहे हैं। बिलकुल प्रारम्भ के—बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान और एक सुजान' में ही देखिए—"···प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ घर-घर सब लोग भोजन के उपरान्त विश्राम-सुख का अनुभव कर रहे हैं, नींद आ जाने पर पंखा हाथ से छूट गया है, खुर्राटे भरने लगे हैं।···कोई-कोई बड़ी जँगरैतिन गृहस्थी का सब काम को शेष होते देख जेठ के दीर्घ दोपहर की ऊब दूर करने को सूप की फटकार से अपने पड़ोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही हैं।···"

हिन्दी-उपन्यास की इस प्रारम्भिक स्थिति में एक ओर ऐसे अनेक यथार्थ चित्रण हैं, दूसरी ओर व्यक्ति, समाज, धर्म तथा सामयिक विषयों पर विविध व्यंग्य और विवेचनाएँ हैं। इन सबको एक सशक्त और मुखर रूप प्रेमचन्द में मिलता है। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास आदि की सुधारात्मक यथार्थवादी प्रणाली को प्रेमचन्द आगे बढ़ाते हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परम्परा का सूत्रपात करके जिस महान् औपन्यासिकता की सृष्टि करते हैं उसकी चर्चा करना बहुकथित बातों का पिष्ट-पेषण करना-भर होगा।

हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भ से ही युग की समस्याओं के प्रति सजग रहा है। इसीलिए अतीत काल के गौरव और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन से लेकर धर्म, विवाह, छुआछूत, नारी, सेक्स, कुण्ठा आदि समाज, परिवार और व्यक्ति की अनेकानेक समस्याओं पर उसने दृष्टि डाली है। यह सही है कि इन सबके विवेचन में हिन्दी-उपन्यास अधिक 'क्रान्तिकारी' नहीं बन सका है, लेकिन शायद 'भारतीय मन' की यह सीमा एक प्रकार का वरदान भी सिद्ध हुई है, क्योंकि हम इसी निबन्ध में पहले देख चुके हैं कि 'साहस और निर्भीकता' ने पश्चिमी उपन्यास में कैसी-कैसी विकृतियाँ और असंगतियाँ पैदा कर दी थीं। बीच के खेवे के कुछ हिन्दी-उपन्यासकारों ने—जिनके नाम सर्वविदित हैं—सेक्स, नारी और समाज को लेकर फ्रेंच यथार्थवादियों की भाँति निर्भीक विचार व्यक्त किये थे, किन्तु सामाजिक चेतना के विकास के साथ इस धारा की कमियाँ खूब स्पष्ट हो गईं और शीघ्र ही उल्लेखनीय हिन्दी-उपन्यास इस प्रवृत्ति को छोड़कर आगे बढ़ गया। अब ऐसा साहित्य 'रेलवे बुक-स्टालों' पर ही दिखाई देता है और उन सस्ते लेखकों द्वारा लिखा जाता है जिनका उद्देश्य अर्धशिक्षित जनता की वासनाओं को गुदगुदाकर धन कमाना-भर रहता है।

हिन्दी-उपन्यास की विकासोन्मुख प्रगतिशील धारा वह है जो विश्व-उपन्यास की नवीनतम शक्तियों को यथाशक्ति अपना दाय दे रही है। प्रेमचन्दोत्तर-युगीन ऐसे उपन्यासकार भी, जिनकी रचनाएँ पढ़कर, प्रारम्भ में कुछ लोगों को लगा था कि ये 'अनिष्ट' कर रहे हैं आज उस शंका को निर्मूल सिद्ध कर चुके हैं। जैनेन्द्र अपने नये उपन्यासों में पात्रों को व्यापक और तटस्थ सहानुभूति देकर उनके चरित्रों की सूक्ष्मताओं पर प्रकाश डालते हैं; इलाचन्द्र जोशी 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' आदि इधर के उपन्यासों तथा यत्र-तत्र प्रकाशित निबन्धों द्वारा अपनी शैली और भाव-भूमि में उस 'प्रगतिशीलता' के निरन्तर प्रवेश की सूचना देते हैं जिससे वे ही नहीं हिन्दी के प्रायः सभी मान्य कलाकार इस बीच दूर जा पड़े थे। 'अज्ञेय' की नवीनतम कविताएँ एक विशेष प्रकार की सामाजिकता, आस्था और यथार्थ-दर्शन से ओत-प्रोत हैं और

वे कदाचित् उनके अगले उपन्यास की पृष्ठभूमि बनाएँगी। यशपाल, 'अश्क', अमृतलाल नागर आदि ही नहीं, हिन्दी के प्रायः सभी उल्लेखनीय-अनुल्लेखनीय उपन्यासकार आज सामाजिक चेतना के साथ ऐसे अटूट सम्बन्ध का अनुभव करने लगे हैं कि सुस्थिर मनीषी पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी विचलित होकर कहना पड़ता है कि 'हिन्दी-उपन्यास पर यथार्थवाद का आतंक बढ़ता जा रहा है। यथार्थवाद में कौशल और साधन का आधिक्य अखरने लगा है।'

आचार्य द्विवेदी के उपर्युक्त मन्तव्य की विवेचना हमारा ध्यान एक दूसरी ही समस्या की ओर आकृष्ट करती है कि 'यथार्थ' का प्रतिबिम्ब रचना के विविध अंगों—भाषा, शिल्प, कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन—पर किस रूप में परिलक्षित हुआ है या हो ? इसका व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक धरातलों पर अध्ययन रोचक होगा। इसकी उपयोगिता और आवश्यकता असन्दिग्ध होते हुए भी कदाचित् प्रस्तुत प्रसंग में यह चर्चा 'विषयान्तर'-सरीखी होगी।

अस्तु, हम तो यही निवेदन करेंगे कि यथार्थवाद के वर्तमान 'साधनों का यह आतंक' कदाचित् उस निकट भविष्य का पूर्वाभास-मात्र है जो 'महान् साध्यों' को जन्म देने वाला है—जब हिन्दी-उपन्यास आज के सामान्य स्तर से ऊपर उठकर उच्चतर कृतियों और परम्पराओं का सृजन करेगा।

डॉक्टर रामअवध द्विवेदी

उपन्यास के उपकरण

उपन्यास की समीक्षा तथा उसके स्वरूप-निर्धारण के प्रयत्न अधिक नवीन हैं। काव्य के सम्बन्ध में देश और विदेश में दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए जब चिन्तन तथा विवेचन प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उपन्यास की कला तथा उसके मूलगत सिद्धान्तों पर सम्यक् विचार पिछले सौ वर्षों में ही हुआ है। अब तक विचारकों ने एकमत होकर ऐसे नियम प्रस्तुत नहीं किये हैं जो सर्वमान्य हों। सच तो यह है कि उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जो बन्धनों की उपेक्षा करने में ही अपनी सार्थकता मानता है, क्योंकि वह निर्बन्ध जीवन के आधार पर ही निर्मित हुआ है। अतएव उपन्यास के मूल तत्त्वों का विवेचन सरल नहीं है और न उनकी सर्वमान्यता के सम्बन्ध में अधिक आग्रह ही किया जाना चाहिए। उनका मूल्य केवल इस बात में है कि हम इनके सहारे उपन्यास के स्वभाव, स्वरूप तथा निर्माण पद्धति को किसी अंश में समझ सकते हैं।

उपन्यास और यथार्थ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गतिमान प्रवाहयुक्त यथार्थ मानव-जीवन ही उपन्यास-लेखक को सामग्री प्रदान करता है और उपन्यास बहुत अंशों में इसी जीवन की अनुकृति है। जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग पर किनारों के दृश्यों को देखता हुआ अग्रसर होता है उसी भाँति काल के अविरल प्रवाह में जीवन क्षण-क्षण आगे बढ़ता जाता है। जीवन में प्रगति है और साथ-ही-साथ विस्तार भी, किन्तु प्रगति ही उसका विशिष्ट धर्म है। उपन्यास भी इसी प्रकार एक चित्र उपस्थित करता है जो पल-पल बदलता रहता है और नये रंग, नये रूप, नवीन दृश्य सामने प्रस्तुत करता है। जब हम उपन्यास और नाटक की तुलना करते हैं तब यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। नाटक भी जीवन का अनुकरण करता है, किन्तु उसका अनुकरण अधिक कृत्रिम तथा सीमित है। जीवन के अंश तथा परिस्थितियों को लेकर वह उन्हें साँचे में ढालकर सदा के लिए बाँध देता है। उसमें प्रगति केवल इस बात में सीमित है कि कथावस्तु एक अवस्था से विकसित होकर दूसरी अवस्था तक पहुँच जाती है। नियमों के बन्धन भी अधिक जटिल तथा कठोर हैं जो नाटक की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। स्टेण्डल ने उपन्यास की तुलना किसी राज-मार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए विशाल दर्पण से की है जिसमें प्रतिक्षण यथार्थ जीवन की छाया पड़ती रहती है। यह तुलना अत्यन्त समीचीन है, यह बात अनेक उपन्यासों में यथातथ्य निरूपण की प्रवृत्ति से भी सिद्ध होती है। जोला ने प्रयोगशील उपन्यासों के लिए वास्तविक जीवन से अधिक-से-अधिक तथ्यों के एकत्र करने तथा उनके उपयोग की आवश्यकता पर जोर दिया है। यद्यपि परवर्ती-काल में थोड़े ही लोगों ने जोला के मार्ग का अनुसरण किया तथापि आज उपन्यास के लिए जीवन के वास्तविक तथ्यों का महत्त्व सभी मानते हैं। ऐसी कथाएँ जिनका ढाँचा यथार्थ जीवन की नींव पर खड़ा नहीं किया गया है और जिनमें

केवल कल्पना और भावना का बाहुल्य है, रोमान्स अथवा किसी अन्य नाम से अभिहित होती हैं, उपन्यास की संज्ञा उन्हें नहीं मिलती।

उपन्यास कला है, अतएव जीवन की अनुकृति होने के अतिरिक्त उसमें किसी-न-किसी अंश में निर्माण-सौष्ठव का रहना आवश्यक है। उपन्यासकार एक खाका खींचकर जीवन को रेखाओं के भीतर बाँधना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो एक विशिष्ट चित्र तैयार न हो। यथार्थ को सीमाओं के भीतर बाँधने पर ही उसका स्वरूप निखरकर और सार्थक होकर सामने आता है। यह सच है कि उपन्यास में जीवन इतनी शक्ति और तीव्रता के साथ प्रवाहित होता है कि उसके लिए कलाकार द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन करना स्वाभाविक है। सीमा-रेखाएँ जीवन के प्रवाह के कारण नित्य धूमिल होती तथा मिटती रहती हैं किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उनका प्रयोजन नहीं है। सिद्ध केवल यह होता है कि उपन्यास से सम्बन्धित निर्माण के नियम उतनी ही कड़ाई से लागू नहीं किये जा सकते जितने अन्य साहित्य-रूपों के। आकृति अथवा रूप-वैशिष्ट्य का होना केवल वाञ्छनीय ही नहीं वरन् अनिवार्य है। उसके अभाव में जीवन के कोरे वर्णन-मात्र को हम उपन्यास नहीं कह सकते; न उसमें सौन्दर्य होगा और न रोचकता होगी। जीवन और रूप-वैशिष्ट्य के मिश्रण से ही उपन्यास का रूप खड़ा होता है। यह कहना कठिन है कि इनमें किसका महत्त्व अधिक है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त रहने की क्षमता निहित है। साधारणतया जीवन और कला के अविच्छिन्न सम्बन्ध को हम उपन्यासों में सरलता-पूर्वक देख सकते हैं। स्वरूप के आधार पर इनका विभाजन भी हुआ है और निर्माण-पद्धति के आधार पर किसी को नाटकों के निकट और किसी को महाकाव्यों के निकट बताया गया है, किन्तु विश्व-साहित्य में कुछ ऐसे उपन्यास भी मिलते हैं जिनमें वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का इतना विशाल भाग समाविष्ट किया गया है कि साधारण पाठकों के लिए सीमा-रेखाओं का ग्रहण करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ हम बालजाक-लिखित **कामेडी ह्यूमाइन** अथवा टॉल्स्टाय-रचित **वार एण्ड पीस** को ले सकते हैं। प्रेमचन्द का प्रसिद्ध उपन्यास **रंगभूमि** भी इसी श्रेणी का उपन्यास है। तब भी जानकार पाठक निरीक्षण द्वारा इन बृहद् उपन्यासों के बाहरी खाके को समझ सकते हैं। इन कृतियों की महानता इसमें है कि उनकी ससीम परिधि में असीम जीवन को भर दिया गया है।

उपन्यास का स्वरूप किस प्रकार निर्धारित होता है, इसके सम्बन्ध में नवीन युग के विचारकों ने कई प्रकार के मत प्रकट किये हैं। कतिपय साहित्य-मर्मज्ञों का विचार है कि किसी उपन्यास का स्वरूप उसकी आन्तरिक प्रक्रिया अर्थात् परिस्थिति, घटना, चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध तथा इस सम्बन्ध के विकास के आधार पर बनता है। कुछ अन्य विचारक इससे भिन्न मत रखते हैं। उनकी धारणा है कि किसी उपन्यास का आकार अथवा पैटर्न बाह्य प्रभावों के आघात-प्रत्याघात से निरूपित होता है। अमरीका में नवीन विचारकों का एक सम्प्रदाय है जिसने अपने मत को व्यक्त करने के लिए विज्ञान का सहारा लिया है। प्राकृतिक प्रभावों से जिस भाँति समुद्र के रेत पर अथवा पहाड़ की शिलाओं पर चित्र बन जाते हैं उसी तरह सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों तथा प्रभावों के फलस्वरूप किसी काव्य-रूप का वास्तविक स्वरूप भी निर्धारित होता है। मध्य-युग में जब सामन्तशाही सामाजिक विधान का ढाँचा, सुदृढ़ बन्धनों से

विविध अवयवों को बाँधकर एक पिरामिड की तरह खड़ा था, उस समय महाकाव्यों का प्रचलन तथा विकास स्वाभाविक था, क्योंकि विशालता, दृढ़ता तथा निर्माण-कौशल की दृष्टि से सामन्तशाही सामाजिक व्यवस्था तथा महाकाव्य के आकार-प्रकार में पर्याप्त साम्य है। सामन्तशाही के अन्त होने पर समाज का ढाँचा ढीला हो गया तथा उसके विविध अवयव बिखर उठे। अतएव उपन्यासों का आविर्भाव हुआ, जिनके स्वरूप तथा आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त साम्य है। दोनों में ही नियमों के बन्धन होते हुए भी पर्याप्त स्वतन्त्रता अवशिष्ट रह जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर कुछ लोग उपन्यास को वर्तमान युग का महाकाव्य कहते हैं। सूक्ष्म अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि पूँजीवाद का विकास, उसका पतन अथवा विघटन सभी अवस्थाओं का उपन्यास प्रतिरूप रहा है और उसके स्वरूप में निरन्तर परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन होता आया है।

उपन्यास के प्रमुख उपकरण हैं कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन तथा वर्णन। कथा का सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक धारावाहिक रूप से बढ़ता चलता है। घटना-क्रम के अतिरिक्त परिस्थितियां तथा दृश्यों का भी दिग्दर्शन होता रहता है। कथा सरिता की धारा के समान है और उन परिस्थितियों की, जिनके बीच से होकर यह धारा अग्रसर होती है, हम सरिता के दोनों किनारों से तुलना कर सकते हैं। उपन्यास में वैयक्तिक जीवन का निरूपण सामाजिक अथवा जातीय जीवन को पृष्ठभूमि बनाकर होता है। अतएव उसमें कल्पना के साथ यथार्थ का मेल अनिवार्य है। इस प्रकार के उपन्यास हमें प्राचीन महाकाव्यों का स्मरण दिलाते हैं, जिनमें जातीय जीवन की पीठिका सदैव विद्यमान रहती थी। कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिनको चरित्र-प्रधान कहा जाता है। उनका यह नाम अधिक सार्थक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसे उपन्यासों में चरित्र का विकास नहीं होता, केवल क्षेत्र अथवा वातावरण का निरन्तर विस्तार होता है। सतत परिवर्तनशील तथा वर्धनशील वातावरण में स्थित अपरिवर्तनशील पात्र निर्जीव मालूम पड़ते हैं, अथवा परिस्थितियों में निहित द्वन्द्व के कारण उनमें कभी-कभी जीवन का आभास-मात्र मिलता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'सर वाल्टर स्कॉट' के कतिपय उपन्यासों में महाकाव्य-शैली तथा चरित्र-प्रधान-शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। सबसे सफल निर्माण-पद्धति नाटकीय उपन्यासों की है, जिनमें क्रिया-क्षेत्र सीमित तथा स्थिर रहता है; किन्तु उस परिधि के भीतर परिस्थिति और चरित्र के घात-प्रतिघात से कथा का सतत विकास होता रहता है। चरित्र भी नाटक के पात्रों के समान सजीव एवं क्रियाशील होते हैं और परिस्थितियों के अनुकूल ही उनके स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। 'जेन आस्टेन' और 'मेरेडिथ' के उपन्यासों में नाटकीय शैली का अच्छा उपयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण की पद्धति के अनुसार दो श्रेणियों में विभाजन किया है। पहली कोटि के वे पात्र हैं जिनमें सजीवता के सभी चिह्न मिलते हैं। इस प्रकार के जीवित पात्रों को 'राउण्ड' अथवा 'गोल' तथा इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के अपूर्ण रूप वाले जीवन के स्पन्दन से रहित पात्रों को 'फ़्लैट' अथवा 'चपटा' कहा गया है। कथोपकथन का उपयोग सभी उपन्यासों में होता है, किन्तु नाटकीय शैली के उपन्यासों में उनका विशेष महत्त्व है। कला की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्रों के चरित्र-वैशिष्ट्य के अनुकूल हो और उसमें गति हो। चरित्र का स्पष्टीकरण पात्र जो-कुछ कहते अथवा करते हैं उसीसे होता है। इस दृष्टि से चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वार्तालाप में चुस्ती रहने से न केवल

कथा के प्रवाह को सहायता मिलती है वरन् उपन्यास की रोचकता में भी अभिवृद्धि होती है। उपन्यासों में वर्णनों की उपादेयता विवादग्रस्त है। पाश्चात्य उपन्यासों की प्राचीन परिपाटी के अनुसार विस्तृत वर्णनों द्वारा उपन्यासों को सजाया जाता था। हिन्दी के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति कुछ दिन पहले अत्यन्त बलवती थी, किन्तु अब भी कुछ उपन्यासकार अपनी कृतियों में लम्बे वर्णनों का समावेश करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे वर्णन गतिहीन होते हैं और वे कथा की प्रगति में बाधा उत्पन्न करते हैं। वातावरण के निर्माण में उनसे सहायता अवश्य मिलती है, किन्तु सफल लेखकों द्वारा इस उद्देश्य की सिद्धि छोटे किन्तु उपयुक्त वर्णनों द्वारा सरलतापूर्वक हो जाती है। प्रसिद्ध विचारक 'लेसिंग' ने इस बात का संकेत किया है कि काव्य के गतिशील स्वभाव तथा वर्णनों के स्थिर स्वरूप में तात्त्विक विरोध हैं। इन उपकरणों के अतिरिक्त उपन्यास में कभी-कभी एक विशिष्ट वातावरण के निर्माण के लिए स्थानीय तथ्यों, पात्रों तथा घटनाओं आदि का अंकन किया जाता है, जिससे स्थान-विशेष तथा उसके जीवन का रूप खड़ा हो जाता है।

अमरीकन उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने एक स्थल पर लिखा है कि उपन्यास के केवल दो ही प्रकार हो सकते हैं—जीवन्त उपन्यास तथा जीवन-रहित उपन्यास। जीवन-रहित उपन्यास से उन असफल उपन्यासों की ओर संकेत है जो अगणित संख्या में नित्य-प्रति प्रकाशित होते रहते हैं, किन्तु जिनमें कला का चमत्कार नहीं मिलता। जीवन्त उपन्यासों की समानता जीवित प्राणियों से है, जिनको हम विविध अंगों का संकलन-मात्र नहीं मान सकते। यह मानना कि उपन्यास के विभिन्न अंग जैसे कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन इत्यादि एक-दूसरे से पृथक् अथवा विरोधी तत्त्वों की भाँति उपन्यास के भीतर रहते हैं, केवल भ्रम-मात्र है। वास्तव में विश्लेषण द्वारा उनको एक-दूसरे से अलग कर देना असम्भव है। एक साथ रहकर और एक-दूसरे के सहयोग से वे उपन्यास के जीवित रूप को प्रस्तुत करते हैं। ऐसी कथावस्तु की कल्पना, जिसमें चरित्र का अंश न हो, हम नहीं कर सकते। घटना-क्रम में पात्रों के संकल्प-विकल्प प्रच्छन्न रूप से निहित रहते हैं। कथोपकंथन में वर्णन का अंश रहता है और उससे चरित्र-चित्रण और वस्तु-विन्यास दोनों को सहारा मिलता है। अभिप्राय यह है कि उपन्यास के जिन विविध उपकरणों का हमने ऊपर उल्लेख किया है वे सभी एक-दूसरे से अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं और सभी मिलकर उपन्यास के प्रभाव-ऐक्य के अभीष्ट की सिद्धि के लिए संलग्न रहते हैं। उपन्यासकार के लिए उपलब्ध साधनों की सहायता से उपन्यास का सजीव रूप प्रस्तुत कर देना ही सबसे प्रमुख ध्येय है। इस कार्य में उसको अपने निजी अनुभव से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। अनुभव क्या है यह कहना अत्यन्त कठिन है; किन्तु यह निर्विवाद ही है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य तथ्यों के ग्रहण करने को ही अनुभव नहीं कहते; विचार और कल्पना द्वारा पदार्थों तथा घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्ध का ज्ञान भी अनुभव का अनिवार्य अंग है। इसी भाँति बीती बातों का स्मरण अथवा भावी सम्भावनाओं की कल्पना यह सब भी अनुभव से अलग नहीं किये जा सकते। अनुभव के सहारे ही उपन्यास-लेखक यथार्थ जीवन से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और पुनः अपने ज्ञान को अपनी कृतियों में समाविष्ट करता है। उपन्यास की यह एक विशेषता है कि उसमें उपन्यासकार के तीव्र व्यक्तिगत अनुभव का समावेश मिलता है। अन्य साहित्य-रूपों में नियमों के बन्धन के कारण इस व्यक्तिगत अनुभव की तीव्रता कम हो जाती है और उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है, किन्तु जैसा ऊपर लिख आए हैं उपन्यास अपेक्षाकृत उन्मुक्त वातावरण में विकसित

होता है, अतएव कलाकार की भावनाओं और अनुभवों का वास्तविक रूप सामने आता है।

उपन्यास की धारणा में लेखक के अभिप्राय और प्रयोजन का भी हाथ रहता है। उपन्यास-लेखन का सर्वमान्य प्रयोजन तो पाठकों का मनोविनोद करना है। यदि उपन्यास रुचिकर नहीं है तो गूढ़ विचारों के रहते हुए भी वह लोकप्रिय एवं सफल न बन सकेगा। साहित्य होने के कारण सुरुचि-सम्पन्न पाठकों के मन पर उसका प्रभाव पड़ना आवश्यक है, अन्यथा वह अपने अपेक्षित धर्म से च्युत माना जायगा। इसके अतिरिक्त लेखक का अन्य अभिप्राय भी होता है जिसके अनुसार वह अपनी रचना का स्वरूप निर्मित करता है। इस प्रकार उद्देश्य तथा शैली एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न हैं। दो-एक उदाहरणों द्वारा हम अपनी बात को अधिक स्पष्ट करेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में जोला तथा उनके उपरान्त मोपासाँ प्रभृति उनके अनुयायियों ने यह घोषित किया कि उपन्यास का चरम उद्देश्य जीवन के एक खण्ड को बिना किसी परिवर्तन के जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना है। इसी अभिप्राय से प्रेरित होकर इस समुदाय के लेखकों ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमें बहुसंख्यक छोटे-बड़े तथ्यों की सहायता से जीवन का यथातथ्य निरूपण हुआ। कुछ वर्षों के पश्चात् कतिपय ऐसे लेखक फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में हुए जिन्होंने भौतिक तत्त्वों को नगण्य तथा निष्प्रयोजन बतलाकर सतत प्रवाहित होने वाली चेतना की अविरल धारा को सबसे अधिक महत्त्व दिया। इस धारा में उठने वाली ऊर्मियों तथा बुद्बुदों को उपन्यास में अंकित करना उन्होंने उपन्यासकार का उच्चतम कर्तव्य माना। मानसिक क्रियाओं तथा आवेगों की अभिव्यक्ति पर इतना अधिक आग्रह हुआ कि स्थूल भौतिक जीवन तथा परम्परागत कला के नियमों की पूर्ण अवहेलना होने लगी। प्रूस्ट तथा जेम्स ज्वायस आदि उपन्यास-लेखकों ने चेतन तथा अवचेतन मन की क्रियाओं पर आधारित अपनी नवीन तथा स्वतन्त्र रचनाओं द्वारा उपन्यास-रचना के क्षेत्र में नया आदर्श उपस्थित कर दिया है। यह बात ध्यान देने की है कि प्रयोजन के साथ-ही-साथ निर्माण-पद्धति में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। यही बात उन उपन्यासों से भी सिद्ध होती है जिनमें सामाजिक प्रभावों का निरूपण तथा सामाजिक विधान की आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। वर्तमान युग के अनेक उपन्यासों में दलित तथा शोषित वर्ग की कल्पना धीरोदात्त नायक के रूप में हुई है तथा अभिजात वर्ग के शोषणकर्ता अत्यन्त हेय तथा गर्हित रूप में चित्रित हुए हैं। कथावस्तु का विकास अधिकांश वर्ग-संघर्ष द्वारा होता है। इस बात के अन्य भी अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि उपन्यास-लेखन की कला सोद्देश्य है और सदैव उद्देश्य अथवा अभिप्राय से रचना को न केवल एकरूपता मिलती है वरन् बहुत-कुछ उसका स्वरूप भी निर्धारित होता है।

उपन्यास अनेक प्रकार के होते हैं और यह वैविध्य समृद्धि का सूचक है। उपन्यासों का विभाजन विषय, शैली तथा स्वरूप के आधार पर अनेक प्रकार से किया जा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास कल्पना और यथार्थ के मिश्रण द्वारा अतीत के चित्र उपस्थित करते हैं। उनसे केवल बीते दिनों की जानकारी ही नहीं बढ़ती अपितु समय के उस प्रवाह का पता भी चलता है जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य को एक सूत्र में बाँधता है। ऐतिहासिक उपन्यास वर्तमान से हटकर प्राचीन युगों में काल्पनिक पलायन के प्रयोजन से नहीं लिखे जाते। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सम्बन्ध में हम ऊपर कुछ लिख चुके हैं। कुछ दिनों तक उनका प्रचलन बहुत बढ़ा हुआ था, किन्तु गत दस वर्षों में विभिन्न देशों में रुचि-परिवर्तन के कारण लोग पुनः ऐसे उपन्यासों की ओर

प्रवृत्त हो रहे हैं जिनमें साधारण ढंग से कोई रोचक कथा कही जाती है। ऐसे उपन्यासों में जीवन की सहज अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ जटिलता एवं दुरूहता का अभाव रहता है। बनावट एवं स्वरूप की दृष्टि से भेद करने पर कुछ ऐसे उपन्यास मिलते हैं जो अत्यन्त सुगठित होते हैं, और कुछ अन्य ऐसे जिनके विभिन्न अवयव एक-दूसरे से केवल ढीली तरह जुड़े होते हैं। हम यहाँ उपन्यासों का विभाजन नहीं करना चाहते, केवल उनकी विविधता की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही हमारा लक्ष्य है। वास्तविक जीवन के अत्यधिक निकट होने के कारण ही उपन्यास में इतनी विविधता का समावेश हो सकता है और इसीमें उसकी विशेषता तथा गौरव है।

मोहन राकेश

उपन्यास और यथार्थ चित्रण

: १ :

सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न है कि यथार्थ क्या है? क्या जिसकी स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास है वही यथार्थ है? जिस अनुभूति के आधार में स्थूल की चेतना किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है क्या वही यथार्थ की अनुभूति है? यथार्थ के विपर्यय में हम आदर्श और कल्पना इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। आदर्श का अर्थ एक ऐसी स्थिति या ऐसी अवस्था है जो हमें अप्राप्त है, पर जिसकी हम कामना करते हैं। कामना का अंश अनिवार्य होने से और अप्राप्त का एक मानसिक चित्र बना रहने से आदर्श यथार्थ और कल्पना के बीच की चीज़ है। कल्पना आदर्श द्वारा अनुप्राणित भी हो सकती है और उससे रहित भी। आदर्श की प्राप्ति के पीछे सदा वर्तमान यथार्थ से आगे प्रगति करने की चेतना निहित रहती है। कल्पना के क्षेत्र में प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य नहीं। कल्पना चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असंगति को संगति में बदल लेती है। जो संगति सम्भव को लेकर चलती है वह आदर्श या उसके विपरीत हो सकती है। पर जो संगति असम्भव को लेकर चलती है वह कोरी कल्पना रह जाती है। मनुष्य में कल्पना-शक्ति का होना यथार्थ है। भावुकता की प्रवृत्ति का होना यथार्थ है। यथार्थ का चित्रण करने वाला लेखक जब उचित संगति में अपने चरित्र की कल्पना या भावुकता का चित्रण करता है तो वह यथार्थ का ही चित्रण है। भेद वहाँ पैदा होता है जहाँ लेखक जीवन की संगति को छोड़कर किसी अप्राप्त या अप्राप्य संगति को सामने ले आता है। जिस मात्रा में वह जीवन की प्राप्त संगति से दूर जाता है उसी मात्रा में उसकी रचना यथार्थ से दूर हट जाती है। जीवन की परिस्थितियों द्वारा पुष्ट भावुकता के अनेक उदाहरण हमें शरत् की रचनाओं में मिलते हैं। इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यथार्थवादी रचना का क्षेत्र मनुष्य का अन्तर्मन और उसकी अन्तर्वृत्तियाँ भी हैं—जहाँ तक उनका अनुकूल संगति में चित्रण किया जा सकता है। अनुकूल संगति में जो अपील एक अर्धध्वनित शब्द में होती है वह अनुकूल संगति के अभाव में किसी के पचास बार 'भुवन, भुवन, मेरे भाव-शिशु, देवशिशु' कहने में नहीं आ सकती। जीवन की संगति से ही वेदना को भी शक्ति प्राप्त होती है। वेदना की बौद्धिक स्वीकृति किसी को वेदनात्म नहीं बना देती। वेदना निस्सन्देह हृदय को पिघलाती है पर वेदना का दर्शन हृदय को नहीं पिघलाता। इसलिए 'ले मिज़राब' के ज्याँ-वेल्ज्याँ की वेदना तो हृदय को द्रव की अवस्था में ले जाती है पर 'नदी के द्वीप' के भुवन और रेखा की वेदना स्वीकृति हृदय को उस द्रव की अवस्था में नहीं ला पाती।

: २ :

इसी सन्दर्भ में हम उपन्यासों में लम्बे-लम्बे सैद्धान्तिक विवेचन या व्याख्यान-भर देने की प्रवृत्ति पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं। कुछ उपन्यासों में तो कथा का ढाँचा जैसे पहले से तैयार किये हुए भाषणों को स्थान देने के लिए ही खड़ा किया जाता है। ऐसे भाषणों द्वारा यथार्थ या आदर्श का पोषण किसी रचना को यथार्थवादी या आदर्शवादी नहीं बना देता। यदि ऐसे किसी उपन्यास में कोई नई शृङ्खलाबद्ध चिन्तन-धारा मिले तो उसे अधिक-से-अधिक उपन्यास-रूप में लिखा गया सिद्धान्त-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। वह उपन्यास तभी होगा जब उसके पात्रों द्वारा कहा गया एक-एक शब्द उनके जीवन की परिस्थितियों द्वारा उन्हें विवश करके कहलाया गया हो। तभी उसमें हम यथार्थ की शक्ति का परिचय पा सकते हैं। तब यदि लम्बे-लम्बे भाषण भी हों तो वे रेडीमेड बाहर से लाकर वहाँ रखे गए प्रतीत नहीं होते। उदाहरण के लिए हम शरत् के 'चरित्रहीन' की किरणमयी के उद्गारों को ले सकते हैं। किरणमयी का आक्रोश उसके जीवन की परिस्थितियों द्वारा पुष्ट है। इसीलिए उसके एक-एक शब्द में जान है, चुभ जाने और छा जाने की शक्ति है। यह शक्ति आज के कथा-साहित्य के उन सिनिक पात्रों के उद्गारों में नहीं है जो अपने को हीरो की स्थिति में देखते हुए जीवन के प्रति आक्रोश प्रकट करते हैं। इसी तरह दास्ताएव्स्की के पात्रों के धर्म और नैतिकता आदि के सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे भाषण उनकी रचनाओं के उपन्यास-तत्त्व को हीन नहीं करते, क्योंकि वे भाषण कथा के प्रवाह में अनिवार्य कड़ियाँ बनकर आते हैं। जीवन की पृष्ठभूमि उनके लिए स्थान तैयार करती है। परन्तु 'मुक्तिदूत' जैसे उपन्यास में हमें जो भाषण मिलते हैं, वे जीवन की पृष्ठभूमि के आगे उभरकर नहीं आते। ऐसे उपन्यास का वातावरण यथार्थ का वातावरण नहीं कहा जा सकता।

: ३ :

यथार्थ चित्रण के प्रसंग में एक प्रश्न यह भी पैदा होता है कि जीवन की पृष्ठभूमि में स्थानीय रंगों का लाना कहाँ तक वांछनीय है। कुछ लोगों की यह धारणा संगत प्रतीत नहीं होती कि स्थानीय रंगों के लाने से उपन्यास की अपील एक वर्ग-विशेष तक ही सीमित रह जाती है। यह ठीक है कि मानव-प्रकृति में और उसकी भौगोलिक पृष्ठभूमि में बहुत-कुछ ऐसा है जो सब जगह समान मिल सकता है और उसका ऐसा ही चित्रण होना चाहिए जो व्यापक रूप से ग्राह्य हो। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा अन्यान्य कारणों से एक देश या देश-खण्ड की प्रकृति में कुछ विशेषताएँ पैदा हो जाती हैं जो उसे दूसरों से किन्हीं दिशाओं में भिन्न कर देती हैं। 'जोश' मलीहाबादी की जमीन 'जर्राते खाकी' से बनी है; मगर त्रिवांकुर के लेखक के लिए जमीन खाकी नहीं है, गेरुए रंग की है। कन्याकुमारी के तट के रेत में हम कई तरह के रंग झलकते देखते हैं, जो अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी की अलग-अलग देन का परिणाम हैं। संस्कृति के इतिहास में भी नाना जातियों की ऐसी देन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथार्थ का तक़ाज़ा है कि हमारी रचनाओं में उन रंगों का सही चित्रण हो—वे रंग मिट्टी के हों या मानव के सामाजिक व्यवहार के। जमीन एक है मगर दिल्ली और त्रिवांकुर में उसके अलग-अलग रंगों का उल्लेख अनिवार्य है। इसी तरह मानव एक है, पर पंजाब के जाट और लखनऊ के नवाब की बातचीत और व्यवहार-चेष्टा आदि के भेद

को दृष्टि में रखे बिना उनका यथार्थ चित्रण नहीं किया जा सकता। जीवन के स्थानीय रंगों का वास्तविक और सहानुभूतिपूर्ण चित्रण और उनके वैसा होने के कारणों का विश्लेषण रचना की अपील को कम नहीं करता बल्कि उसमें जान डाल देता है। हार्डी, टाल्स्टाय, चेखव, शरत् और प्रेमचन्द की रचनाओं की सबसे बड़ी शक्ति जीवन के स्थानीय रंगों की पहचान और उन्हें उनकी वास्तविकता में अंकित कर देने की योग्यता ही है।

सामान्यतया भारतीयों को भावुक-प्रकृति कहा जाता है। भावुकता मन की तरल दशा है; और एक गरम देश के लोगों का भावुक होना स्वाभाविक है। इसीसे हमें सहिष्णुता, स्निग्धता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि मिली है। साथ ही यही कारण हमारी स्नायविक दुर्बलता का है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में हमारी भावुकता ने भिन्न-भिन्न रूप ले लिए हैं। कहीं यह भावुकता रूढ़ियों के प्रति विशेष आग्रह के रूप में दिखाई देती है, तो कहीं नवीन के प्रति अन्ध आस्था के रूप में। हमारी भावुकता ही हमारे लिए राजनीति को धर्म, और धर्म को राजनीति बना देती है। पिछली कई शताब्दियों की आर्थिक परिस्थितियाँ भी हमारी कई स्वभावगत विशेषताओं के लिए उत्तरदायी हैं। इन विशेषताओं से सम्पन्न विशुद्ध भारतीय चरित्र हमें शरत् और प्रेमचन्द की रचनाओं में तो मिलते हैं पर उनके बाद के साहित्य में बहुत कम दिखाई देते हैं। शरत् का विप्रदास और प्रेमचन्द का सूरदास इसी भूमि की उपज हो सकते हैं, और हैं। परन्तु 'अज्ञेय' का शेखर किसी भी भूमि की उपज हो सकता है। ऐसे सार्वभौम से चरित्रों साथ संवेदनशील हृदय निजत्व का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता—अधिक-से-अधिक वे देव-प्रतिमाओं की तरह उसकी आस्था के विषय बन सकते हैं। रोम्याँ रोलाँ का ज्याँ क्रिस्तफ़ भी, जिससे शायद लेखक ने शेखर की रचना की प्रेरणा ली है, शेखर की अपेक्षा कहीं अधिक अपने देश की स्थानीय मिट्टी का बना हुआ चरित्र है। उसके शरीर में जर्मनी का खून खौलता है और वह फ्रांस में रहकर भी अपनी इस भिन्नता को छिपा नहीं सकता। फिर क्रिस्तफ़ के चरित्र में वह सन्तुलन भी है, जो उसके क़दमों को सामान्य जीवन के धरातल पर टिकाए रखता है। उपन्यासकार की सफलता ऐसे चरित्रों की सृष्टि में नहीं, जो लेखक के निजी अहं का या किन्हीं बँधी हुई विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि ऐसे चरित्रों की सृष्टि में है, जो आस-पास के जीवन में पहचाने जा सकते हैं, जिनके नक़्श, जिनकी भाव-मुद्राएँ और जिनके पसीने की गन्ध तक हमारी पहचानी हुई होती है और जिनके विषय में हम तुरन्त कह देते हैं कि ऐसी परिस्थिति में इस व्यक्ति का यह आचरण स्वाभाविक था या ऐसी परिस्थिति में यह व्यक्ति ऐसा आचरण कर ही नहीं सकता था। वे चरित्र हमारे इतने अपने होते हैं कि सहज ही हमारा उनके जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

: ४ :

पिछले पैंतीस वर्षों में भारत के इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। इस काल के आरम्भ में हम जलियाँवाला बाग़ का हत्याकाण्ड देखते हैं। कांग्रेस का स्वतन्त्रता-आन्दोलन उस हत्याकाण्ड के बाद नई दिशा लेने लगता है। युवकों का एक गिरोह कांग्रेस के रास्ते को छोड़कर आतंकवादी बन जाता है। ये आतंकवादी युवक समाज की भावुकता के आदर्श बन जाते हैं। 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' का नारा ऊँचे स्वर में बुलन्द होता है। भगतसिंह, राजगुरु और

सुखदेव को विदेशी हुकूमत द्वारा फाँसी दे दी जाती है। जनता के हृदय में विदेशी सत्ता के प्रति घृणा बहुत ही तीव्र हो उठती है। उधर हिन्दू-मुस्लिम फिसाद विषम रूप धारण करने लगते हैं और कांग्रेस के अन्दरूनी झगड़े उसकी शक्ति को कमजोर करते नजर आते हैं। शहीदगंज के प्रश्न पर बहुत से मुसलमान कांग्रेस को छोड़कर चले जाते हैं। प्रान्तीय शासनाधिकार प्राप्त होते हैं और फिर महायुद्ध छिड़ जाता है। सन् बयालीस में 'भारत छोड़ दो' का आन्दोलन उठता है और कांग्रेसी नेता क़ैद कर दिये जाते हैं। बंगाल में अकाल पड़ता है, जिसके परिणाम देश की चेतना में भूकम्प पैदा कर देते हैं। आर्थिक परिस्थितियाँ सदियों की मान्यताओं को जल्दी-जल्दी तोड़ने लगती हैं। जीवन के आर्थिक न्याय के प्रति लोगों की रुचि जाग्रत होती है और समाज पुरानी केंचुली में से निकलने के लिए सचेष्ट हो उठता है। युद्ध समाप्त होता है और कांग्रेसी नेता छोड़ दिए जाते हैं। मुस्लिम लीग के आन्दोलन के कारण साम्प्रदायिक भावना जोर पकड़ जाती है। अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाने के निश्चय की घोषणा कर देते हैं। देश का विभाजन हो जाता है। विभाजन से जीवन में क्रन्दन और चीत्कार की ध्वनि आ मिलती है। स्वदेशी सत्ता के आ जाने से कुछ दिशाओं में प्रगति दिखाई देती है, पर साथ ही अवसरवाद का बोल-बाला दिखाई देने लगता है। अनेक संकीर्ण स्वार्थ उभर आते हैं और जिस वायु से करोड़ों व्यक्ति प्राण पाने की आशा रखते थे वह धूल से भर जाती है; जहाँ श्वास लेना भी कठिन है और न लेना भी। फिर वायु-मण्डल को साफ़ करने के कुछ हार्दिक प्रयत्न दिखाई देते हैं और नया उठता हुआ गर्दो-गुबार !

: ५ :

इन पैंतीस वर्षों में हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गए हैं उनमें कुछ तो ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनकी अपनी एक श्रेणी है। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी और उपेन्द्रनाथ अश्क प्रभृति लेखकों ने इस काल में अपने आस-पास के जीवन और उसकी परिस्थितियों को लेकर लिखा है और जीवन के प्रवाह में रहकर उससे दिशा ग्रहण करते हुए और उसे दिशा देने की चेष्टा करते हुए लिखा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में निःसन्देह प्रेमचन्द का समय मुखर हो उठा है। उनके चरित्रों के साथ हमारा तादात्म्य तुरन्त स्थापित हो जाता है। परन्तु वहाँ उनके चरित्र कमज़ोर हो गए हैं जहाँ उन्होंने अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दृष्टिकोण के निर्वहन के लिए उनसे प्रचार का काम लिया है। वे चरित्र उसी हद तक कमज़ोर हैं जिस हद तक वे यथार्थ के पुत्र न होकर आदर्श के पुत्र हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि मानव में आदर्श भाव का होना यथार्थ है। एक आदर्शवादी चरित्र का सन्तुलित चित्रण उसे अयथार्थ नहीं होने देता। वह यथार्थ तब हो जाता है जब चरित्र में नहीं, चित्रण में आदर्श का पुट आ जाता है। चित्रण की भावुकता चरित्र की भावुकता से अलग चीज है। 'गोदान' में आकर प्रेमचन्द की दृष्टि उतनी भावुक नहीं रही। वहाँ उनकी दृष्टि ने यथार्थ को उसके अधिक सत्य रूप में देखा है। इसीलिए उस रचना की अपील प्रेमचन्द की अन्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक है।

जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओं में राजनीति को केवल बौद्धिक रूप में ग्रहण किया है। उनके चरित्र राजनीतिक हलचलों से उतना प्रभावित नहीं होते जितना उनके विषय में सोचते

हैं। उन पात्रों के आदर्श भी समय की परिस्थितियों द्वारा बोधित होने वाले भविष्य के आदर्श नहीं। 'सुनीता', 'सुखदा' और 'व्यतीत' में जो जीवन हमारे सामने आता है वह एक बुद्धिवादी की टेबल पर बनता और घटित होता हुआ जीवन है, हमारे चारों ओर उमड़ता और हमें प्रभावित करता हुआ जीवन नहीं। सुनीता जैसी नारी की चरम भावुकता जिस संगति में उत्पन्न होती है वह संगति किसी फ़ैंटेसी की संगति प्रतीत होती है। और फिर राजनीतिक जागरूकता के बावजूद, जैनेन्द्र की रचनाओं में ऐसा तत्त्व बहुत कम है जो उनके और केवल उनके समय की ही देन हो—उस समय की जो जलियाँ वाला बाग के हत्याकाण्ड से आरम्भ होता है और आज के 'आत्मन एव समर्पये' के युग तक आता है।

'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' में जो चित्र दिये हैं वे उनके समय के चित्र तो हैं पर वे एक वर्ग के एक बहुत छोटे से अंग के चित्र हैं। फिर उन्होंने जिन इन्सानों को लिया है उनके भी अस्वस्थ पहलुओं को ही उघाड़ा है, उनके स्वस्थ पहलुओं या वैसी सम्भावनाओं को देखने का प्रयत्न नहीं किया। 'गर्म राख' के हरीशजी, जो अस्वस्थ वायु-मण्डल में रहकर भी उससे अछूते हैं, एक बोलने वाले सुन्दर खिलौने की तरह ही जीवित हैं, जिसके मुख से लेखक ने जब जो चाहा है कहला दिया है। यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और इलाचन्द्र जोशी की कृतियों में हमें अपने काल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के कई यथार्थ चित्र मिलते हैं, परन्तु यह सवाल बार-बार सामने आ जाता है कि हमारे जीवन में जितनी हलचल हुई और हो रही है, क्या उसका सही अनुमान हमारे उपन्यास-साहित्य को पढ़कर हो सकता है? परिस्थितियाँ निःसन्देह ऐसी रही हैं कि उन्हें लेकर महाभारत लिखे जा सकते थे। परन्तु क्या वे लिखे गए हैं? यदि नहीं तो क्यों? निःसंदेह 'शेखर', 'संन्यासी' और 'चित्रलेखा' की रचना करने वाली प्रतिभा उनकी सृष्टि कर सकती थी। फिर उनकी सृष्टि क्यों नहीं हुई?

आज हमारा जीवन प्रतिदिन विश्व की और अपने देश की आन्तरिक हलचलों से प्रभावित हो रहा है। आज हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं। इस उत्कम्प में मिले हुए हैं कुछ संकुल स्वार्थ, कुछ पंकिल-से ईर्ष्या-द्वेष, कुछ नन्ही-नन्ही चोंचों के उन्मीलन जैसी महत्त्वाकांक्षाएँ, कुछ थैली पर बैठे साँपों जैसे अहं और इन सबके प्रति असन्तोष, इन सबके प्रति विद्रोह भाव और इन सबको उखाड़ फेंकने की कामना और प्रवृत्ति। साथ ही राजनीतिक हलचलें जीवन पर इस तरह हावी हो रही हैं कि हमारा सांस्कृतिक जीवन रूखा और फीका पड़ता जा रहा है। कुछ बड़े-बड़े केन्द्रों की बात छोड़ दें तो अन्यत्र हमारा सांस्कृतिक जीवन बहुत-कुछ सिमटा-सिमटा-सा रह गया है। पुरानी परम्पराएँ हमसे छूटती जा रही हैं और नई परम्पराएँ विकसित नहीं हो पा रहीं। हमारी इकाइयों में उबलती हुई स्पिरिट वर्तमान है, पर उस स्पिरिट के सामूहिक उफान के अवसर नहीं आ पाते। आज वर्तमान की यही संकुल पृष्ठभूमि हमें प्राप्त है। इस पृष्ठभूमि के आगे, तेज़ी से बनते हुए इतिहास की साक्षी में, हम जो-कुछ देख रहे हैं, जो-कुछ अनुभव कर रहे हैं, जैसे जीना चाहते हैं और जैसे जी रहे हैं, इस सबका चित्रण आज के उपन्यास में तो और कहाँ होगा?

गुलाबराय

उपन्यास और नीति

वैसे तो उपन्यास और नीति का प्रश्न कला और नीति या आचार के व्यापक प्रश्न का ही अंग हैं, किन्तु उपन्यास के सम्बन्ध में यह प्रश्न कुछ उग्र रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश लोग उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु समझ लेते हैं। उनके लिए नीति की अपेक्षा मन को रमाने के गुण की अधिक खोज होती है, किन्तु उपन्यास अपने विकास में उस श्रेणी को पार कर चुका है जहाँ वह केवल कौतूहल की तृप्ति और मनोरंजन का साधन था। अब वह विचार के प्रचार में निबन्ध के निकट आता जा रहा है।

हमारे देश में तो साहित्य या काव्य को 'आह्लादैकमयी' और 'नियतिकृत नियम रहिता' कहा अवश्य है, और ये गुण उसमें किसी अंश में घटते भी हैं, किन्तु काव्य के प्रयोजनों में 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कान्ता का-सा प्रेमपूर्ण उपदेश देना भी काव्य के प्रयोजनों में आता है। जो बातें काव्य के लिए व्यापक रूप से कही जाती हैं वे उपन्यास पर भी काव्य के अंग होने के कारण लागू होती हैं। प्रश्न यह होता है उपदेश और नीति के लिए हम नीति और धर्मशास्त्र के ग्रन्थ ही क्यों न पढ़ें, उपन्यास या काव्य क्यों पढ़ें? इसका उत्तर हमारे यहाँ के साहित्य-शास्त्रियों ने इस प्रकार दिया है—वेदादि का उपदेश तो प्रभु के आदेश-सा होता है, उसमें विधि-निषेध की आज्ञा-मात्र रहती है। पुराणों का उपदेश सुहृद् का-सा होता है, उसमें ऊँच-नीच समझाकर बात को उदाहरण द्वारा पुष्ट किया जाता है, किन्तु काव्य का उपदेश स्त्री के उपदेश की भाँति प्रेम का आग्रह और हित-चिन्तन की भावना लेकर आता है। उपन्यास के द्वारा जो बातें कही जाती हैं वे सीधी उपदेश के रूप में नहीं वरन् एक सरस और हृदयग्राही ढंग से कही जाती हैं।

उपन्यास भी एक प्रकार से गद्य का प्रबन्ध-काव्य है। सीधा उपदेश तो प्रबन्ध-काव्य में भी ग्राह्य नहीं होता। वह तभी काव्य होता है जब प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी उपयुक्त पात्र द्वारा, जैसे 'रामचरितमानस' में सती अनसूया द्वारा पातिव्रत धर्म का उपदेश दिलाया गया है, अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। 'परीक्षा गुरु' आदि में नीति का उपदेश कुछ अधिक मात्रा में और प्रायः इसी ढंग से दिया गया है। उसने 'हितोपदेश' का ढंग अपनाया है, जिसमें बीच-बीच में उपदेशात्मक पद्यों का समावेश होता गया है। आजकल का उपन्यासकार गद्य की शक्तियों में अधिक विश्वास करता है और उपन्यास रंगमंच की भाँति विचारों के प्रचार का माध्यम बनता जाता है। हिन्दी-उपन्यास के माध्यम से गान्धीवाद (जैसे प्रेमचन्द और सियारामशरण के उपन्यासों में) और मार्क्सवाद (जैसे यशपाल, नागर और राहुल के उपन्यासों में) दोनों ही विचार-धाराओं

का प्रचार हुआ है। इन विचारों का प्रचार उपन्यास के उद्देश्य या जीवन-दर्शन के अन्तर्गत आता है।

यद्यपि गान्धीवादी विचार-धारा समाज में प्रतिष्ठित नैतिक मानों के कुछ अधिक अनुकूल पड़ती है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मार्क्सवादी विचार-धारा नितान्त अनैतिक है। उद्देश्य तो उसका भी शोषितों का उद्धार है, जो सर्वथा नैतिक है; किन्तु वह साधनों की नैतिकता की परवाह नहीं करता है और न वह हिंसा-अहिंसा का ही इतना ध्यान रखता है।

नीति के व्यापक अर्थ में हमारे जीवन को आगे बढ़ाने वाली जितनी चीजें हैं वे सब उसके अन्तर्गत आती हैं। मालिक-नौकर, अधिकारी-अधिकृत, अवर्ण-सवर्ण, साहूकार और कर्जदार, पूँजीपति और मजदूर, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा सास-बहू आदि के जितने सम्बन्ध हैं वे सब नीति के ही अन्तर्गत आते हैं और प्रेमचन्द, कौशिक एवं सुदर्शन आदि के उपन्यासों में इस मानवता-सम्बन्धी नीति का अच्छा उद्घाटन हुआ है।

नीति का एक संकुचित अर्थ भी है और उसमें अधिकांशतः यौन-सम्बन्ध आते हैं। लोक-मत में नीति से मतलब प्रायः यौन-नीति से होता है। किसी वस्तु को नैतिक या अनैतिक कहने का आधार या तो शास्त्र होता है, या अन्तःकरण या लोकमत। आजकल शास्त्र की बात भी लोकमत में ही अभिव्यक्त हुआ करती है। अन्तःकरण का सम्बन्ध व्यक्ति से रहता है और समाज का सम्बन्ध अधिकांश में लोकमत से रहता है। लोकमत से यदि कोई वस्तु ऊपर आती है तो वह है बौद्धिक विवेचन। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी 'चित्रलेखा' में इसीका आश्रय लिया है। कुछ उपन्यासों में यथार्थवाद के नाम पर मनोविश्लेषण और कुछ में स्वतन्त्रता के नाम पर नीति की अवहेलना की गई है।

उग्र, ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री आदि के उपन्यासों में वासना के नग्न रूप का चित्रण हुआ है। उनका मुक्त-कण्ठ से यही उद्घोष है कि वे चुनौती देते हैं कि कोई माई का लाल उनको झूठा प्रमाणित कर दे। यदि समाज बुरा है तो उसकी उपन्यासों में जो छाया पड़ेगी बुरी ही पड़ेगी। यह तो हम मानते हैं संसार सितासित तन्तुओं के ताने-बाने से बुना हुआ है, 'गुण दोषमय विश्व कीन्ह कर्तार। लेकिन गुण और दोष, पाप और पुण्य का भी एक अनुपात होता है। यदि उपन्यासकार पाठकों की इन्द्रिय-लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना और तुष्टि के लिए पाप-पक्ष को अतिरंजित करके दिखावे तो यह उसका ही उत्तरदायित्व है। मनुष्य भलाई की अपेक्षा बुराई को जल्दी ग्रहण करता है, क्योंकि उसको प्रलोभनों का एक काल्पनिक सुख मिलता है। पहले तो काल्पनिक सुख कल्पना में ही सीमित रहता है, किन्तु जब मनुष्य उस कल्पना को वास्तविकता में परिणत करने का प्रयत्न करता है तब या तो नैराश्य का सामना करना पड़ता है और मनुष्य मानसिक विकृतियों का शिकार बनता है या वह घर-फूँक तमाशा देखकर अभावों और दारिद्रय का भागीदार बनता है। यथार्थवाद के नाम पर विलास और वासनामय जीवन के अतिरंजित चित्र अंकित किये जाते हैं। नारकीय जीवन को उभार में लाया जाता है और कल्पना के निर्बाध और निरावरण नृत्य के लिए निमन्त्रण दिया जाता है। तथाकथित यथार्थवादी उपन्यासकारों की दूसरी युक्ति यह है कि वे समाज को उन गहन गर्तों से बचाते हैं जिनमें कि लोग प्रायः पड़ जाते हैं। इसके बहाने वे वास्तव में उन गहन गर्तों और भीषण अन्धकारमय कन्दराओं का पथ प्रदर्शन कर देते हैं।

उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग वह है कि जो लोक-प्रतिष्ठित आचार-सम्बन्धी विचारों की सापेक्षता दिखाकर उनकी निस्सारता व्यञ्जित करते हैं और सिद्धान्तियों का व्यावहारिक असंयम या उनकी दुर्बलता को दिखाकर इस व्यञ्जना को पुष्ट करते हैं। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' इसी कोटि में आती है। लेखक परिस्थितियों के वात्या-चक्र में डालकर सिद्धान्ती कुमारगिरि का पतन करा देता है। अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति वर्मा जी रत्नाम्बर जी महाराज द्वारा कराते हैं.................. "जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है, केवल साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा?"

यह दृष्टिकोण एक प्रकार से मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of the will) का विरोधी है। मनुष्य किसी अंश तक परिस्थितियों का दास अवश्य है, किन्तु उसकी मनुष्यता और पुरुषार्थ परिस्थितियों से ऊँचा उठाने में है। परिस्थितियों का शिकार बनते हुए भी किसी अंश में मनुष्य का सक्रिय सहयोग नहीं तो निष्क्रिय सहयोग अवश्य रहता है। इसी निष्क्रिय सहयोग के लिए मनुष्य उत्तरदायी ठहराया जाता है। मनुष्य प्रकृति के ऊपर जाता है..."प्रकृतिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः।" प्रकृति को गीता में बलवती कहा है, किन्तु मनुष्य का संकल्प उसको प्रकृति से ऊँचा उठाता रहा है। यही मनुष्य और पशु का भेद है, प्रकृति से ऊँचे उठने के प्रयत्न ही सभ्यता की श्रेणियाँ हैं।

वर्माजी का यह विवेचन नितान्त निष्फल नहीं है। यह पापी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में सहायक होगा, किन्तु प्रकृति की सीमाएँ स्वीकार करनी होंगी। पतित के प्रति सहानुभूति करना धर्म है किन्तु प्रकृति का सहारा लेकर गिरना मानव-श्रेष्टता का तिरस्कार है। मनोविश्लेषण के नाम पर नीति की अवहेलना करने वालों में इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तम नागर एवं वात्स्यायन प्रभृति मुख्य हैं।

मनोविश्लेषण भी परिस्थिति और प्रकृतिवाद का एक मनोवैज्ञानिक रूप है। इनके उपन्यासों से मनोविज्ञान के सिद्धान्त के उदाहरण तो उपस्थित कर दिये जाते हैं किन्तु कहीं-कहीं तो रीतिकाल की भाँति उदाहरण उदाहरण के लिए ही होते हैं। हर एक देश की परम्पराएँ और नैतिक मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। यूरोप द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शुद्ध विज्ञान के सिद्धान्तों की भाँति मनुष्य-मात्र पर लागू नहीं होते। मानव-विज्ञानों में मनुष्य की स्वतन्त्रता का एक बड़ा अंश रहता है। इसलिए कार्य-कारण-शृङ्खला भी पूरी तौर से नहीं लग सकती। अभी फ्रायड के सिद्धान्तों को भारतीय जीवन की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है तब उनका उपन्यास में उतारना वांछनीय होगा। अस्तु, उन सिद्धान्तों का प्रवृत्ति-मात्र का मूल्य हो सकता है किन्तु दुनिया के लोग पाप-प्रवृत्ति को ही सिद्धान्त मान बैठते हैं। हमारे नवीन उपन्यासों में उन्नयन (Sublimation) के मार्गों पर कम प्रकाश डाला गया है। फ्रायड भी अनैतिक नहीं है। उसने उन्नयन को माना है। मनोविश्लेषण-सम्बन्धी उपन्यास मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तों को उदाहृत तो करते ही हैं उनका नैतिक मूल्य भी होता है। (यद्यपि मैं श्री इलाचन्द्र जोशी से इस बात में सहमत नहीं हूँ कि मनोविश्लेषण अमृतधारा की भाँति सब समस्याओं का हल है।) जोशी जी के 'प्रेत और छाया' में एक नैतिक तथ्य है, वह यह कि यदि किसी में अपने जन्म आदि के सम्बन्ध में झूठी भी हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाय तो कभी-कभी वह अपने नीच जन्म

को सार्थक करने के लिए बड़े-बड़े नीचता के काम कर बैठता है। इसलिए हमको दूसरे में हीनता के भाव उत्पन्न करने में अत्यन्त सचेत रहना चाहिए। इसका नायक पारसनाथ ऐसी ही ग्रन्थि का शिकार हुआ है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं पतन के चित्र अधिक वासनामय और आकर्षक हैं। 'मैं भूखा हूँ, तुम भी भूखी होगी' की व्यञ्जना विशेष परिस्थितियों के कारण स्पष्ट से भी अधिक स्पष्ट है।

श्री जैनेन्द्रजी ने तो अपनी 'सुनीता' में गान्धीवाद के एक चरम सीमा वाले प्रयोग में सुनीता को निरावरण करा दिया है। इसका फल बुरा नहीं हुआ, किन्तु ऐसे अतिमानवीय उदाहरण संसार में मिलते ही कम हैं और उनके उज्ज्वल पक्ष की ओर सहज में निगाह भी नहीं जा सकती। जैनेन्द्रजी ने इसमें जो घर और बाहर का साम्य उपस्थित कराया है वह भी ठीक नहीं। हरिप्रसन्न भी श्रीकान्त का मित्र होने के कारण पूर्णतया 'पर' नहीं है। इसको 'स्व' और 'पर' का समझौता नहीं कह सकते। हरिप्रसन्न सुनीता के लिए 'पर' हो सकता है, किन्तु श्रीकान्त के नाते वह भी 'स्व' बन जाता है।

सामाजिक अत्याचार के उद्घाटन और कभी-कभी स्वतन्त्रता के नाम पर अश्लीलता को प्रश्रय दिया जाता है। ऐसे लोगों को बन्धनों के सामाजिक मूल्य पर भी ध्यान रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि सामाजिक बन्धन लचीले न बनाये जायँ, किन्तु वे केवल स्वतन्त्रता के प्रदर्शन के लिए तोड़े न जायँ। उपन्यास-लेखकों का उत्तरदायित्व महान् है। जहाँ उनका कर्तव्य है कि वे जीवन के शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षों का चित्रण करें, क्योंकि जीवन की पूर्णता दोनों में है, वहाँ उनका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि कृष्ण-पक्ष की आकर्षक अतिरंजना न करें। दूसरी बात यह है कि यह मानते हुए भी कि उपन्यास सामाजिक प्रयोगशाला है प्रयोगों को सिद्धान्त का मूल्य न दे दें, वे वकील न बनें, कम-से-कम सन्दिग्ध मामलों में। अपनी वकालत में न्यायाधीश के लिए भी स्थान रखें। वे स्वयं न्यायाधीश न बन जायँ। पाठकों को भी यह चाहिए कि प्रवृत्तियों को सिद्धान्त न समझें। उपन्यासकार जहाँ तक हो असाधारणता की ओर न जायँ। वे स्वस्थ जीवन का चित्रण करें और ऐसे समाज के निर्माण का प्रयत्न करें जिससे विविधता में एकता और साम्य हो। पाठकों को चाहिए कि वे उपन्यास के आलोक से जीवन को समझने की कोशिश अवश्य करें, किन्तु उपन्यासों द्वारा चित्रित जीवन को सत्य की चरम स्थिति न समझें। उसे एक सामाजिक प्रयोग का ही महत्त्व दें।

उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग वह है कि जो लोक-प्रतिष्ठित आचार-सम्बन्धी विचारों की सापेक्षता दिखाकर उनकी निस्सारता व्यञ्जित करते हैं और सिद्धान्तियों का व्यावहारिक असंयम या उनकी दुर्बलता को दिखाकर इस व्यञ्जना को पुष्ट करते हैं। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' इसी कोटि में आती है। लेखक परिस्थितियों के वात्या-चक्र में डालकर सिद्धान्ती कुमारगिरि का पतन करा देता है। अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति वर्मा जी रत्नाम्बर जी महाराज द्वारा कराते हैं.................. "जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है, केवल साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा?"

यह दृष्टिकोण एक प्रकार से मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of the will) का विरोधी है। मनुष्य किसी अंश तक परिस्थितियों का दास अवश्य है, किन्तु उसकी मनुष्यता और पुरुषार्थ परिस्थितियों से ऊँचा उठाने में है। परिस्थितियों का शिकार बनते हुए भी किसी अंश में मनुष्य का सक्रिय सहयोग नहीं तो निष्क्रिय सहयोग अवश्य रहता है। इसी निष्क्रिय सहयोग के लिए मनुष्य उत्तरदायी ठहराया जाता है। मनुष्य प्रकृति के ऊपर जाता है..."प्रकृतिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः।" प्रकृति को गीता में बलवती कहा है, किन्तु मनुष्य का संकल्प उसको प्रकृति से ऊँचा उठाता रहा है। यही मनुष्य और पशु का भेद है, प्रकृति से ऊँचे उठने के प्रयत्न ही सभ्यता की श्रेणियाँ हैं।

वर्माजी का यह विवेचन नितान्त निष्फल नहीं है। यह पापी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में सहायक होगा, किन्तु प्रकृति की सीमाएँ स्वीकार करनी होंगी। पतित के प्रति सहानुभूति करना धर्म है किन्तु प्रकृति का सहारा लेकर गिरना मानव-श्रेष्टता का तिरस्कार है। मनोविश्लेषण के नाम पर नीति की अवहेलना करने वालों में इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तम नागर एवं वात्स्यायन प्रभृति मुख्य हैं।

मनोविश्लेषण भी परिस्थिति और प्रकृतिवाद का एक मनोवैज्ञानिक रूप है। इनके उपन्यासों से मनोविज्ञान के सिद्धान्त के उदाहरण तो उपस्थित कर दिये जाते हैं किन्तु कहीं-कहीं तो रीतिकाल की भाँति उदाहरण उदाहरण के लिए ही होते हैं। हर एक देश की परम्पराएँ और नैतिक मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। यूरोप द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शुद्ध विज्ञान के सिद्धान्तों की भाँति मनुष्य-मात्र पर लागू नहीं होते। मानव-विज्ञानों में मनुष्य की स्वतन्त्रता का एक बड़ा अंश रहता है। इसलिए कार्य-कारण-श्रृङ्खला भी पूरी तौर से नहीं लग सकती। अभी फ्रायड के सिद्धान्तों को भारतीय जीवन की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है तब उनका उपन्यास में उतारना वांछनीय होगा। अस्तु, उन सिद्धान्तों का प्रवृत्ति-मात्र का मूल्य हो सकता है किन्तु दुनिया के लोग पाप-प्रवृत्ति को ही सिद्धान्त मान बैठते हैं। हमारे नवीन उपन्यासों में उन्नयन (Sublimation) के मार्गों पर कम प्रकाश डाला गया है। फ्रायड भी अनैतिक नहीं है। उसने उन्नयन को माना है। मनोविश्लेषण-सम्बन्धी उपन्यास मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तों को उदाहृत तो करते ही हैं उनका नैतिक मूल्य भी होता है। (यद्यपि मैं श्री इलाचन्द्र जोशी से इस बात में सहमत नहीं हूँ कि मनोविश्लेषण अमृतधारा की भाँति सब समस्याओं का हल है।) जोशी जी के 'प्रेत और छाया' में एक नैतिक तथ्य है, वह यह कि यदि किसी में अपने जन्म आदि के सम्बन्ध में भूठी भी हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाय तो कभी-कभी वह अपने नीच जन्म

उपन्यास के प्रधान दायित्वों में से एक है। उसीके शब्दों में, "यह मत समझिए कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। आप उन्हें पढ़ते हैं, जिस प्रकार अन्य लोग प्रार्थना करते हैं, स्वयं अपने-आपके अन्वेषण के लिए। और क्योंकि अन्तिम अन्वेषण कभी सम्भव नहीं हो पाता, इसीलिए उपन्यास की कभी मृत्यु नहीं होती।" उपन्यास के इस दायित्व से हम सभी बहुत परिचित हैं। उपन्यास चाहे शरत् का हो या हार्डी का, चाहे प्रेमचन्द का हो अथवा गोर्की का, उसके किसी पात्र-विशेष अथवा पात्रों से अपना तादात्म्य स्थापित करके, हम उनमें स्वयं अपने-आपको ढूँढ़ने लगते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथा यह भी एक सर्व-विदित तथ्य है कि व्यक्ति अपने अज्ञात तथा अवचेतन के अंशों को, जिन्हें वह अपनी साधारण दृष्टि से नहीं देख पाता, अपने किसी प्रिय उपन्यास के पात्र द्वारा सहज ही में पहचान लेता है। इस आत्मानुभूति की गहराई उपन्यासकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा विवेचन-शक्ति और विभिन्न पाठकों की विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों पर निर्भर होती है। पर यह निश्चित है कि जो उपन्यासकार अपने पाठकवर्ग को यह सहज आत्मानुभूति की भावना नहीं दे पाता, वह अपने कर्तव्य तथा लक्ष्य दोनों से ही च्युत है।

आत्मानुभूति के साथ-साथ उससे सम्बद्ध सत्य के अन्वेषण की बात आती है। आत्मा व्यक्तिगत है तो सत्य वस्तुगत। जोन्स महोदय के अनुसार तो सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा सम्भव नहीं—"तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एक-मात्र सहारा है।" 'डेविड कॉपरफील्ड', 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' तथा 'मैदाम बोवेरी' जैसे उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि डिकेन्स, डास्टाएव्स्की तथा फ्लॉबेयर जैसे कलाकार सत्य के कितने महान् अन्वेषक रहे हैं। और जिस प्रकार आत्मा की खोज कभी समाप्त नहीं होती, उसी प्रकार सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नहीं होता, 'और इसीलिए उपन्यासकार कभी इस बात का अनुभव नहीं करता कि प्रत्येक बात कह दी गई है अथवा सत्य का कोई भी पहलू अन्तिम निश्चय के साथ अनावृत कर दिया गया है।'

व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। यह उपन्यास का ही कर्तव्य है कि वह पतित चरित्रों के प्रति हमारी अकृत्रिम करुणा को उभारे। वैसे तो सारे-का-सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव-मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है। दलित मानवता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना तथा उसकी समस्याओं और समाधानों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना उपन्यास का चरम ध्येय है। ग्राहम ग्रीन ने अपने एक वक्तव्य में उपन्यास के 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' की चर्चा की है। एलिजाबेथ बोवेन के मतानुसार इस 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' के बिना उपन्यास का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। वस्तु-स्थिति तो यह है कि बिना इस सहानुभूति की भावना के उपन्यास लिखने की वास्तविक प्रेरणा मिल ही नहीं सकती। टॉलस्टाय द्वारा बहु प्रचारित सिद्धान्त 'पाप से घृणा करो, पापियों से नहीं' आज भी उपन्यास-रचना का मूल मन्त्र माना जाता है।

जीवन के बहुत से जटिल तथा उलझे हुए पक्षों को तार्किक एकरूपता देना दार्शनिक का काम माना गया है। इसी प्रकार उपन्यासकार का दायित्व होता है, जीवन के बिखरावों में से एक

रामस्वरूप चतुर्वेदी

उपन्यास के दायित्व

: १ :

साहित्य के माध्यमों में से कौनसा माध्यम सबसे अधिक सशक्त तथा प्रभावोत्पादक है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के अपने-अपने मत रहे हैं। इधर लगभग पिछले ५-७ वर्षों से उपन्यास की महत्ता सर्वमान्य रूप से प्रतिपादित की जाने लगी है। पच्चीस वर्ष पहले तक उपन्यास का पढ़ना शिक्षित वर्ग में विलास के अन्य बहुत से साधनों में से एक माना जाता था। उपन्यास का पठन-पाठन शिक्षित तथा अर्द्ध-शिक्षित धनिक वर्ग में अधिक प्रचलित भी था, क्योंकि इस 'शौक' को पूरा करने के लिए उनके पास प्रचुर समय तथा साधन दोनों ही थे। यदि हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश के सामाजिक इतिहास का थोड़ा अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि जिस युग की हमने ऊपर चर्चा की है, उस युग में उपन्यासों का पठन-पाठन युवकों तथा अर्द्ध-युवकों के लिए प्रायः वर्जित था। उपन्यास पढ़ने तथा समझने का अधिकार अधेड़ उम्र के व्यक्तियों को ही अधिकतर दिया गया था, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का मानसिक स्तर प्रौढ़ तथा परिष्कृत हो चुकता है। युवकों तथा अर्द्ध-युवकों को उपन्यास पढ़ने से वर्जित इसलिए किया जाता था कि उपन्यासों में अंकित जीवन का सर्वतोमुखी तथा यथातथ्य चित्रण कहीं उनके अपरिपक्व मन पर बुरा प्रभाव न डाले। इससे स्पष्ट है कि उपन्यास के प्रारम्भिक काल में ही, साहित्य के इस माध्यम की गहरी प्रभावशीलता का उस समय की जनता ने मन-ही-मन भली भाँति अनुभव किया था। प्रभावशीलता के साथ-ही-साथ दायित्व की भावना सम्बद्ध होती है। साहित्य के जिस माध्यम द्वारा पाठक, श्रोता अथवा दर्शक सबसे अधिक प्रभावित होता है, उसी अनुपात से समाज के प्रति उसका दायित्व भी सबसे अधिक होता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा उपन्यास के दायित्व अनेक तथा बहुमुखी हैं। जैसा हमने अभी ऊपर देखा, उपन्यास को एक शक्ति-सम्पन्न परन्तु खतरनाक माध्यम तो बहुत दिनों से माना जाता रहा है, किन्तु उसकी शक्ति के श्रेयस्कर प्रभावों को अभी हाल ही में पहचाना गया है। यही कारण है कि समकालीन साहित्यिक वातावरण में उपन्यास की महत्ता सर्वोपरि है।

: २ :

आत्म-तत्त्व की अनुभूति को संसार के प्रायः सभी दर्शनों ने मनुष्य-जीवन की उच्चतम स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक तथा 'टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट' के सम्पादक ऐलन प्राइस-जोन्स के अनुसार इस आत्म-तत्त्व की अनुभूति की उपलब्धि कराना

उपन्यास के प्रधान दायित्वों में से एक है। उसीके शब्दों में, "यह मत समझिए कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। आप उन्हें पढ़ते हैं, जिस प्रकार अन्य लोग प्रार्थना करते हैं, स्वयं अपने-आपके अन्वेषण के लिए। और क्योंकि अन्तिम अन्वेषण कभी सम्भव नहीं हो पाता, इसीलिए उपन्यास की कभी मृत्यु नहीं होती।" उपन्यास के इस दायित्व से हम सभी बहुत परिचित हैं। उपन्यास चाहे शरत् का हो या हार्डी का, चाहे प्रेमचन्द का हो अथवा गोर्की का, उसके किसी पात्र-विशेष अथवा पात्रों से अपना तादात्म्य स्थापित करके, हम उनमें स्वयं अपने-आपको ढूँढ़ने लगते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथा यह भी एक सर्व-विदित तथ्य है कि व्यक्ति अपने अज्ञात तथा अवचेतन के अंशों को, जिन्हें वह अपनी साधारण दृष्टि से नहीं देख पाता, अपने किसी प्रिय उपन्यास के पात्र द्वारा सहज ही में पहचान लेता है। इस आत्मानुभूति की गहराई उपन्यासकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा विवेचन-शक्ति और विभिन्न पाठकों की विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों पर निर्भर होती है। पर यह निश्चित है कि जो उपन्यासकार अपने पाठकवर्ग को यह सहज आत्मानुभूति की भावना नहीं दे पाता, वह अपने कर्तव्य तथा लक्ष्य दोनों से ही च्युत है।

आत्मानुभूति के साथ-साथ उससे सम्बद्ध सत्य के अन्वेषण की बात आती है। आत्मा व्यक्तिगत है तो सत्य वस्तुगत। जोन्स महोदय के अनुसार तो सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा सम्भव नहीं—"तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एक-मात्र सहारा है।" 'डेविड कॉपरफील्ड', 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' तथा 'मैदाम बोवेरी' जैसे उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि डिकेन्स, डास्टाएव्स्की तथा फ्लॉबेयर जैसे कलाकार सत्य के कितने महान् अन्वेषक रहे हैं। और जिस प्रकार आत्मा की खोज कभी समाप्त नहीं होती, उसी प्रकार सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नहीं होता, 'और इसीलिए उपन्यासकार कभी इस बात का अनुभव नहीं करता कि प्रत्येक बात कह दी गई है अथवा सत्य का कोई भी पहलू अन्तिम निश्चय के साथ अनावृत कर दिया गया है।'

व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। यह उपन्यास का ही कर्तव्य है कि वह पतित चरित्रों के प्रति हमारी अकृत्रिम करुणा को उभारे। वैसे तो सारे-का-सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव-मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है। दलित मानवता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना तथा उसकी समस्याओं और समाधानों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना उपन्यास का चरम ध्येय है। ग्राहम ग्रीन ने अपने एक वक्तव्य में उपन्यास के 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' की चर्चा की है। एलिजाबेथ बोवेन के मतानुसार इस 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' के बिना उपन्यास का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। वस्तु-स्थिति तो यह है कि बिना इस सहानुभूति की भावना के उपन्यास लिखने की वास्तविक प्रेरणा मिल ही नहीं सकती। टॉलस्टाय द्वारा बहु प्रचारित सिद्धान्त 'पाप से घृणा करो, पापियों से नहीं' आज भी उपन्यास-रचना का मूल मन्त्र माना जाता है।

जीवन के बहुत से जटिल तथा उलझे हुए पक्षों को तार्किक एकरूपता देना दार्शनिक का काम माना गया है। इसी प्रकार उपन्यासकार का दायित्व होता है, जीवन के बिखरावों में से एक

भावात्मक सामञ्जस्य को ढूँढ़ निकालना। अपने गुरु-गम्भीर कर्तव्य तथा दायित्व में एक वास्तविक उपन्यासकार किसी भी दार्शनिक से कम नहीं होता। जीवन को एक संगति तथा अर्थ देना दोनों का ही लक्ष्य रहता है। वस्तुतः हर सफल उपन्यासकार मूलतः एक दार्शनिक होता है, तथा उसका दर्शन विकसित होता है उसके गम्भीर मनन तथा उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से। दार्शनिक बहुत निरपेक्ष तथा इतिवृत्तात्मक ढंग से अपना चिन्तन हमारे सम्मुख उपस्थित करता है, जब कि उपन्यासकार का चिन्तन एक स्वस्थ भावात्मकता तथा विस्तृत सहानुभूति से अनुरंजित होकर उसकी कला-कृतियों में अभिव्यक्ति पाता है। फलतः दार्शनिक की अपील बहुत सीमित तथा संकुचित होती है, जबकि उपन्यास की प्रभावशीलता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। एक राष्ट्र अथवा जाति के उत्थान या विघटन की जितनी अधिक जिम्मेदारी उसके दार्शनिकों पर होती है प्रायः उतनी ही जिम्मेदारी उसके उपन्यासकारों पर भी होती है।

किसी भी समाज में पुरानी चली आने वाली परम्पराओं तथा रूढ़ियों की पर्तें उसके अधिकांश सदस्यों के मन पर चढ़ती रहती हैं। ये पर्तें अन्धविश्वास तथा मूढ़ ग्राहों की भी हो सकती हैं, तथा मिथ्या भय और मिथ्या अहंकार की भी। समाज के विकास के साथ-साथ 'प्रेजुडिस' को भी जन्म मिलता है। इस 'प्रेजुडिस' पर विजय पाने के लिए जिस व्यापक सहानुभूति की आवश्यकता होती है, उसे एक उपन्यासकार ही दे सकता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध समसामयिक उपन्यासकार जौयस कैरी के अनुसार तो यह उपन्यास-लेखक की एक बड़ी जिम्मेदारी है कि वह लोगों के भावुक मन पर चढ़ी हुई इन पर्तों को बहुत सावधानी के साथ, बिना उन्हें किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाए हुए, धीमे-धीमे तोड़े। जब तक ये बहुत दिनों की जमी हुई पर्तें टूटेंगी नहीं, तब तक उन्हें कोई नवीन तथा स्वस्थ दृष्टि नहीं दी जा सकती। अपने निबन्ध 'उपन्यासकार के दायित्व' को समाप्त करते हुए कैरी महोदय कहते हैं, "संक्षेप में उपन्यास का दायित्व यह है कि वह संसार को स्वयं अपने-आपकी मीमांसा करने तथा समझने के लिए प्रेरित कर सके; और यह समझना एक बौद्धिक जीव के रूप में न होकर मूल्यों के अनुभव के रूप में, एक सम्पूर्ण पदार्थ के रूप में हो।" जीवन के प्रति यह सुलझा हुआ दृष्टिकोण व्यक्ति तभी अपना सकता है जब कि उसके मन में कोई पूर्वग्रह या अनावश्यक परम्परा की कोई पर्त न हो! किसी भी विचार-धारा को समाज के मन से निकालने या उसकी चेतना में अज्ञात रूप से प्रविष्ट कराने का कार्य उपन्यास ही भली भाँति कर सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र अथवा समाज में एक विशेष प्रकार की चिन्तन-पद्धति को प्रवाहित करने में अथवा किसी परम्परागत विचार-धारा को वाञ्छनीय दिशा में मोड़ देने में वहाँ के उपन्यासों का बड़ा प्रभाव होता है। बंगाल की नारी-समस्या को सुलझाने में शरच्चन्द्र ने अपनी उपन्यास-कला के माध्यम से जो-कुछ भी किया, वह बहुत से सुधारकों द्वारा मिलकर एक साथ भी नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार से उत्तर भारत की कृषक तथा ग्राम-समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते समय इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द के ऋण को नहीं भुलाया जा सकता। उपन्यासकार सचमुच एक द्रष्टा होता है। कविता कुछ क्षणों के लिए अपने पाठक को प्रभावित कर सकती है, अभिभूत कर सकती है; क्षीणतर होते हुए भी उसका प्रभाव पाठक के मन पर कुछ दिनों तक बना रह सकता है। परन्तु इसके बाद उसके व्यापक प्रभाव में कोई गहराई नहीं होती। इसके विपरीत, एक उपन्यास अपने पाठक के चेतन

तथा अवचेतन मन पर इतने गहरे संस्कार छोड़ जाता है, जो कि उसके मन में एक सर्वथा नवीन जीवन-दर्शन को जन्म दे सकते हैं। उपन्यास के प्रभावों में स्थिरता तथा एकरूपता रहती है। किसी भी गम्भीर सामाजिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति को आगे बढ़ाने में उपन्यास का माध्यम एक अत्यन्त सशक्त माध्यम होता है। इन सब बातों को देखते हुए इस बात का वैज्ञानिक विवेचन होना अत्यन्त आवश्यक है कि किस श्रेणी के उपन्यास कितनी अवस्था तक के व्यक्तियों को पढ़ने के लिये दिये जाने चाहिएँ। उपन्यास की शक्ति असीम है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका प्रवहन उचित दिशा में हो। उपन्यासों के अध्ययन के सम्बन्ध में जो वर्जना हमारी शती के प्रारम्भिक दशकों में थी, उसका एक वैज्ञानिक तथा परिष्कृत रूप समाज के लिए सदैव हितकर होगा।

उपन्यास का एक बड़ा दायित्व है अपने पाठकों को जीने की कला सिखाना। एक अच्छा उपन्यास अपने पाठक के लिए दिशा-निर्देशक का काम बड़ी सफलता के साथ कर सकता है। जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर उपन्यासकार प्रकाश डालता है। सृष्टि-निर्माता के समान ही मानव-जीवन का कोई भी रहस्य उसके लिए अपरिचित नहीं होता। इसलिए उपन्यासों का एक अच्छा अध्येता जिन्दगी के सभी पहलुओं को देखे रहता है। रोबर्ट गोरहम डेविस का कथन है कि "उन्होंने (अँग्रेजी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने) अपने पाठकों को उदारता, सहानुभूति, विनोद तथा नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक चेतना की शिक्षा दी। उन्होंने संस्थाओं को सुधारने तथा सामाजिक स्थिति को उन्नत करने की इच्छा उत्पन्न की।" वस्तुतः यदि उपन्यास अपने पाठक के लिए इतना कर सकता है तो उसने अपने प्रधान दायित्व का बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया है। और यह भी सच है कि जीने की कला सिखा पाना अथवा जीवन के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टि देना, आज उपन्यास द्वारा ही सम्भव भी है। प्राचीन वाङ्मय में जितना महत्त्वपूर्ण स्थान महाकाव्य का था, आज के युग में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान उपन्यास का है। वास्तविकता तो यह है कि उपन्यास महाकाव्य का ही एक परिवर्तित तथा आधुनिक रूप है।

जनतन्त्र तथा उपन्यास का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनतन्त्र की भावना को उत्पन्न करने तथा उसे आगे बढ़ाने में अच्छे उपन्यासों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जनतन्त्र अथवा जनतन्त्र तक पहुँचने की तीव्र भावना उपन्यासों के सृजन में सहायक सिद्ध होती है। 'जनतन्त्र का आयोजन इसलिए किया जाता है कि व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सके, तथा विभिन्न मूल्यों को मान्यता देने वाले मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ सकें और इस पर भी समाज की उन्नति में वे अधिक-से-अधिक सहायता दे सकें। उपन्यास हमें बहुमुखी दृष्टि, अधिकाधिक सहानुभूति, सहिष्णुता तथा व्यक्तिगत दायित्व की भावना देकर, इस कार्य में हमारा हाथ बँटाता है।' इस प्रकार जनतन्त्र और उपन्यास सदैव एक-दूसरे को प्रश्रय देते हैं। उपन्यासों का समुचित विकास जनतन्त्र में ही सम्भव हो पाता है, तथा जनतन्त्र को सुचारु रूप से चलाने की शिक्षा काफी हद तक उस राष्ट्र के उपन्यास देते हैं। इस दृष्टिकोण से जनतन्त्र तथा उपन्यास के दायित्वों में भी बहुत-कुछ समानता है।

कम्युनिज़्म की संकीर्णता से लोहा लेने के लिए आज राजनीति, धर्म तथा दर्शन सभी दृढ़ता के साथ तत्पर हैं। वे 'व्यक्ति के पुनरन्वेषण' में व्यस्त हैं। व्यक्ति की महत्ता, नैतिक दायित्वों का निर्वाह कर पाने की क्षमता तथा स्वयं अपने और अपने राष्ट्र के भविष्य को प्रभावित

करने की शक्ति पर वे सामूहिक रूप से विशेष बल दे रहे हैं। ऐसे संकट के अवसर पर उपन्यास का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। समाज को श्रेय की ओर ले जाने में आज अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं; भौतिकवाद की एकान्त तथा अनन्य साधना उनमें से एक है। ऐसे खतरों से बाहर निकालने के लिए आज हमें जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें साहित्य का प्रतिनिधित्व केवल उपन्यास ही करता है और इसके अतिरिक्त उपन्यास में वह क्षमता भी है, जिससे वह समसामयिक सामाजिक तथा दार्शनिक गतिरोध को दूर कर सकता है। श्रान्त तथा विभ्रमित राष्ट्र का उपचार उपन्यास बड़े हल्के-हल्के ढंग से अनजाने में ही कर डालता है। इसके लिए वह कभी-कभी 'शॉक ट्रीटमेंट' का भी सहारा लेता है। परन्तु किसी भी दुष्प्रवृत्ति पर वह खुले ढंग से आक्रमण कभी नहीं करता। इसीलिए उपन्यास द्वारा किया जाने वाला उपचार अपनी प्रकृति में पूर्णतः मनोवैज्ञानिक होता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यक्ति का आदर करते हुए जनतन्त्र की स्थापना करना उपन्यास का परम आदर्श है।

वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद तक पहुँचाना कदाचित् उपन्यास का प्रथम तथा अन्तिम दायित्व है। उपन्यास के चरित्र, हार्डी के शब्दों में, 'वास्तविक से अधिक सत्य' होते हैं। इस दृष्टिकोण से उपन्यास में अंकित मानव-जीवन भी वास्तविक से अधिक सत्य होता है। उपन्यास की यह विशेषता उसकी बिलकुल अपनी है। साहित्य का अन्य कोई भी माध्यम जीवन का इतना सत्य तथा पूर्ण चित्र उपस्थित करने का दावा नहीं कर सकता। 'प्रायः प्रत्येक युग के आलोचकों ने उन व्यक्तियों तथा घटनाओं की निन्दा की है, जिनका चित्रण यथार्थवादी उपन्यासकार ने किया है। परन्तु क्योंकि उपन्यास में विक्षिप्त, बहिष्कृत तथा त्रस्त व्यक्तियों, औसत दर्जे के मनुष्यों और पापियों को अंकित किया जाता है, इसलिए हमारी कल्पना-प्रसूत सहानुभूति अपनी मानवता अथवा 'ईसाइयत' में अधिक पूर्ण हो जाती है, और साथ ही वह एक सामान्य मानव-प्रकृति में अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की भूमियों को भी पहचान पाती है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास-कला सर्वाधिक पूर्ण मानववादी कला है। व्यक्ति तथा मानवता को एक ही सत्य के दो पहलू मानकर उपन्यासकार आगे बढ़ता है। इसलिए व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करता हुआ भी उपन्यासकार मानवता से बड़ा किसी भी सत्य को नहीं मानता।

उपन्यास की गहरी प्रभावशीलता का अनुभव करने के कारण आलोचक तथा पाठक दोनों ही उसके भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित रहते आए हैं। इस प्रसंग में ऐलन प्राइस जोन्स ने अत्यन्त मनोरंजक ढंग से लिखा है, "हर दस साल के बाद कोई-न-कोई उपन्यास की मृत्यु की घोषणा करता है; आलोचक बहुत सामान्य ढंग से अपने वस्त्रों को शोकसूचक काले कोट से ढँक लेते हैं; उपन्यासकार पूर्ववत् लिखते चले जाते हैं।" उपन्यास के माध्यम के इस स्थायित्व और उसके कुछ कारणों की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। स्वयं जोन्स महोदय का कथन है: "उपन्यास इसलिए नहीं लिखे जाते, क्योंकि उपन्यासकार कोई कहानी कहना चाहता है, वरन् इसलिए कि वह सत्य की कभी पकड़ में न आने वाली प्रकृति से परेशान रहता है।" सत्य की यह कभी 'पकड़ में न आने वाली' प्रकृति ही सदैव उपन्यासकार को लिखने के लिए प्रेरित करती रहती है। इसीलिए उपन्यास-लेखन का कभी अन्त नहीं होता।

अपने निबन्ध 'एट द हार्ट ऑफ द स्टोरी इज़ मैन' में रौबर्ट गोरहम डेविस ने उपन्यास की इस विलक्षण प्रकृति का विश्लेषण करते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है।

उनका कहना है कि "आज इतने अधिक लोग प्रकट रूप से उपन्यास की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की सम्भावनाओं को लेकर इसलिए चिन्तित हैं, क्योंकि उसके महत्त्व के बारे में, जाने अथवा अनजाने, उनके मन में एक गहरी धारणा बन गई है। यह एक शुभ लक्षण है। परन्तु उपन्यास के इतिहास में कोई भी ऐसी चीज नहीं है, जो इसके भविष्य के बारे में निराशा प्रकट करती हो, कम-से-कम तब तक जब तक कि हमारे समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व तथा उच्चाशयता अपनी प्राथमिकता बनाए रहते हैं, और जब तक लेखकों को यह भान रहता है कि उनके अन्दर मूल्यों का निर्माण करने की शक्ति है।" जो भी हो, आज के सुलझे हुए पाठक तथा आलोचक उपन्यास की प्रभविष्णुता तथा महत्ता का भली भाँति अनुभव कर रहे हैं। उपन्यास के दायित्व कितने बहुमुखी तथा महत्त्वपूर्ण हैं, इस बात का भी इससे स्पष्ट पता चलता है। आने वाले युग के जीवन-दर्शन में तथा विभिन्न मूल्यों के निर्धारण में उपन्यासों का और भी अधिक प्रभाव होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

: ३ :

उपन्यास के दायित्वों का सामान्य विश्लेषण करने के उपरान्त अब हम बहुत संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी के उपन्यासों ने अपने इन दायित्वों का निर्वाह कहाँ तक किया है। जैसा हम संकेत कर चुके हैं, अपनी शैशवावस्था में ही उपन्यास ने अपने पाठकों को आकर्षित तथा प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। यही नहीं, ऐसा लगता है कि आगे चलकर तो सामाजिक उपन्यासकारों ने पहले अपने दायित्व को भली भाँति समझकर ही उपन्यास लिखना शुरू किया था। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास-कृत 'परीक्षा-गुरु' इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस उपन्यास के रूप-गठन में दो बातें अत्यन्त रोचक तथा उपन्यासकार की मनःप्रवृत्ति की परिचायक हैं। एक तो यह कि इस उपन्यास के अध्यायों के प्रारम्भ में देशी तथा विदेशी मनीषियों के नीति-वचन उद्धृत किये गए हैं। कहीं-कहीं तो वे नीति-वचन सम्बद्ध अध्याय की कथा-वस्तु से मेल खाते हैं, और कहीं-कहीं इनका अस्तित्व एकदम स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। दूसरी जो रोचक तथा महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि इस उपन्यास की कथावस्तु तथा वर्णनों को दो भागों में विभक्त किया गया है। उपन्यास के कुछ अंश रेखांकित हैं, तथा अधिकांश साधारणतः मुद्रित हैं। उपन्यासकार ने अपनी भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो पाठक इस उपन्यास का अध्ययन कथा द्वारा अपना मनोरंजन करने के लिए करना चाहते हैं, वे कृपया रेखांकित अंशों को छोड़कर पढ़ें। ऐसा करने से कथा की रोचकता तथा समरसता बराबर बनी रहेगी। परन्तु जो पाठक इस उपन्यास में कथा के अतिरिक्त कुछ चिन्तन तथा मनन भी चाहते हैं, वे कृपया रेखांकित अंशों को अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देकर पढ़ें, क्योंकि उनमें विचार-वितर्क की ही प्रधानता है।[1]

---

१. अपने विभिन्न वर्ग के पाठकों को सन्तुष्ट रख सकने के लिए लालाजी की यह सूझ सचमुच ही अनूठी थी। उनके बाद के उपन्यासकारों ने इस पद्धति को नहीं अपनाया। परन्तु आज के घोर बौद्धिकता-प्रधान (intellectual) उपन्यासों में इस पद्धति को यदि फिर से स्वीकार कर लिया जाय तो इससे विशुद्ध उपन्यास के पाठकों का परम कल्याण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार ने ही अपने दायित्व का इतनी गहराई के साथ अनुभव किया था, यह बात कुछ विलक्षण होने के साथ-ही-साथ गर्व करने योग्य भी है। यही नहीं, इस युग के अन्य उपन्यासकारों में भी अपने कर्तव्य के प्रति सजगता दिखाई देती है। कहीं-कहीं तो वह कर्तव्य-भावना उपन्यास के रस में भी व्याघात डालती जान पड़ती है। नीति-सम्बन्धी उदाहरण देने की प्रवृत्ति पं० बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान एक सुजान' में बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। राधाकृष्णदास के 'निस्सहाय हिन्दू' में जीवन के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। कुल मिला-जुलाकर हिन्दी-उपन्यासों के एकदम प्रारम्भिक काल में लगता है कि दायित्व की भावना अधिक तथा पहले थी, जब कि समसामयिक उपन्यासों में कदाचित् यह दायित्व की भावना इतनी गहरी नहीं रही है। परन्तु यह भी सच है कि इस दायित्व की भावना ने उल्लिखित उपन्यासों में कला-तत्त्व को दबाकर उन्हें उपदेशप्रद अधिक बना डाला था। आज जान पड़ता है कि उपन्यास के कलात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हो जायँ।

खत्री जी के तिलिस्मी उपन्यासों तथा गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों के पश्चात् हिन्दी-उपन्यास के विकास में दूसरी श्रेणी पं० किशोरीलाल गोस्वामी से प्रारम्भ होती है। गोस्वामी-जी की कला मुख्यतः यथार्थवादी थी। परन्तु उनकी यथार्थ भावना बहुत स्वस्थ नहीं थी। इस युग के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार पं० लज्जाराम मेहता के उपन्यासों में दायित्व की भावना कुछ अधिक दिखाई देती है। गोस्वामीजी के सम्बन्ध में तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में स्पष्ट लिखा है, "यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के सम्बन्ध में अधिक हुई थी।" गोस्वामीजी के युग के दूसरे उपन्यासकारों में भी दायित्व की भावना बहुत प्रधान नहीं रही।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में, "चरित्र-चित्रण और सोद्देश्य उपन्यास लिखने की दृष्टि से मुन्शी प्रेमचन्द जी (सं० १९३७-१९९३) ने युगान्तर उपस्थित कर दिया।" यह सच है कि उपन्यास के दायित्वों को यदि एक सुलझे हुए दृष्टिकोण से समझने का किसी ने सजग प्रयत्न किया तो प्रेमचन्द ने। साथ ही उनके अन्दर की दायित्व-भावना ने उपन्यास-कला को भी विकृत नहीं किया। उपन्यास के जिन दायित्वों की चर्चा हमने प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम भाग में की है, उनमें से अधिकांश का निर्वाह प्रेमचन्द के उपन्यास करते हैं। आत्म-तत्त्व की खोज तथा सत्य के अन्वेषण में उनके उपन्यास डिकेन्स तथा डास्टाएव्स्की से टक्कर लेते भले ही न दिखाई दें, परन्तु व्यक्तियों और स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने तथा रूढ़ियों की गहरी जमी हुई पर्तों को तोड़ने में वे कदाचित् आज भी अपना सानी नहीं रखते। किन्तु यह स्पष्ट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं कि हमारे गहनतम स्तरों पर जीवन को अर्थ और संगति देने में शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय प्रेमचन्द को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। इन क्षेत्रों में शरत् विश्व के महान् द्रष्टा उपन्यासकारों की कोटि में पहुँच जाते हैं। शरत् जैसी मनोवैज्ञानिक 'एप्रोच' विरले ही उपन्यास-कारों में मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने-आपको भौतिक समस्याओं में ही अधिक उलझाए रखा, मन की गहरी पर्तों में वे दूर तक न पैठ सके।

जैसा हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में कला के प्रति आग्रह कुछ अधिक है, तथा दायित्व की भावना उतनी गहरी नहीं है जितनी उसकी इस विकसित दशा में होनी चाहिए। प्रेमचन्द के युग के कुछ अन्य उपन्यासकारों ने भी जीवन की बहुमुखी समस्याओं पर प्रकाश डालने तथा उनके समाधान ढूँढने के लिए काफ़ी प्रयत्न किया था। कौशिक, प्रसाद तथा सियारामशरण गुप्त के कुछ उपन्यास इस तथ्य का समर्थन करते हैं। परन्तु इसके बाद लगता है कि एक बार फिर साहित्यिक प्रतिक्रिया हुई, और उपन्यास के दायित्वों का पक्ष कुछ हल्का पड़ गया। यहाँ इस तथ्य के एक दूसरे पक्ष पर भी हमें विचार करना होगा। कुछ आधुनिक उपन्यासकारों ने कदाचित् अपने दायित्व का कुछ आवश्यकता से अधिक अनुभव करते हुए अपने उपन्यासों को घोर बौद्धिक बना डाला है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में ही हो, ऐसी बात नहीं है। विदेशी उपन्यासों ने तो इस पद्धति को पहले से ही अपना रखा है। इस वर्ग के उपन्यासकार बौद्धिक वादविवाद तथा भारी-भरकम कथोपकथनों के द्वारा अपने पाठक को एक निश्चित दृष्टिकोण देना चाहते हैं। परन्तु ऐसा करने में न केवल उनका प्रयत्न असफल होता है, वरन् उनकी उपन्यास-कला भी क्षीण तथा अशक्त हो जाती है। जिस तथ्य को उपन्यासकार अपने पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से पाठक के मन में प्रविष्ट करा सकता है, उस तथ्य को लम्बे-लम्बे वादविवाद एकदम खोखला तथा अप्रिय बना देते हैं। उपन्यास में यह दोष बहुत-कुछ कविता के रस-सम्बन्धी 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष के समानान्तर होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कविता में जहाँ यह दोष मात्र एक टेकनीकल कमजोरी माना जाता है, वहीं उपन्यास में यह दोष अन्यथा सुगठित कथा को एकदम नीरस तथा अग्राह्य बना देता है।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासकार उपन्यास के दायित्वों की अवहेलना कर रहे हों, अथवा ऐसा करने के लिए उनके पास पर्याप्त शक्ति का अभाव हो, ऐसी बात नहीं है; वस्तुस्थिति यह है कि उनमें से अधिकांश अपनी जिम्मेदारियों को सही-सही ढंग से कदाचित् पहचान नहीं पा रहे हैं। साहित्य का यह माध्यम उनके निकट इतना सर्वमान्य, रूढ़ तथा 'फेमीलियर' हो गया है कि वे उसकी शक्ति तथा सम्भावनाओं को नहीं देख पाते। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों में व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति-भर तो अवश्य रह गई है, परन्तु उपन्यास के अन्य गम्भीर तथा गुरुतर दायित्वों का उनमें बहुत-कुछ अभाव है। डिकेन्स, डास्टाएव्स्की तथा शरच्चन्द्र जैसी व्यापक जीवन-दृष्टि तथा गहरी सहानुभूति आज के उपन्यासकार में कदाचित् नहीं है। आज वह अपने 'अहं' में इतना अधिक उलझा हुआ है कि उसे बाहर के जीवन की ओर देखने का अवकाश नहीं। इस प्रसंग में पिछले उपन्यासकारों से उसकी 'एप्रोच' का अन्तर स्पष्ट है। पिछले युग के उपन्यासकार समग्र जीवन के परीक्षण के माध्यम से 'अहं' को पहचानने का यत्न करते थे जब कि आज का उपन्यासकार 'अहं' के माध्यम से ही समस्त जीवन का विश्लेषण करना चाहता है। परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि वह अपने 'अहं' के रहस्यों को पहचानने के प्रयत्न में ही इतना अधिक थक गया है कि सम्पूर्ण मानव-जीवन को एकबारगी देख सकने की दृष्टि अब उसके पास शेष नहीं रही है। उस प्रवृत्ति का एक स्पष्ट फल यह हुआ है कि आज उपन्यासों के स्थान पर लघु उपन्यास अधिक लिखे जा रहे हैं। पूरे आकार के उपन्यास तो अब बहुत ही कम लिखे जाते हैं। इन लघु उपन्यासों के माध्यम से

उपन्यासकार अपने पीड़ित तथा विक्षुब्ध 'अहं' की किसी समस्या को ही हमारे सामने रखकर, अपने कर्तव्य को समाप्त हुआ समझने लगता है। जीवन को उसकी विशालता तथा समग्रता में देख पाने के लिए जिस सहज आस्था, गहरी सहानुभूति तथा व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, उनका उसके पास अभाव है।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों के उपर्युक्त संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास के सभी दायित्वों का निर्वाह उनमें भली भाँति नहीं हो सका है। परन्तु अभी तो हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अपनी विकासावस्था को पार करके प्रौढ़ावस्था तक पहुँचा भी नहीं है; अतः उसकी वर्तमान स्थिति से हमें बहुत निराश होने की आवश्यकता नहीं। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', उदयशंकर भट्ट के 'वह जो मैंने देखा', इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' तथा 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये उपन्यासकार यदि अपने दायित्वों का बहुत सफलतापूर्वक निर्वाह न भी कर पाए हों, तो भी उनको पहचानने तथा समझ पाने का वे भरसक यत्न कर रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह यत्न ही अपने-आपमें अत्यन्त शुभ तथा आशाप्रद है।

उपन्यासकार की महत्ता तथा ऊँचाई बहुत-कुछ उसकी अनुभूति-प्रवणता पर भी निर्भर होती है। यह तो किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि आज का हिन्दी-उपन्यासकार अनुभूति-प्रवण नहीं है। पर जिस 'अहं' की थकाने वाली खोज की चर्चा हमने ऊपर की है, उससे अपने-आपको सम्प्रति कुछ समय के लिए मुक्त करके, यदि आज हिन्दी-उपन्यास समग्र मानवता की संवेदना तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करे तो वह अपने दायित्वों का निर्वाह काफ़ी अच्छे ढंग से कर पाएगा, यह बात विवाद से परे है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी-उपन्यास की विकास-रेखा : उपलब्धियाँ और अभाव

: १ :

सन् १८८२ से लेकर सन् १९१५ तक हिन्दी-उपन्यास का आरम्भिक और संक्रांति-काल रहा है। इस काल के प्रतिनिधि उपन्यास-लेखकों में श्री देवकीनन्दन खत्री, श्री किशोरीलाल गोस्वामी और श्री ब्रजनन्दनसहाय के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से खत्रीजी के उपन्यास घटना-प्रधान, मनोरंजक और कौतूहल-वर्धक कहे जा सकते हैं। इनके उपन्यासों का विधान तिलिस्म और जासूसी के उन प्रयोगों को लेकर किया गया है जो पिछले समय के जागीरदारों और सामन्तों के क्रीड़ा-विलास के परिचायक हैं। यद्यपि इन उपन्यासों में असम्भव घटनाओं का योग है, परन्तु साथ ही घटनाओं की योजना कौतूहल की वृद्धि करती रहती है, जिसमें पाठक का मन रमता है। नायक और नायिकाएँ यद्यपि राजकीय वर्गों से ली गई हैं, परन्तु उनका चरित्र-निर्माण प्रेम और वीरता के स्वच्छन्द प्रसंगों को लेकर ही हुआ है, जिससे उनमें जन-साधारण के लिए भी आकर्षण आ गया है।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के पात्र और चरित्र मध्यवर्गीय समाज के प्रतिनिधि हैं, यद्यपि उनका चित्रण सामाजिक वास्तविकता की भूमि पर न होकर परम्परागत प्रेम-पद्धति की भूमि पर हुआ है। गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक, सामाजिक, गार्हस्थिक और काल्पनिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे, परन्तु सबके मूल में प्रेम-चर्चा ही प्रधान रूप से आ पाई। रीतिकाल की नायक-नायिका-चर्चा का यथेष्ट प्रभाव उनके उपन्यासों पर दिखाई पड़ता है। अतएव उनके उपन्यास सामाजिक जीवन की यथार्थता से दूर-ही-दूर रहे और एकान्तिक तथा परम्परागत प्रेम-लीला को ही अपना विषय बना पाए। उर्दू-काव्य और पारसी नाटकों का प्रभाव लेकर उपन्यास लिखने वाले रामलाल वर्मा किशोरीलाल गोस्वामीजी से भी एक कदम आगे बढ़े हुए हैं। उनके उपन्यासों में नायक-नायिका की अवतारणा अत्यधिक नाटकीय, अतिरंजित और काल्पनिक है।

तीसरी श्रेणी श्री ब्रजनन्दनसहाय के भावात्मक उपन्यासों की है, जिनमें उपन्यास के सुदृढ़ कथा-सूत्र के बदले गीति-काव्य का सा सूक्ष्म भावना-तन्तु ही अधिक रहता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की धारा अटूट नहीं रह पाती, घटनाओं की विरलता हो जाती है। भाषा की आलंकारिकता, लम्बे-लम्बे वाक्यों की खींच-तान और भावात्मक उद्‌गारों की भूल-भुलैयाँ में पाठक अपने को खो बैठता है। उपन्यासों की इस परम्परा को हम संस्कृत की 'कादम्बरी' का ही आधुनिक रूप कह सकते हैं, यद्यपि 'कादम्बरी' के अनेक गुणों का इनमें बहुत कुछ अभाव है।

इस नव-निर्माण के बीच कभी कोई उपन्यासकार किसी पौराणिक या सामाजिक कथानक का आधार लेकर कोई उपदेशात्मक कृति प्रस्तुत कर देता था, और कभी कोई भावुकतापूर्ण रचना सामने आ जाती थी, परन्तु सामाजिक प्रगति और जीवन की वास्तविकता में पैठकर उसके यथार्थ और प्रभावशाली चित्र हमारे आरम्भिक उपन्यासकार अधिक मात्रा में नहीं दे सके। तब तक रीति-युग के साहित्यिक संस्कार बने हुए थे और नवीन सामाजिक चेतना का उदय नहीं हुआ था। हिन्दी-उपन्यासों के नये युग का निर्माण करने में अँग्रेजी और बंगला आदि से किये गए अनुवादों का भी कुछ कम हाथ नहीं है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उन दिनों अँग्रेजी से साहसिक जासूसी और प्रेम-चर्चा-प्रधान उपन्यासों का जितना अनुवाद हुआ, उतना सांस्कृतिक और सामाजिक उपन्यासों का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक लोक-रुचि का परिमार्जन हिन्दी में नहीं हो पाया था। अच्छी कृतियों का बाजार नहीं था। यह भी सम्भव है कि अँग्रेजी के श्रेष्ठतम उपन्यास तब तक इस देश में प्रचलित ही न हो पाए हों। तभी तो 'लंदन रहस्य' और 'लैला' जैसे साहसिक और प्रेम-चर्चा-प्रधान उपन्यास ही अनुवाद-योग्य समझे गए। 'टाम काका की कुटिया' के रूप में एक अच्छे उपन्यास का अनुवाद अवश्य हुआ। बंगला से भी कुछ अच्छी कृतियाँ अनूदित होकर आईं जिनमें 'स्वर्णलता', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'वंगविजेता', 'विरजा', 'दीपनिर्वाण', 'युगलांगुलीय' तथा 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' आदि उल्लेखनीय हैं।

: २ :

उपन्यासों के निर्माण और अनुवाद के आरम्भिक युग को पार करते ही हम हिन्दी-उपन्यासों के उस नये युग में प्रवेश करते हैं, जिसका शिलान्यास प्रेमचन्द जी ने किया और जिसमें आकर हिन्दी-उपन्यास एक सुनिश्चित कला-स्वरूप को प्राप्त करके अपनी आत्मा को पहचान सका तथा अपने उद्देश्य से परिचित होकर उसकी पूर्ति में लग सका।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्शवादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में वे आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। उनकी दूसरी विशेषता उनकी ध्येयोन्मुखता है। उन्होंने प्रत्येक स्थान में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठाए हैं, उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचन्द जी लक्ष्यवादी हैं और चरित्र तथा कथा के स्वरूप-निर्माण में वे आदर्शवादी हैं। 'सेवासदन' में सुमन के चरित्र का सुधार करके प्रेमचन्द जी एक आश्रम की प्रतिष्ठा करते और उसके जीवन का उज्ज्वल अध्याय आरम्भ करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में यह वस्तु और भी स्थूल बनकर आई है। 'प्रेमाश्रम' में आदर्श ग्राम की सृष्टि उपन्यास के उत्तरार्ध में की गई है। यह प्रेमचन्द का ध्येयवाद या उद्देश्यवाद है। गाँवों की परिस्थिति का द्वन्द्वमय-चित्रण उपन्यास के पूर्वार्ध में किया गया है। नायक के रूप में एक आदर्शवादी चरित्र की अवतारणा की गई है; परन्तु लक्ष्य को अन्ततः स्पष्ट करने के लिए उद्देश्य के रूप में आदर्श ग्राम का निर्माण कर दिया गया है। आदर्श-प्रधान पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण और चित्रण तो कला के लिए वर्जित नहीं है, परन्तु उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द जी को उपदेशात्मक लेखकों की श्रेणी में पहुँचा देती है। उपन्यासकार की आदर्शात्मक प्रेरणा और उनकी उपदेशात्मक वृत्ति में प्रायः संघर्ष रहा करता है। कतिपय उपन्यासों में आदर्श

चरित्र का स्वाभाविक स्वरूप रहता है, परन्तु कुछ उपन्यासों में लक्ष्य को प्रधानता देने के लिए कृत्रिम रूप से पात्रों एवं चरित्रों को मोड़ना पड़ता है। उदाहरण के लिए 'सेवा सदन' उपन्यास में वेश्या-वृत्ति ग्रहण कर लेने वाली सुमन का एक ही दिन में सुधार हो जाता है और वह वर्षों की यन्त्रणा के पश्चात् जिस पेशे को अपनाती है उसे एक ही उपदेश से छोड़ बैठती है। इसमें कृत्रिमता दिखाई देना स्वाभाविक है। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यास को उपदेशात्मक और उद्देश्य-प्रधान रूप देने के लिए नायिका का रूप-परिवर्तन किया गया है।

प्रेमचन्द जी के चरित्र वर्गगत, जातिगत या प्रतीकात्मक होते हैं। जमींदार किसान आदि में अपने वर्ग की साधारण विशेषताओं का आरोप रहता है। आधुनिक व्यक्ति-चित्रण-प्रणाली से वे दूर हैं। केवल कुछ पात्रों में स्वतन्त्र विशेषताओं का चित्रण किया गया है; वह भी परिस्थितियों के गहरे घात-प्रतिघात की भूमिका पर नहीं।

'प्रेमाश्रम' के पश्चात् प्रेमचन्द जी का 'रंगभूमि' नामक उपन्यास हिन्दी में आया। इसका क्षेत्र 'प्रेमाश्रम' से भी व्यापक था। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, नागरिक, ग्रामीण के साथ विभिन्न वर्गों और स्थितियों की योजना, एवं गाँव तथा नगरों के परिवारों का वर्णन किया गया। इसके लिखे जाने के समय गान्धीजी का सत्याग्रह-आन्दोलन पराकाष्ठा पर था। गान्धीजी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्शमूलक विचारों से यह उपन्यास प्रभावित है। सूरदास नामक अन्धा पात्र भारतीय ग्रामीण-जीवन का प्रतीक तथा गान्धीवादिता में पगा हुआ है। वह अन्धा निर्बल होने पर भी निष्ठावान् है। विनय, सोफिया और प्रभुसेवक आदि के चित्रणों में भी गान्धीवादी जीवन-दृष्टि का प्रभाव है। सूरदास परतन्त्र किन्तु स्वाधीनता-कामी भारतीय जीवन का प्रतिनिधि है। भारतीय निर्बलता और साधनहीनता के साथ ही गान्धीजी द्वारा प्रतिष्ठित आशावादिता और अजेयता भी सूरदास के जीवन में सन्निहित है। इस तरह उसके जीवन में विरोधी परिस्थितियों और गुणों का मिश्रण है।

'रंगभूमि' गान्धीवादी उपन्यास इसलिए कहा जाता है कि यह गान्धीजी की राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है। 'रंगभूमि' प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक विकसित सोपान है। गान्धीवाद का प्रभाव साहित्य वा जीवन पर जैसा भी कुछ पड़ा वह 'रंगभूमि' में दिखाई पड़ता है। चरित्रों की विविधता, बहुलता (औपन्यासिक बाहुल्य) और तत्कालीन जीवन की व्यापकता का चित्रण 'रंगभूमि' की अपनी विशेषता है।

सन् १९२० के पश्चात् प्रेमचन्दजी की रचनाओं में और भी प्रौढ़ता आई और भारतीय जीवन के विस्तृत पक्षों का चित्रण उनमें किया गया। अत्यन्त प्रत्यक्ष विषय-वस्तु के साथ अत्यन्त उदात्त चरित्रों और पात्रों की सृष्टि करना कला की दृष्टि से एक असाध्य-सा प्रयास है, परन्तु इस कठिनाई के रहते हुए भी प्रेमचन्द जी ने भारतीय समाज का जो व्यापक और जीता-जागता विवरण दिया है, वह उनके उपन्यासों को महत्त्वपूर्ण बना देता है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी कला अपनी सीमा पर पहुँच गई है, परन्तु प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का विकास रुका नहीं। 'गबन' में सामाजिक भूमि पर मनोवैज्ञानिक चित्रण अधिक परिपुष्ट होकर आया है और उपन्यास का घटना-विन्यास भी अधिक व्यवस्थित और संयत है। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन का पूरा चित्र उसकी सम्पूर्ण वेदना के साथ ला उपस्थित किया है। उपन्यास का प्रधान पात्र होरी अनेक संकटों को झेलता हुआ आगे बढ़ता है। उसे जीवन में

असफलता ही हाथ लगती है, फिर भी प्रेमचन्द जी की लेखनी ने उसे असफलताओं के बीच एक गौरव और दृढ़ता दे रखी है।

प्रसादजी के उपन्यास मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परिस्थितियों को लेकर आरम्भ हुए थे। उनका 'कंकाल' विचार-प्रधान प्रथम उपन्यास है। उसमें प्रसादजी ने हमारी उच्च जातीयता और आभिजात्य की भावनाओं पर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगाया है। हमारे 'आदर्शवादी' चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियों में परखकर उसे कच्चा सिद्ध किया है। 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमें प्रसादजी ने किसानों और मजदूरों के जीवन-चित्र उपस्थित किये हैं। किसान-बालिका तितली उपन्यास की प्रमुख पात्री है। वह स्वल्प शिक्षित, किन्तु महान् अध्यवसायी लड़की है। उसके चित्रण द्वारा प्रसादजी ने ग्रामीण परिस्थिति में नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नव-निर्माण-सम्बन्धी अपने सुझाव रखे हैं, जो सहयोगिता और सम्मिलित खेती के आदर्श पर आधारित हैं। प्रसाद का तीसरा उपन्यास ऐतिहासिक था, किन्तु वह उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। तीसरे मुख्य उपन्यास-लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा हैं, जिन्होंने अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास ही लिखे हैं। इनके उपन्यासों में विवरणों की इतनी प्रचुरता होती है कि उपन्यास घटना-वर्णन से भरे-पूरे लगते हैं। इतिहास की दूरी से घटना-विवरणों का आकर्षण बढ़ जाता है और स्वच्छन्दता के वातावरण में घटने वाले वीरतापूर्ण दृश्य, वन्य-व्यवहार तथा प्रेम-चर्चा आदि एक अनोखी सबल सभ्यता का हवाला देते हैं। आदर्शवादी पद्धति पर जीवनानुभव से पूर्ण वर्णन-प्रधान कृतियाँ प्रस्तुत करने वाले ये उपन्यास-लेखक हमारी नई बृहत्-त्रयी में आते हैं।

: ३ :

इनके पश्चात् हिन्दी के उपन्यासों की एक नव्यतर धारा चली, जिसमें भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्रकुमार की कृतियाँ आती हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी आरम्भ में प्रेमचन्द जी का आंशिक प्रभाव लेकर चले थे, पर शीघ्र ही उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृश्य-चित्रों की प्रमुखता होने लगी और पात्रों तथा परिस्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाने लगा। यह एक नया उपक्रम था, जो हिन्दी-उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र-सृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमि पर ले आया। यह एक दृष्टि से पुरानी विवरणपूर्ण सामाजिक उपन्यासों की पद्धति से आगे बढ़ा हुआ प्रयास है, पर दूसरी दृष्टि से इसमें एक अनिवार्य दुर्बलता भी है। जब कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़कर एकान्तिक मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में लग जाते हैं, तब न तो सच्चे अर्थ में नया चरित्र-निर्माण ही हो पाता है और न उपन्यासों की सामाजिक उपादेयता ही रह जाती है। जो पात्र और परिस्थितियाँ इन उपन्यासों में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करती हैं। ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की प्रेमचन्द जी की परम्परा को पकड़कर चलते और साथ ही उनमें वैयक्तिक चरित्रांकन और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण का सामर्थ्य भी होता, तब ये उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा से आगे बढ़े हुए कहे जाते। जैसे ये हैं, इन्हें हम अब तक एक नया प्रवर्त्तन ही मान पाए हैं। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है। पश्चिमी उपन्यास 'थाया' की भी

यही भूमिका है, परन्तु भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' दो पुरुष-पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यह कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हल्की कलम से सँभाल पाना सम्भव नहीं है। कदाचित् इसीलिए 'चित्र-लेखा' एक प्रश्न बनकर ही रह गई है। जैनेन्द्रजी द्वारा मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक विशेषताओं को चित्रित करने का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक प्रयास उनकी आरम्भिक कृतियों में किया गया था। परन्तु जब से जैनेन्द्रजी मनोवैज्ञानिक निर्माण के साथ दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे, तब से उनकी रचनाओं का प्रभाव और उत्कर्ष सन्दिग्ध हो गया है। कदाचित् मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश की प्रमुखता रखने वाले उपन्यासों को दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान के सम्पर्क में लाना ही खतरनाक है। आज के मनोविज्ञान-विशेषज्ञ भी अपने को तत्त्व-दर्शन की भूमि से अलग ही रखना अच्छा समझते हैं। हिन्दी-उपन्यासों की इस मध्य-त्रयी का अधिक उपयोगी कार्य शायद भविष्य में सम्पन्न हो।

: ४ :

एक और त्रयी हिन्दी के नवीनतम उपन्यास-क्षेत्र में काम करने लगी है। यह है यशपाल, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की। चौथा नाम उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का भी इसी के साथ लिया जा सकता है। यशपाल जी अपने आरम्भिक उपन्यासों में केवल साम्यवादी सिद्धान्त का ही उद्घोटन कर सके थे, पर क्रमशः उनकी कृतियों में स्वाभाविकता का सौन्दर्य निखरने लगा है। यशपाल जी का अनुभव-क्षेत्र बड़ा है और वे विशाल और निर्बाध जीवन-परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता रखते हैं। फिर पता नहीं क्यों वे इस शक्ति का परिपूर्ण उपयोग न करके एक सिद्धान्त-विशेष की छाया में ही साहित्य के पौधे को पनपाना चाहते हैं। क्या यह अधिक अच्छा न हो कि वे जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से उसे यथेष्ट खाद्य लेने दें। सिद्धान्त के गमले में रखे, चौबीस घण्टे की छाया में पले, ये पौधे कहाँ तक बढ़ पाएँगे? यशपाल जी इस बात को क्यों भूल जाते हैं कि उनकी शक्तियों का कहीं अच्छा उपयोग मतवाद के घेरे से बाहर निकल जाने पर ही हो सकेगा। वे इतिहास के आलोक में साहित्य की परम्परा को देखें और पहचानें—कहीं भी दार्शनिक या बौद्धिक कठघरे के भीतर महान् साहित्य की सृष्टि नहीं हुई। यशपाल जैसे अनुभवी लेखक भी इससे सीख नहीं ले सकते, यह आश्चर्य की बात है। किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुण्ठा ही नहीं, बल्कि मनुष्यता के लिए एक पंगुकारी रोग भी है। इस सीधी-सी बात के औचित्य को समझना यशपाल जी के लिए कुछ भी कठिन नहीं, पर क्या वे इसे समझने की चेष्टा करेंगे?

इसी प्रकार इलाचन्द्र जी भी क्रमशः समाज की व्यापक स्थितियों के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे हैं और आश्चर्य तो यह है कि यह सब यथार्थवाद और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर किया जा रहा है। हम मानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता बढ़ रही है और उस विशेषज्ञता का साहित्यिक उपयोग भी होना ही चाहिए। पर प्रश्न यह है कि कुछ चुने हुए वैज्ञानिक क्षेत्रों से सामग्री लेकर क्या वास्तविक मानव-चरित्र

और उसके सामाजिक विकास-क्रम का पूरा परिदर्शन किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि अब हिन्दी-उपन्यास एक अनिर्दिष्ट सामाजिक विकास और चरित्र-निर्देश की भूमि से आगे बढ़कर विशेषज्ञता के क्षेत्र में आ रहा है और हमें अधिक वैज्ञानिक और 'यथार्थ' कला-सृष्टियाँ मिलने वाली हैं। सम्भव है इस कथन में कुछ सत्य भी हो, पर इसे मान लेने में हमारी प्रमुख आपत्ति यह है कि यह उपन्यास-लेखक के लिए कतिपय बौद्धिक तथ्यों और निर्णयों के आधार पर एक आख्यान बना देने के अतिरिक्त कोई काम ही नहीं छोड़ता। लेखक के निजी जीवन के विस्तृत अनुभवों के लिए अवकाश नहीं रह जाता। समाज की सजीव गति-विधियों को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर तो हम विभिन्न विज्ञानों की पुस्तकों को सामने रखकर ही साहित्य-रचना करते रहेंगे और यह भी सम्भावना है कि साहित्यिक मूल्यों को छोड़कर वैज्ञानिक मूल्यों को प्रधानता देने लगेंगे। विज्ञान के नाम पर हीन और रुग्ण भावनाओं का चित्रण भी श्रेष्ठ साहित्य के नाम पर खपने लगेगा। क्या इस प्रक्रिया के द्वारा श्रेष्ठ साहित्यिक निर्माण की सम्भावना रह जायगी?

'अज्ञेय' जी की स्थिति बहुत-कुछ इन दोनों की मध्यवर्तिनी है, इसलिए वे 'शेखर : एक जीवनी' के रूप में कदाचित् इन दोनों से अधिक साहित्यिक तथ्यपूर्ण कृति प्रस्तुत कर सके हैं। फिर भी 'शेखर : एक जीवनी' को पढ़ने पर कम-से-कम दो स्थानों पर अतिचिन्तनीय समस्याएँ उपस्थित होती हैं। एक तो पुस्तक के वे 'प्रयोगात्मक' स्थल, जिनमें किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के उद्घाटन के लिए कथा-क्रम की स्वाभाविकता बिगाड़ दी गई है, जिनमें बौद्धिक निर्देश प्रमुख होकर कला के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन गए हैं और दूसरे वे स्थल, जिनमें लेखक की भावुक और 'अवैज्ञानिक' प्रेम-प्रतिक्रिया स्वस्थ और सन्तुलित चरित्र-धारणा नहीं बना पाई है। स्पष्ट है कि एक स्थान पर अतिरिक्त बौद्धिकता कला-निर्माण में विक्षेप उत्पन्न करती है और दूसरे स्थान पर अतिरिक्त भावुकता और अन्तर्मुखता चरित्रांकन में अवरोध डालती है। इस प्रकार के विक्षेप क्यों सम्भव हुए? मेरा उत्तर यह है कि इनका कारण है स्वस्थ सामाजिक चेतना की कमी और कला के क्षेत्र में अतिरिक्त बौद्धिकता और 'विज्ञान' का आगमन। इन कमियों और ज्यादतियों को दूर करना ही होगा, तभी हम हिन्दी-उपन्यासों को प्रेमचन्द की गौरवपूर्ण परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी बना सकेंगे।

'अश्क' जी के उपन्यासों में 'यथार्थ' की प्रवृत्ति 'वैज्ञानिक' सीमा पर नहीं पहुँची है, परन्तु उनके उपन्यास भी मध्यवर्गीय समाज की गति-विधि को एक विशेष दृष्टि से ही चित्रित करते हैं। उनके उपन्यासों में उक्त समाज के ऐसे ही पहलू आए हैं जिनमें निष्क्रियता, उद्देश्य-हीनता और हल्के विषाद की छाया पड़ी हुई है। इन रचनाओं को पढ़ने पर हमें समाज के ऐसे चित्र मिलते हैं जिनमें 'यथार्थता' हो सकती है, परन्तु इनके पढ़ने पर हमारे मन में ऐसी स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर होती हैं।

: ५ :

ऊपर के विवरण से हिन्दी-उपन्यास की संक्षिप्त विकास-रेखा तथा उसकी कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है, परन्तु हिन्दी-उपन्यास की सम्पूर्ण उपलब्धि इतने से ही स्पष्ट

नहीं होती। इस निमित्त कई और बातें ज्ञातव्य हैं। पहली बात यह है कि हिन्दी-उपन्यास आज अपने आकार-प्रकार में खूब भरा-पूरा है। लेखकों की संख्या पर्याप्त है और प्रथम श्रेणी के औपन्यासिकों के पीछे ही द्वितीय श्रेणी के उपन्यासकारों का एक अच्छा दल सदैव साथ रहा है। हिन्दी में उपन्यासों की बहुत काफी माँग रही है अतएव उसकी पूर्ति के लिए बँगला, उर्दू, अँग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के उपन्यास भी अच्छी संख्या में रूपान्तरित किये गए हैं। संख्या और परिमाण में ही नहीं; विषय, शैली और जीवन-क्षेत्र की विविधता की दृष्टि से भी हिन्दी-उपन्यास समृद्ध कहा जा सकता है।

उपन्यासों के क्षेत्र में मौलिक प्रतिभा की कमी नहीं रही। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास देश-व्यापी प्रसिद्धि पा चुके थे; उन्हें पढ़ने के लिए सहस्रों अहिन्दी-भाषियों ने हिन्दी पढ़ी थी। प्रेमचन्द के उपन्यास, कतिपय स्पष्ट सीमाओं के रहते हुए भी, राष्ट्रीय श्रेणी की कृतियाँ हैं; जिन्हें हम विदेशों में भारतीय प्रतिभा के नमूने के तौर पर रख सकते हैं। अधिक नये समय में यशपाल और 'अज्ञेय', इलाचन्द्र और जैनेन्द्र तथा राहुल और वृन्दावनलाल (भरती की चीजों को छोड़-कर) अन्तरराष्ट्रीय या विश्व-श्रेणी का कृतित्व उपस्थित कर रहे हैं, यद्यपि ये सभी लेखक अभी अपने परिपूर्ण विकास की सीमा पर नहीं पहुँचे हैं और लगातार काम करते जा रहे हैं। विशेषता यह है कि इन सभी लेखकों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण एक-दूसरे से स्वतन्त्र है और रचना के क्षेत्र में भी इन लोगों में कहीं कोई समानता नहीं है।

हिन्दी-उपन्यास राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिष्कार के अस्त्र के रूप में भी काम करता आया है। यों तो साहित्य की सभी कृतियाँ संस्कृति की उन्नायक होती हैं—साहित्य स्वतः ही सांस्कृतिक वस्तु है—परन्तु कुछ विशिष्ट कृतियाँ अत्यन्त सीधे और असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रीय प्रगति का सम्बल बन जाती हैं। इन कृतियों का एक पहलू तो साहित्यिक होता है और दूसरा होता है सामाजिक प्रगतिवादी। इन दोनों पहलुओं के बीच सन्तुलन स्थापित करने की समस्या इनके समक्ष रहा करती है। सभी लेखक एक-सा सन्तुलन नहीं कर पाते। परिणाम में उनकी कृतियाँ प्रायः प्रचारात्मक हो जाती हैं।

दूसरे प्रकार के लेखकों के सम्मुख यह कठिनाई नहीं रहती। वे आदि से अन्त तक साहित्यिक भूमिका पर ही रहना चाहते हैं। परन्तु ऐसे लेखकों में एक दूसरे प्रकार की कमजोरी आ जाती है—उनका वस्तु-पक्ष एकान्तिक और निर्बल होने लगता है। यदि हम आज के लेखकों में यशपाल की तुलना 'अज्ञेय' से करें तो इन दोनों की विभिन्नता प्रकाश में आ जायगी। यश-पाल के चरित्र-चित्रण की तूलिका अधिक मोटी और एक अंश तक भोंड़ी और परुष है। 'अज्ञेय' की लेखनी चरित्र का सूक्ष्म सौष्ठव प्रदर्शित करने में अधिक समर्थ है। यशपाल के पात्र ऊपर से देखने में असभ्य किन्तु प्रकृत्या खूब बलिष्ठ हैं जब कि 'अज्ञेय' के पात्र सभ्य और संस्कृत होते हुए भी निसर्गतः अवसर-प्राप्त वर्ग के हैं। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों में अपनी-अपनी खूबियाँ हैं। 'अज्ञेय' के उपन्यास हमारे ऊँचे रहन-सहन और हमारे बौद्धिक उत्कर्ष को ज्ञापित करते हैं, परन्तु यशपाल के उपन्यास समाज के वैषम्य पर प्रहार करने का लक्ष्य रखते हैं।

आज के कुछ लेखक चरित्र की सूक्ष्म वैज्ञानिक विशेषताओं का विश्लेषण करते हैं और इस प्रकार अपने कार्य-क्षेत्र को बहुत काफी सीमित बना लेते हैं। उनका सारा दावा विशेषज्ञता

का होता है। ये शैली के क्षेत्र में भी नये प्रयोगों को अपना रहे हैं और बड़ी विलक्षण विधियों से पाठकों के सम्मुख पहुँच रहे हैं। ऐसे लेखकों के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनकी पहुँच हिन्दी-भाषी-समाज के बहुत थोड़े अंश तक हो सकती है, अधिकांश समाज के लिए उन कृतियों का कोई उपयोग नहीं है।

इसीके साथ कुछ अन्य लेखक देश में घटित होने वाली कतिपय प्रमुख घटनाओं और हलचलों के आधार पर उपन्यास-लेखन का काम कर रहे हैं। उदाहरण के लिए बंगाल का अकाल और उपस्थापितों की समस्याओं को लेकर कई अच्छी कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। ऐसी कृतियों में भय इतना ही रहता है कि वे अत्यधिक यथातथ्यवादी होकर साहित्य का सृजन करने वाली मानव-भावना के सार्वजनीन रूप को खो न बैठें। ऐसा होने पर उन कृतियों का केवल सामयिक मूल्य रह जायगा।

कुल मिलाकर नये उपन्यास भारतीय जीवन-क्षेत्र की बहुत बड़ी विविधताओं को लेकर चल रहे हैं। यह शुभ लक्षण है। इससे प्रतिभा और अनुभव की प्रचुरता का प्रमाण मिलता है। परन्तु इन दो तथ्यों के साथ तीसरा तथ्य व्यक्तित्व की सुव्यवस्थित साधना और क्षमता का है। स्वतन्त्रता-संघर्ष के युग में इस पिछली वस्तु के लिए बहुत अनुकूल वातावरण था। कदाचित् इसीलिए उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द-जैसे असाधारण व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ था। कला और साहित्य की प्रगति में हमारा युग प्रेमचन्द से आगे बढ़ आया है, परन्तु उनकी जोड़ का दूसरा व्यक्तित्व आज तक उपन्यास-क्षेत्र में नहीं आ सका। यह कमी हमारे मानस-पट पर रेखांकित रहेगी और इसके कारणों की ओर भी हम अपनी दृष्टि डाले रहेंगे।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध लेखक 'अज्ञेय' का यह निर्देश हमारे ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—"यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आन्दोलन ने जहाँ साहित्यकार की दृष्टि को एक नई दिशा में मोड़ा है, वहाँ एक दूसरे परिदृश से उसे हटा भी दिया है। सामन्तकालीन साहित्य में अगर उच्च-वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल एक परिपाटी के ढाँचे में ढली हुई छायाएँ-मात्र थे, तो आज की साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है। उसने भुलुआ धोबी और मनुआ चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है।

प्रेमचन्द की और हमारी दृष्टि में यह अन्तर होता जा रहा है कि प्रेमचन्द को मानवता से प्रेम था, हम केवल मानवता की प्रगति चाहते हैं। हमने आख्यान-साहित्य को प्रेमचन्द जी से आगे बढ़ाया है, लेकिन केवल 'टेकनीक' की दिशा में। साहित्यकार की संवेदना को—उसकी मानवीय चेतना को—हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है। यही एक कारण है कि प्रेमचन्द का आख्यान-साहित्य अब भी हमारा मार्ग-दर्शक हो सकता है। प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा हम उसी दिन कर सकेंगे जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्त्व ऐतिहासिक है।"

'अज्ञेय' जी के ये वाक्य समस्त लेखकों द्वारा विचारणीय हैं। मूलतः यह प्रश्न साहित्यकार के व्यक्तित्व का ही है, जिसका संकेत हमने अभी ऊपर किया है।

न्यूनताएँ तो और भी अनेक हैं, परन्तु उनसे विचलित होने की आवश्यकता नहीं। हमारे पास बालकों के लिए, सैनिकों के लिए, विनोद और हास्य के प्रयोजन के लिए उपन्यास

नहीं हैं, या बहुत कम हैं। कितनी ही समस्याएँ और सामाजिक प्रश्न अब भी उपन्यासकार को अपनी ओर पुकार रहे हैं। श्री प्रभाकर माचवे के अनुसार "साम्प्रदायिक समस्या, अछूतों के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियों के समानाधिकार का प्रश्न, राजनीतिक कार्यकर्ताओं की रोजी का प्रश्न, मुनाफाखोरी और विदेशी पूँजी से पलने वाले स्वदेशी पूँजीवाद का प्रश्न—अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो हमारे नित्य-जीवन को परेशान करते हैं।" इन पर उपन्यास लिखे जाने चाहिएँ।

हम मानते हैं ये सब प्रासंगिक न्यूनताएँ हैं। समस्याएँ हैं, और रहेंगी। उपन्यास लिखे जा रहे हैं और लिखे जायँगे। ऐसे समय की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जब सारी समस्याएँ समाप्त हो जायँगी और लिखने को कुछ रह न जायगा। यदि ऐसा कभी हो तो वह स्थिति वांछनीय न होगी; क्योंकि साहित्य के लिए और विशेषतः उपन्यास-लेखन के लिए वह एक निष्क्रिय स्थिति होगी। हम चाहते हैं कि समस्याएँ बनी रहें और उनकी पूर्ति के लिए उपन्यास-लेखक भी निरन्तर प्रयत्नशील रहें। हम केवल एक बात नहीं चाहते; वह है उपन्यास-साहित्य में मानव-संवेदना की कमी अथवा मानव-व्यक्तित्व का अपमान।

विजयशंकर मल्ल

उदय-काल : प्रेमचन्द के आगमन तक

: १ :

उपन्यास आधुनिक सभ्यता की देन है। बाह्य-जीवन की वास्तविकताओं को समग्र रूप में चित्रित करने वाला यह एक ऐसा साहित्य-रूप है, जो अपने पूर्व की कई साहित्यिक परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए भी अभिनव आकर्षण के साथ प्रकट हुआ। उसने मनुष्य के क्रिया-कलाप को चित्रित करते समय यह भी दिखलाया कि किसी चरित्र के जीवन में घटित होने वाले कार्य-व्यापारों को रोचकता प्रदान करने वाला वह जीवनोद्देश्य है जिसके लिए मानव जी रहा है और मर रहा है। सामयिक परिस्थितियों के साथ जीवनोद्देश्य का बाह्य-रूप भी बदलता रहता है। जिस समय हिन्दी का प्रथम उपन्यास प्रकाशित हुआ उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति बदलने के साथ ही सामाजिक स्थिति भी बदलने लगी थी—कृषि-प्रधान सामन्ती व्यवस्था समाप्त हो गई, देशी उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए, अंग्रेजी पढ़े-लिखे और अंग्रेजों के सम्पर्क में आए नवयुवकों के मन में हीनता की भावना फैल गई, अपने यहाँ के रीति-रिवाज और संस्कृति उन्हें बर्बरतापूर्ण मालूम होने लगी, अंग्रेजी सभ्यता की नकल और गौरांग प्रभुओं के प्रति स्वामि-भक्ति में उन्हें अपने जीवन की चरितार्थता प्रतीत होने लगी। इसी समय इतिहास की अनिवार्य माँग के फलस्वरूप एक दूसरा वर्ग भी पैदा हुआ जो देश में आत्म-विश्वास, स्वधर्म-निष्ठा आदि को जाग्रत करके सुधारवादी संस्थाओं द्वारा समाज में नवजीवन का संचार करने की चेष्टा करने लगा। अंग्रेजों ने भारतीय समाज के ढाँचे को ध्वस्त करने में कुछ उठा न रखा था, पर अनजान में नये समाज के लिए विधेयात्मक कार्य भी उन्होंने किये। मुद्रण-यन्त्र, वाष्प-शक्ति, रेल, शिक्षा के प्रसार आदि के द्वारा उन्होंने भारतीय समाज के नवसंगठन और राजनीतिक एकता के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं। इस समय नवजाग्रत समाज का सुधार करने के लिए ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफी, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज आदि ने देश-व्यापी कार्यारम्भ किया, पर सबसे अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी-भाषी जनता पर आर्यसमाज का पड़ा। उसने अन्य कार्यों के साथ सर्वाधिक महत्त्व का कार्य राष्ट्रीय तेज को बनाए रखने का किया—अपनी संस्थाओं के प्रति सम्मान-भावना जगाकर सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन करके।

देश के इस नव जागरण का आभास हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' में मिल जाता है। 'परीक्षा-गुरु' के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी-भाषी जनता संस्कृत की उपदेशमूलक अथवा प्रेममूलक और विस्मयजनक कथा-आख्यायिकाओं, लोक-प्रचलित जन-कथाओं, प्राचीन नाटकों के कथा-रूपों और बनावटी साहस, छल-छद्म और रोमानी प्रेम से भरी अरबी-फारसी की कहानियों के अनुवादों से ही अपना मनोरंजन कर रही थी। आधुनिक साहित्य के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

का ध्यान हिन्दी में उपन्यासों के अभाव की ओर भी गया और सबसे पहले उन्होंने सामयिक समस्या पर प्रकाश डालने वाले मराठी-उपन्यास 'पूर्णप्रभा-चन्द्रप्रकाश' का अनुवाद कराकर लेखकों को सामाजिक उपन्यास की सम्भावनाओं के प्रति सचेत करने की चेष्टा की। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अपने निबन्धों में पुरानी रचना-रूढ़ियों को छोड़कर जिस स्वतन्त्रता से समकालीन समाज को चित्रित किया उसने आधुनिक उपन्यास के आविर्भाव और विकास में परोक्ष रूप से सहायता दी। इन निबन्धों में उपन्यास के कई उपकरणों—वर्णन, विश्लेषण, चरित्र-चित्रण, संवाद—को कथानुरूप वर्णनात्मक गद्य में परखा गया। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने कई निबन्धों ('पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'प्राचीनों और नवीनों की चरितावली', 'यात्रा-वर्णन') में विभिन्न रूपों में अपने समय और समाज के चित्र उपस्थित किये, पर अधूरी 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' में तो उन्होंने जैसे 'परीक्षागुरु' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी। इसे भारतेन्दु के आत्म-चरित का अंश कहा जाता है, पर एक आत्मचरितात्मक उपन्यास की बहुत ही अच्छी सम्भावनाओं से युक्त यह लघु रचना-खण्ड अपने यथार्थ चित्रण, व्यंगगर्भ और चित्रात्मक वर्णन-शैली और साकांक्षता-गुण तथा सोद्देश्यता के कारण नवीन कथा-रूप की ओर से तत्कालीन लेखकों की सजग प्रवृत्ति का अच्छा परिचय देता है। इसका आरम्भ इस प्रकार हुआ है—

"*प्रथम खेल*

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या ?
बदलता है रंग आसमा कैसे-कैसे ॥

हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा ही पवित्र दिन है। संवत् १६३० में मैं जब तेईस वर्ष का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, वसन्त ऋतु, हवा ठण्डी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल-लाल, अजब समा बँधा हुआ, कसेरू, गँडेरी और फूल बेचने वाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ़ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहचानता था।"

पर इस प्रकार की रचनाओं से केवल लेखकों की प्रवृत्ति और अपूर्ण प्रयत्न का ही संकेत मिलता है। अंग्रेजी-साहित्य के द्वारा हिन्दी-लेखकों ने जब कथा-आख्यायिका और काव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों से युक्त एक नये साहित्य-रूप से परिचय किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि नये युग की आकांक्षाओं और सामाजिक परिस्थितियों को समग्र रूप में व्यक्त करने के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा, अतः सहज ही वे उसकी ओर आकृष्ट हुए। उसे अपने साहित्य में लाने के लिए उनकी चेष्टाएँ आरम्भ हो गईं और इस प्रयत्न में पहली सफलता श्रीनिवासदास को

मिली ।[1] यद्यपि बाद में बंगला-उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यासों को बहुत-कुछ प्रभावित किया, पर आरम्भ में हिन्दी-उपन्यासों पर अंग्रेजी का ही सीधा प्रभाव पड़ा। 'परीक्षा गुरु' के 'निवेदन' में बतलाया गया है कि 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी ।' लेखक ने अंग्रेजी में इसे 'नावेल' बतलाया है और हिन्दी में 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता' कहा है, बंगला 'उपन्यास' का कहीं उल्लेख नहीं है ।

: २ :

हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक लाला श्रीनिवासदास (सं० १६०८-४४) भारतेन्दु-मण्डल के एक प्रतिभाशाली सदस्य थे। व्यवहार-निपुणता के कारण १८ वर्ष की अल्प वय में ही वे राजा लक्ष्मणदास की कोठी के प्रधान मुनीम या मैनेजर नियुक्त हो गए। यह नगर के म्युनिसिपल कमिश्नर और ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे। संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू और अंग्रेजी का इन्हें अच्छा ज्ञान था। व्यापार का कार्य कुशलतापूर्वक करते हुए साहित्य-रचना के लिए भी ये अवकाश निकाल लेते थे। 'परीक्षा गुरु' की रचना के समय तक यह तीन नाटक लिख चुके थे जिनमें 'रणधीर और प्रेममोहनी' नाटक तो अपने समय की सर्वोत्तम रचनाओं में से एक माना जाता है। स्वभावतः ऐसे नीति-निपुण और व्यवहार-कुशल मध्यमवर्गीय लेखक के उपन्यास में तत्कालीन मध्यमवर्ग का जीवन और समाज यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है। इस 'नई चाल की पुस्तक' में नई रोशनी के एक व्यापारी का अपने खुशामदी और स्वार्थी मित्रों के फेर में पड़कर दिवालिया बनना और एक सच्चे हितैषी मित्र की सहायता से ऋण-मुक्त होकर सुधर जाना दिखलाया गया है। एक ऐसी कथा को, जिसमें न तो विस्मयजनक घटना-चक्र हैं और न कोई प्रेम-प्रसंग, लेखक ने ऐसे नाटकीय कौशल से विन्यस्त किया है कि उसमें अपूर्व आकर्षण आ गया है। संस्कृत कथा-आख्यायिकाओं में निबद्ध कथा-मालिका वाली प्रणाली को श्रीनिवासदास ने प्रायः यथार्थ जीवन से लिये गए ऐतिहासिक दृष्टान्तों की प्रासंगिक योजना के द्वारा (सम्भवतः अनजान में) एक नया ही रूप दे डाला है। फिर भी आधुनिक दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' की संविधानक-योजना में अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं। लम्बे-लम्बे सम्वादों और दृष्टान्तों ने कथा के प्रवाह में अक्सर बाधा डाली है और मूल कथा से बिलकुल स्वतन्त्र विवरणों और उपदेश-कथनों से मूल कथा की रोचकता कम हुई है। जहाँ पूरे 'प्रकरण' में शिक्षामूलक धरावाही सम्वादों की दीर्घ योजना हुई है वहाँ लेखक ने चिह्न लगा दिया है और भूमिका में बतला दिया है कि ऐसे प्रसंगों में जिनकी रुचि न हो वे उसे छोड़कर 'सिलसिलेवार वृत्तान्त' पढ़ सकते हैं।) पर उस युग में यथार्थ जीवन की घटनाओं से एक सोद्देश्य और प्रसरणशील कथा का नियोजन-मात्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जायगा। उपन्यास की घटनाओं को पूर्वापर क्रम से न लाकर नाटकीय ढंग से विन्यस्त किया गया है, जिससे उसमें पाठक की उत्सुकता बनाए रखने का गुण अवश्य आ गया है। 'परीक्षा गुरु' के चरित्र भी अपनी वैयक्तिक

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में श्रद्धाराम फिल्लौरी के संवत् १६३४ में प्रकाशित 'भाग्यवती' नामक 'सामाजिक उपन्यास' का उल्लेख किया है। मुझे यह उपन्यास देखने को नहीं मिला, पर शुक्लजी ने भी पहला 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास' 'परीक्षा गुरु' को ही माना है।

विशेषताओं के कारण नहीं बल्कि अपनी मानवीयता के कारण हमें आकृष्ट करते हैं। उनका क्रमिक विकास नहीं होता, पर मानवीय दुर्बलताओं और सबलताओं से युक्त होने के कारण हमारे जाने-पहचाने जीते-जागते मनुष्य के रूप में वे सामने आते हैं।

'परीक्षा गुरु' अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय देता है। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में इस वर्ग की पुरानी और नई पीढ़ी का वैषम्य सांकेतिक ढंग से अच्छे रूप में दिखलाया गया है। नायक मदनमोहन नवशिक्षित मध्यम वर्ग की कमजोरियों का मूर्तिमान रूप है। झूठी सम्मान-भावना, अकर्मण्यता, अंग्रेजों की नकल आदि में वह एकदम मध्यमवर्गीय कमजोरियों का पुञ्जीभूत रूप है। पर पुराने मध्यम वर्ग की संस्कृति में पले उसके पिता का रूप दूसरा ही था। "मदनमोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूता देखकर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिन्दी पढ़ी थी, वह बहुत सीधा-सादा मनुष्य था परन्तु व्यापार में बड़ा निपुण था···वह लोगों की देखादेखी नहीं, अपनी बुद्धि से व्यापार करता था···इस समय जिस तरह बहुधा मनुष्य तरह-तरह की बनावट और अन्याय से औरों की जमा मारकर साहूकार बन बैठते हैं सोने-चाँदी की जगमगाहट के नीचे अपने घोर पापों को छिपाकर सज्जन बनने का दावा करते हैं···ऐसा उसने नहीं किया था··· वह आप कभी बढ़कर न चला। वह कुछ तकलीफ़ से नहीं रहता था, परन्तु लोगों को झूठी भड़क दिखाने के लिए फ़िजूलख़र्ची भी नहीं करता था···वह अपने धर्म पर दृढ़ था ईश्वर में बड़ी भक्ति रखता था···वह अपने काम-धन्दे में लगा रहता था इसलिए हाकिमों और रईसों से मिलने का उसे समय नहीं मिल सकता था···बहुधा उनसे मिलने की कुछ आवश्यकता भी न थी क्योंकि देशोन्नति का भार पुरानी रूढ़ी के अनुसार केवल राज-पुरुषों पर समझा जाता था।"[1]

नये समाज में भी दो तरह के लोग थे। एक वर्ग के प्रतिनिधि मदनमोहन का उल्लेख हो चुका है, दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि उसका मित्र ब्रजकिशोर है, जो नई रोशनी का, पर स्वदेशाभिमानी और सावधान व्यक्ति है। तत्कालीन समाज की अधिकांश प्रमुख प्रवृत्तियों का द्योतन करने वाले उक्त पात्रों की कथा से उस समय की एक झाँकी पाठक को मिल जाती है। ब्रजकिशोर अपने जीवन में सदाचारी और सावधान, देश-दशा से परिचित और व्यावहारिक बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति है। ईमानदारी (प्रामाणिकता) सावधानी, व्यापारी के कर्तव्य, सुख-दुःख, फूट और कर्ज के दुष्परिणाम, विषयासक्ति, स्वेच्छाचार और स्वतन्त्रता आदि अनेक विषयों पर प्रकट किये गए उसके विस्तृत विचार मनन-योग्य हैं और जीवन के विषय में विकासोन्मुख मध्यम वर्ग के दृष्टिकोण को बहुत ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। ब्रजकिशोर विभिन्न अवसरों पर देश और समाज की स्थिति और उसकी उन्नति के उपाय बतलाता हुआ कहता है कि देश की अधोगति का मूल कारण एकता का नाश है। हिन्दुस्तान की भूमि में उन्नति के सब साधन हैं, केवल नदियों के पानी से मशीनें चल सकती हैं फिर भी अपनी अकर्मण्यता के कारण देशवासी उन्नति नहीं कर पाते।

"जब तक हिंदुस्तान में और देशों से बढ़कर मनुष्य के लिए वस्त्र और सब तरह

---

१. श्रीनिवास-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०७–८।

के सुख की सामग्री तैयार होती थीं, रक्षा के उपाय ठीक-ठीक बन रहे थे, हिन्दुस्तान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था परंतु जब से हिन्दुस्थान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई, वाफ और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्थान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी मेहनत और थोड़े समय में सब काम होने लगा। हिंदुस्थान की घटती के दिन आ गए···।" स्मरण रखना चाहिए कि ये सब बातें सन् १८८२ में कही गई हैं, जब कि जाग्रत भारतीयों का ध्यान मुख्यतः समाज-सुधार, औद्योगीकरण की आवश्यकता और खेती की उन्नति के लाभ की ओर गया था, विदेशी सत्ता के प्राणघाती राजनीतिक फंदे को अभी पूरा-पूरा वे समझ नहीं पाए थे। इस प्रकार 'परीक्षा गुरु' का चित्रपट काफी चौड़ा है और उस पर तत्कालीन नागरिक समाज की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ अंकित हो गई हैं। केवल औपन्यासिकता की दृष्टि से भी अपने ढंग का यह अकेला उपन्यास है।

सामाजिक उपन्यासों की जिस परम्परा का आरम्भ 'परीक्षा गुरु' के द्वारा हुआ वह बराबर चलती रही; पर उसका जैसा चाहिए वैसा विकास नहीं हो सका। गद्य-साहित्य के अत्यन्त लोकप्रिय रूप उपन्यास की ओर समकालीन अनेक लेखक मुड़े लेकिन किसी में भी श्रीनिवासदास का-सा कथा-कौशल नहीं मिलता। अपने अनुगामियों में वे सर्वाधिक 'आधुनिक', सामाजिक यथार्थ का विभिन्न कोणों से निरीक्षण करने में पर्याप्त पटु, नाट्य-कला और औपन्यासिक कौशल के जानकार तथा अपने ढंग के अकेले उपदेष्टा भी थे।

उन्नीसवीं सदी में अनेक सामाजिक और नैतिक उपन्यास लिखने के प्रयोग हुए। उनमें से अधिकांश का नाम भी अब कोई नहीं जानता। इनमें से कुछ ऐसे प्रयोगों का उल्लेख यहाँ किया जाता है जो अपनी समकालीन प्रसिद्धि अथवा परिचित लेखक की कृति होने से उल्लेख्य हैं। इस प्रकार के प्रयोक्ताओं में पं० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, महता लज्जाराम शर्मा आदि प्रमुख हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६ ई०) की रचना छात्रों को नैतिक शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखी थी। इसमें एक युवक के नैतिक आचरण से प्रभावित होकर एक डाकू का सुधर जाना दिखलाया गया है, पर ४७ पृष्ठों की यह कथाश्रयी रचना अनेक अस्वाभाविकताओं और दोषों से भरी हुई है। इनकी दूसरी रचना 'सौ अजान एक सुजान' में भी दो धनी व्यापारी भाइयों का दुष्ट संसर्ग से अधःपतित होना और एक मित्र की सहायता से सन्मार्ग पर आ जाना चित्रित किया गया है, पर पहली रचना की अपेक्षा इसका क़थानक अधिक समाज-व्यापी है।

सन् १८९० ई० में प्रकाशित श्रीराधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' प्रचलन के विरुद्ध शोकपर्यवसायी रचना है। गोवध-निवारण इसका मूल विषय है, जिसके प्रतिपादन के लिए एक बहुत ही कमजोर कथासूत्र तैयार किया गया है। इसका अन्त बच्चों के खिलवाड़-सा लगता है। भाषा इसकी उल्लेखनीय रूप से स्वच्छ, पात्रानुसारी और वाक्य-विन्यास विचार नियन्त्रित तथा वर्णन-शैली यथार्थ के आकर्षण से युक्त है।

बीसवीं सदी के यशस्वी कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सन् १८९९ में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नाम से जो उपन्यास लिखा उसमें ठेठ भाषा के प्रयोग पर तो उनका ध्यान रहा ही, पर झूठी आभिजात्य भावना के कारण अनमेल विवाह का जो दुष्परिणाम उन्होंने दिखाया है

वह अनेक औपन्यासिक त्रुटियों के रहते भी इस रचना को एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक आशय से युक्त कर देता है और इसीलिए सामाजिक उपन्यास की यात्रा का विवरण देते समय इसे भूला नहीं जा सकता। उपाध्याय जी का एक दूसरा उपन्यास 'अधखिला फूल' भी कुछ वर्षों बाद निकला।

उन्नीसवीं सदी के कुछ और सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं—महता लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' (सन् १८९९) और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (सन् १८९९ ई०) पर इन दोनों उपन्यासों, विशेषतः दूसरे उपन्यास की घटनाओं, में इतनी अतिरंजना है शृङ्गार का इतना ओछा प्रदर्शन है, गाने इतने बाजारू हैं कि पारसी नाटकों की याद आ जाती है। फिर भी इनसे यह तो पता चलता ही है कि हिन्दी-लेखकों में अपनी पुरानी संस्कृति की गौरव-भावना तेजी से बढ़ती जा रही थी। महता जी ने आगे भी 'आदर्श दम्पति' (१९०४ ई०), 'बिगड़े का सुधार' (१९०७) और 'आदर्श हिन्दू' (१९१५) आदि उपन्यास लिखे। श्री कार्तिक-प्रसाद खत्री के आत्मचरितात्मक 'दीनानाथ' (सन् १८९९ ई०) का विषय सम्मिलित हिन्दू-कुटुम्ब की समस्याएँ हैं।

इस समय सामाजिक-नैतिक उपन्यासों का प्रचलन देखकर कुछ लेखकों ने प्रेम के किस्सों में नीति-वाक्य चिपकाकर उपन्यास लिखने का प्रयास किया। रत्नचन्द प्लीडर-कृत 'नूतन चरित' (सन् १८८३ ई०) इस तरह की एक प्रतिनिधि रचना है। इसमें फारसी-उर्दू के किस्सों के बहुत-से हथकण्डे काम में लाये गए हैं। एक व्यक्ति ट्रेन में एक सुन्दरी को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है और फिर उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में जो विघ्न उपस्थित होते हैं वे कथा का ढाँचा तैयार कर देते हैं। बीच-बीच में अस्वाभाविक ढंग से नीति-वाक्य चिपका दिये गए हैं। अन्त में जो जैसा करता है वैसा फल पाता है और नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसमें नवाबों की विलासिता और भटियारिनों की लीलाएँ विस्तार से वर्णित हैं। वैसे उपन्यास मनोरंजक है, पर आधुनिक उपन्यास के यथार्थोन्मुख स्वभाव का परिचय इससे नहीं मिलता। इस तरह के और भी बहुत-से तथाकथित सामाजिक, नैतिक उपन्यास लिखे गए; पर आधुनिक उपन्यास की प्रगति में इनसे कोई सहायता नहीं मिली।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हिन्दी में सामाजिक और नैतिक उपन्यासों की धारा प्रमुख रही, पर इसके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक और साहित्यिक संस्कारों और प्रवृत्तियों की प्रेरणा से बीच-बीच में दूसरे प्रकार के उपन्यास भी लिखे गए। इन सबका विवरण आगे क्रमशः दिया जाता है।

: ३ :

इस समय संस्कृत कथा-आख्यायिकाओं के ढंग पर भी उपन्यास लिखने के कुछ प्रयोग हुए। ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न' (सन् १८८८ ई०) और पं० अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'आश्चर्य वृत्तान्त' (सन् १८९३ ई०) ऐसे ही प्रयोग हैं।

'श्यामा स्वप्न' स्वच्छन्द प्रेम की कहानी है, जिसके विभिन्न उपकरण रीति-कालीन प्रेम-प्रसंगों से एकत्र किये गए हैं। इसमें नायक, नायिका, सखी, दूती, विरह, मिलन आदि के वर्णन रीतिकालीन परिपाटी के हैं, पर इस कथा में स्वच्छन्द प्रेम, गान्धर्व-विवाह का औचित्य-

प्रतिपादन, क्षत्रिय कुमार का ब्राह्मण कुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव—इन सबकी जो योजना की गई है वह ऐसे ढंग से है कि प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में कठोर सामाजिक रूढ़ियों के प्रति तत्कालीन शिक्षितों में व्याप्त असन्तोष भली भाँति व्यक्त हो जाता है। यह रचना यद्यपि गद्य-प्रधान है पर अपने प्राचीन काव्य-संस्कारों के कारण इसमें अलंकृत और चित्रात्मक वर्णनों की भरमार है और साथ ही सरस शृंगारी कविताओं का भी बाहुल्य है।

व्यासजी का 'आश्चर्य वृत्तान्त' दूसरे ही प्रकार की रचना है। इसमें न तो कोई प्रेम-कथा है और न प्रेम-प्रेरित भावाकुलता और सरसता। एक व्यक्ति स्वप्न में गया से काशी होते हुए चित्रकूट तक का भ्रमण करता और ऐसे-ऐसे जंगलों, पहाड़ों और कन्दराओं में घूमता और विलक्षण दृश्यों के दर्शन करता है कि पाठक उसका विवरण सुनकर विस्मयाभिभूत हो जाता है। लेखक ने ऐसी काल्पनिक रचना में भी सामाजिक आशय का विचित्र ढंग से समावेश कर दिया है। इसमें कथा कहने वाले मुख्य पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्र भी हैं, जिनमें एक पुरातत्त्वविद् अँग्रेज और एक बंगाली उल्लेख्य हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कतिपय अँग्रेज विद्वानों ने संस्कृत के गम्भीर अध्ययन और साहित्य तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धान के द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उच्चता घोषित की थी। 'आश्चर्य वृत्तान्त' का अँग्रेज साहब भी ऐसा ही व्यक्ति है जो पुरातत्त्वानुसन्धान करता हुआ भारतीय संस्कृति और सभ्यता की विभिन्न रूपों में प्रशंसा करता और विलायती रंग में रँगे, हिन्दू-धर्म-विमुख, शिक्षित जोरू के गुलाम, प्रत्येक भारतीय वस्तु के उपहासकर्ता बंगाली महाशय की भर्त्सना भी करता जाता है। डरपोक स्वभाव के कारण यह बंगाली पाठकों के हास्य-विनोद का भी साधन बन गया है। अतीत भारत के गौरव और तत्कालीन भारत की पतित दशा का विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में वर्णन करते हुए कहीं-कहीं लेखक भावावेश में आ गया है। जयपुर नगर का एक प्रसंग में ऐसा गतिमय और सजीव चित्र उपस्थित किया गया है कि गुलेरीजी के 'उसने कहा था' का आरम्भिक भाग बरबस स्मरण हो आता है। यद्यपि व्यासजी अलंकारों का पीछा नहीं छोड़ पाए हैं पर कतिपय दृश्यों का इन्होंने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। 'आश्चर्य वृत्तान्त' का गद्य व्यावहारिक है और नये गद्य के संस्कारों से युक्त है, काव्यात्मक प्रणाली को उसने बहुत ही कम ग्रहण किया है। इस प्रकार यह रचना यद्यपि स्वप्न-कथा है, अलौकिक और विस्मयावह दृश्यों की इसमें खूब योजना है; पर कतिपय तत्कालीन सामाजिक दृश्यों और स्थितियों का इसमें अपने ढंग से अच्छा वर्णन हुआ है।

: ४ :

उपन्यासों का प्रचलन और स्वागत देखकर उसकी ओर अनेक रुचियों के लेखक आकृष्ट हुए और समय के विभिन्न प्रभावों के अनुसार उसके विभिन्न रूपों में विकास हुआ। केवल जन-रुचि को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से काशी के व्यवसायी-वर्ग के श्री देवकीनन्दन खत्री ने १८८१ ई० में हिन्दी में एक नये ढंग के उपन्यासों की परम्परा चलाई, जिन्हें तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यास कहा जाता है। इन उपन्यासों का अपने समय में इतना प्रचार हुआ कि लोग अब तक अक्सर यह भूल जाया करते हैं कि हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों की परम्परा श्री खत्री की 'चन्द्रकान्ता' से प्रायः एक दशक पहले प्रवर्तित हो चुकी थी। श्री खत्री ने चन्द्रकान्ता (४ भाग), चन्द्रकान्ता

सन्तति (२४ भाग) और भूतनाथ (जिसे उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरा किया) नाम के तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यास लिखे। मनोरम माया-जाल की सृष्टि और सीधी-सादी, सबकी समझ में आने लायक भाषा के कारण इन उपन्यासों का बहुत अधिक प्रचार हुआ और कहा जाता है कि कितने ही लोगों ने इन तिलिस्मों की सैर करने के लिए हिन्दी भाषा सीखी। इस दृष्टि से इन रचनाओं का महत्त्व उचित ही माना जाता है।

'चन्द्रकान्ता' और इस तरह की अन्य रचनाओं का कथानक प्रायः एक-सा होता है। कोई प्रेमी राजकुमार किसी सर्व-गुण-सम्पन्न अनिन्द्य सुन्दरी राजकुमारी के प्रेम में विकल हो उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। राजकुमार मध्यकालीन शौर्य, साहस और प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है। राजकुमार को उसकी प्रेमिका से मिलाने का प्रयत्न उसके ऐयार या जासूस करते हैं। ऐयारी के बटुए और कमन्द को लिये ये ऐयार दुर्गम-से-दुर्गम स्थान पर पहुँच सकते और आश्चर्य-चकित कर देने वाले करिश्मे दिखला सकते हैं। घोड़ों की तरह तेज दौड़ने और रूप बदलने में ये अपना सानी नहीं रखते। वयस्क ऐयार रंग-रोगन की सहायता से सुन्दरी बाला या किसी भी युवक का ऐसा स्वाँग रच सकता है कि उसके बाप भी न पहचान पाएँ। जिसको चाहा जड़ी सुँघाकर बेहोश किया, कपड़े में बाँध गठरी बनाया, पीठ पर लादा और फिर आवश्यकतानुसार १०-५ कोस पर ले जाकर कैद कर दिया। बेहोशी दूर करने के लिए इनके पास 'लखलखा' नाम की दिव्यौषधि बराबर रहती है। राजकुमार का राजकुमारी से मिलन कराने के लिए ऐयार प्रयत्न तो करते हैं पर प्रेमी राजकुमार का प्रतिस्पर्द्धी, सकल दूषण-दूषित एक दुष्ट पात्र नाना युक्तियों से इस कार्य में बाधा डालता रहता है, क्योंकि वह स्वयं उस राजकुमारी को प्राप्त करना चाहता है। प्रायः मध्ययुगों के ढंग पर वह (अपने ऐयारों की सहायता से) राजकुमारी को धोखे से या जड़ी सुँघाकर पकड़ मँगवाता है और तिलिस्म में कैद कर देता है। इन तिलिस्मों में अपार धन-राशि गड़ी रहती है। इसकी बनावट को देखकर आज का बड़ा-से-बड़ा वैज्ञानिक भी विस्मय-विमूढ़ हो जायगा। उसके भीतर रासायनिक द्रव्यों का बना बगुला आदमी को निगल जाता है, पुतले तलवार चलाते हैं, पत्थर का बना आदमी किसी मनुष्य को सामने पाकर दोनों हाथों से बुरी तरह जकड़ लेता है, नकली शेर दहाड़ते हैं। किवाड़ इस तिलिस्म के जादू के बने, ताले ऐन्द्रजालिक और कोठरियाँ रहस्यागार होती हैं। एक पटरा हटा कि नीचे नौ सीढ़ियाँ दिखलाई पड़ीं। नीचे उतरिये तो दायें, बायें, आगे या पीछे एक दरवाजा मिला। फिर सीढ़ियाँ, कुएँ, दरवाजे, कमरे, आँगन और बगीचे···। हाँ, तिलिस्मों में प्रायः मीठे पानी का सोता और मेवे के दरख्त जरूर होंगे, वैसे होने को पहाड़, जङ्गल—क्या नहीं हो सकते। लेकिन तिलिस्म को तोड़ना जिसके लिए लिखा होगा वही उसे तोड़ सकता और वहाँ की धनराशि को स्वायत्त कर सकता है। तिलिस्म तोड़ने का ढङ्ग एक किताब में पहले ही से लिखा, कहीं रखा होगा। फिर वह किताब आखिरकार उसी व्यक्ति के हाथ पड़ेगी जिसके नाम कि तिलिस्म का टूटना लिखा होगा। फिर तिलिस्म टूटता है, प्रतिपक्षी दुष्ट पात्र 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार दण्डित होते हैं और राजकुमार-राजकुमारी का विवाह सम्पन्न होता है···।

इस प्रकार इन उपन्यासों में कल्पना की निर्बन्ध क्रीड़ा का चमत्कार खूब देखने को मिलता है। कौतुक-प्रिय मानव-मन का इन उपन्यासों के माया-जाल में कुछ देर उलझना स्वाभाविक ही था। इन रचनाओं का सारा आकर्षण विस्मयजनक घटनाओं की कौशलपूर्ण योजना

पर अवलम्बित रहता है। इनमें न तो बाह्य जीवन की वास्तविकताओं का उद्घाटन होता है और न तो मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करने का प्रयास। कथावस्तु भी केवल कौतुकावह घटनाओं पर आश्रित होने के कारण गठी हुई नहीं होती। उसे जब चाहे खींचकर बढ़ाया जा सकता है। लेखकों ने इन उपन्यासों में युग-प्रवृत्ति के अनुसार सामाजिक और नैतिक आशय भी आरोपित करना चाहा है। 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में लिखा है कि 'सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा।' 'चन्द्र-कान्ता' के ऐयार आपसी बर्ताव में भी कुछ 'नियमों' का पालन करते हैं—अकेले ऐयार पर कई ऐयार आक्रमण नहीं करते, पकड़ लिए जाने पर प्रति पक्ष के ऐयार उसे जान से कभी नहीं मारते। जिस तरह नायक-नायिका में पुराने जमाने के साहसिक नायक-नायिकाओं की ही तरह का प्रेमोन्माद, रूप की आसक्ति और अपनी जान को हथेली पर लिये हुए घूमते रहने की प्रवृत्ति होती है वैसे ही उनके ऐयारों में भी मध्ययुगों का साहस और नैतिकता होती है। प्रेम का उच्चतम हिन्दू आदर्श भी यहाँ आरोपित रहता है—राजकुमारी ने एक बार जिस पुरुष को अपना मत दे डाला, फिर तो वह किसी भी तरह अपने एकनिष्ठ प्रेम-मार्ग से जरा भी नहीं डिगती। राजकुमार भी बस ऐसा ही सच्चा प्रेमी होता है। और सबसे बड़ी उपदेशात्मक बात यह भी इन उपन्यासों में रहती है कि कर्म-फल से कोई पात्र बचता नहीं। बुरे कर्म का बुरा और अच्छे का अच्छा फल दिखलाते हुए उपन्यास समाप्त होता है। पर यह सब सामाजिक आशय स्पष्ट ही आरोपित मालूम होते हैं। वास्तव में इन उपन्यासों का सारा आकर्षण विस्मयजनक घटनाओं की योजना पर ही निर्भर होता है और इनका उद्देश्य केवल मनोरंजन है। श्री देवकी-नन्दन खत्री तिलिस्मों के लिए फारसी के 'तिलिस्म होशरुबा' के ऋणी हैं, पर अपनी स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर हिन्दी में 'चन्द्रकान्ता' आदि के रूप में उन्होंने मौलिक सृष्टि की है।

तिलिस्मी उपन्यासों के अतिरिक्त देवकीनन्दन खत्री ने 'शैतान नरेन्द्र-मोहिनी', 'कुसुम-कुमारी', 'वीरेन्द्र वीर वा खून भरा कटोर', 'काजर की कोठरी' आदि दूसरे तरह के उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें भी घटना-वैचित्र्य का ही प्राधान्य है पर किसी में सामाजिक आशय कुछ उभरकर सामने आया है, जैसे 'काजर की कोठरी' में वेश्याओं के निर्मम और भयंकर कार्य-कलाप का विस्तृत वर्णन करके उनसे सतर्क रहने का संकेत है।

ऐयारी तिलिस्मी उपन्यासों का साधारण पढ़ी-लिखी जनता ने जो स्वागत किया उससे उत्साहित होकर दर्जनों छोटे-मोटे लेखकों ने इस तरह की रचनाओं में हाथ लगाया और बहुत-से उपन्यास लिखे गए, पर श्री देवकीनन्दन खत्री के पुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपने ऐसे उपन्यासों में कुछ नये रूप में तिलिस्मों और ऐयारों की मोहक कल्पनाएँ की हैं और अन्य प्रकार के रहस्यपूर्ण रोमांचक उपन्यास भी मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किए हैं।

: ५ :

वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं के प्रति जनता का आकर्षण देखकर श्री गोपालराम गहमरी ने सृष्टि की अपेक्षा अधिक सांसारिक और विश्वसनीय घटना-चक्र की योजना करके हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की नींव डाली। यों तो रहस्यमय और रोमांचक घटनाओं के प्रति साधारणतः मानव-

मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है, पर आधुनिक जासूसी उपन्यास काफी जटिल और पेंचदार समाज की देन है। इंग्लैण्ड में भी ऐसे समाज में हुई हत्या या चोरी-डाके के षड्यन्त्रों का पता लगाने के लिए पुलिस और सी० आई० डी०-विभाग का विशेष संघटन हो गया तब 'शरलाक-होम्स'-जैसे चरित्रों की सृष्टि सम्भव हुई। भारत में इस तरह के कुशल जासूसों की सृष्टि सम्भव नहीं थी। जासूसी उपन्यासों ने अपहरण, हत्या, डाका या चोरी आदि का अत्यन्त कौशल से सूक्ष्म परीक्षण और विश्लेषण करके पता लगाने वाले, नये साहित्यिक नायक जासूस की सृष्टि की। श्री गहमरी ने सन् १८६८ ई० में नगेन्द्रनाथ गुप्त के 'हीरार मूल्य शेखर धूली' का 'हीरे का मोल' नाम से हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित कराया। इसे हिन्दी के पाठकों ने बहुत पसन्द किया। गहमरीजी लिखते हैं कि "'हीरे के मोल' का पसन्द किया जाना और बम्बई में ही महालक्ष्मी के मन्दिर में एक खूनी धोबी का, जो महन्त बना बैठा था, मेरी प्राइवेट मुखबिरी से पकड़ा जाना, इन दोनों के प्रभाव से मेरी रुचि जासूसी उपन्यास लिखने में बढ़ी और तब से कोई १५० छोटे-बड़े उपन्यास (जासूसी) लिखे और अनुवाद किये।" सन् १६०० ई० में गहमर से उन्होंने 'जासूस' मासिक का प्रकाशन शुरू किया, जो तीस वर्ष तक निकलता रहा। इसीमें इनके उपन्यास प्रकाशित होते थे। गहमरीजी की देखा-देखी अनेक लेखक जासूसी उपन्यासों की ओर मुड़े, पर किसी में भी उच्चकोटि की मौलिक कल्पना नहीं मिलती।

जासूसी उपन्यासों में भी मुख्य आकर्षण घटनाओं की विलक्षणता ही पर निर्भर होता है। कहीं चोरी, हत्या आदि होने पर जासूस किस प्रकार सतर्कता से सम्बद्ध स्थलों, व्यक्तियों और घटनाओं की सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल करके असली अपराधी का पता लगाता है, इसका रोचक और कौतूहलवर्द्धक विवरण इन उपन्यासों में रहता है। गहमरीजी के ही शब्दों में इसका रचना-विन्यास इस प्रकार का होता है, "पहले जानने योग बात, घटना की जवनिका में छिपा रखना और इधर-उधर की जो बेसिलसिले और बेजोड़ न हों पहले कहना और घटना-पर-घटना का तूमार बाँधकर असल भेद जानने के लिए पाठकों के हृदय में कुतूहल बढ़ाना और रहस्य-पर-रहस्य साजकर ऐसा उपन्यास गढ़ना कि पूरा पढ़े बिना पूरा स्वाद न मिले.......। जिसका उपन्यास पढ़कर पाठक ने समझ लिया कि सब सोलहों आने सच है उसीकी लेखनी सफल-परिश्रम हुई समझना चाहिए।"

गहमरीजी की भाषा बड़ी ही स्वाभाविक और आवश्यकतानुसार वक्रतापूर्ण भी है। उन्होंने घटना-वैचित्र्य के रसिकों को स्वाभाविक और बुद्धिगम्य घटनावली का सर्जन करके कुछ दूर तक सन्तुष्ट किया। पर इनकी बहुत-सी रचनाएँ अँग्रेजी और बंगला पुस्तकों पर आश्रित हैं।

: ६ :

प्रेमचन्द के पूर्व एक ऐसे उपन्यास-लेखक हिन्दी में आए जिन्होंने अपने युग की समस्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों को स्वायत्त कर लिया था और जीवनादर्श एवं रचनाविधि-सम्बन्धी नई और पुरानी प्रवृत्तियों को अपने ढंग से समन्वित करने की चेष्टा की थी, इनका नाम पं० किशोरीलाल गोस्वामी (सन् १८६५—१६३२ ई०) है। इनका पहला उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' सन् १८६० ई० में प्रकाशित हुआ और प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् तक इनकी रचनाएँ निकलती रहीं। गोस्वामीजी वृन्दावन, मथुरा के निवासी थे। इनका जन्म काशी में अपने

मातामह गो० कृष्णचैतन्य के यहाँ हुआ था, शिक्षा भी यहीं हुई थी और अपने अन्तिम दिनों में काशी में ही आकर बस भी गए थे। पं० किशोरीलाल गोस्वामी पुराने ढंग के अत्यन्त सरस शृंगारी कवि थे और उपन्यास के अतिरिक्त इन्होंने नाटक, लेख और जीवन-चरित भी लिखे थे। इनकी जीविका का साधन पौराणिक वृत्ति थी। गोस्वामीजी कट्टर सनातनधर्मी, स्वभाव के रसिक और जिन्दादिल और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। इस विवरण से उनके संस्कारों का अनुमान अच्छी तरह किया जा सकता है।

गोस्वामीजी उपन्यास की परम्परा संस्कृत गद्य-काव्य 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता', 'दश कुमार-चरित' आदि से जोड़ते थे।[1] उसे 'प्रेम का विज्ञान' मानते थे और सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का साधन भी[2]। बंगला के उपन्यासों का इन पर गहरा प्रभाव था। इन्होंने सभी प्रकार के उपन्यास—सामाजिक, तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक—लिखे हैं। पहले घटना-वैचित्र्य-मूलक उपन्यासों के कई हथकण्डों को काम में लाते रहने पर भी गोस्वामीजी ने पहली बार एक पूरी प्रेम-कथा को उपन्यास के भीतर इस तरह नियोजित किया कि प्रेमानुभूति की विभिन्न स्थितियाँ चित्रित हो जायँ। पहले की संक्षिप्त या अधूरी प्रेम-कथाओं में इतना प्रसार और इतनी गहराई नहीं मिलती। पूर्वापेक्षा चारित्र्य-सृष्टि पर भी इनके विशिष्ट उपन्यासों में कुछ-न-कुछ अधिक ध्यान अवश्य दिया गया है। मूल कथा के साथ बहुसंख्यक उपकथाओं को जोड़ने में इन्होंने कहीं-कहीं बहुत स्वतन्त्रता दिखलाई है, पर प्रधान कथा के विन्यास में बहुधा नाट्यादर्शों का पालन किया है। इनके अधिकांश उपन्यासों का नाम नायिका और कभी-कभी नायक के नाम पर रखा गया है और पूरी कथा में इन्हीं (नायक या नायिका) के द्वारा अन्विति स्थापित हो पाती है। दुःखान्त सामाजिक उपन्यास इन्होंने एक भी नहीं लिखा, हाँ एकाध ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के अनुरोध से शोकपर्यवसायी अवश्य हो गए हैं। कई दुःखान्त बंगला-उपन्यासों का अनुवाद करते समय इन्होंने उन्हें सुखान्त बना डाला है। गोस्वामीजी यथार्थ सामाजिक स्थितियों का अंकन करते हुए कथा की परिणति बराबर आदर्श में दिखलाते हैं, इसलिए उन्हें यह सह्य नहीं है कि सच्चरित्र और धर्मनिष्ठ पात्र के जीवन का अन्त दुःखमय हो। 'स्वर्गीय कुसुम या कुसुमकुमारी' के 'एक प्रश्न' शीर्षक पचासवें परिच्छेद में लेखक ने वियोगान्त प्रेमियों से यह समझ लेने का आग्रह किया है कि 'कुसुम मर गई, पागल वसन्त (उसका प्रेमी) भी मर गया और उन दोनों के मरने पर (बसन्त की पत्नी) गुलाब ने भी अपनी जान देकर अपने पाप अर्थात् सपत्नी वध और पति-हत्या का प्रायश्चित्त कर डाला।····(पर) हा खेद !

१. देखिये 'प्रणयिनी परिणय' का उपोद्घात।

२. (क) 'प्रेम और प्रेमतत्त्व को सभी चाहते हैं, पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे, प्रेमिक प्रेम पाने के लिए व्याकुल तो होते हैं; सभी अपने लिए दूसरे को पागल करना चाहते हैं, पर अभी तक इसका उपाय बहुतों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है इसीलिए प्राचीनतम कवियों ने और साम्प्रतिक यूरोपीय कवियों ने उपन्यास की सृष्टि की। जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र से नहीं बनती वह प्रेम के विज्ञान 'उपन्यास' से सिद्ध होती है।····इसके पढ़ने से मनुष्य के हृदय के ऊपर बड़ा असर होता है, और सब बात बनती है।···
('सुखशर्वरी' के निदर्शन से)

भला हम आपसे यह पूछते हैं कि कुसुम या वसन्त ने धर्म, कर्म, समाज, लोक, परलोक, देश, विदेश, या किसी वियोगान्त प्रेमी विशेष का क्या बिगाड़ा है कि ये दोनों यों संसार से निकाल बाहर किये जायँ, और जिन अर्थ-पिशाच नर-राक्षसों से धर्म-कर्म, संसार-समाज, देश-विदेश और व्यक्ति-विशेष का सत्यानाश हो रहा है, वे दुराचारी लोग मूँछों पर ताव फेरते हुए मार्कण्डेय बनकर दीर्घजीवी हों ? हा, धिक ! ! !" कर्म-फल के प्रति इस दूसरे प्रबल आग्रह ने इनके और इनके समकालीनों के उपन्यासों की कथा को अनावश्यक रूप से फैला दिया और उसमें कृत्रिमता ला दी है। सनातनधर्मी किशोरीलाल गोस्वामी ने यद्यपि इस प्रकार कर्म-फल पर दृष्टि रखकर कथा का आविष्कार किया पर कलाकार किशोरीलाल ने विभिन्न विवरणों और वर्णनों की व्यवस्था की है, इसलिए अतिरंजनाओं के बावजूद जीवन और समाज के कतिपय यथार्थ चित्र इनकी रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत हो सके हैं।

पहले के उपन्यासकारों की अपेक्षा गोस्वामीजी के उपन्यासों में संवादों की योजना अधिक स्वाभाविक स्तर पर हुई है। अधिकतर उनसे कथा के आगे बढ़ने और पात्रों का स्वभाव जानने में सहायता मिलती है। दृश्य और रूप-वर्णन की कला भी गोस्वामीजी की कृतियों में निखरी है। इन वर्णनों में भावोद्बोधक चित्र उपस्थित करने की क्षमता है। अधिकतर इनके पात्र एक-से हैं। भले और बुरे, स्त्री और पुरुष यद्यपि एक उपन्यास के भीतर एक-दूसरे से अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण अलग-अलग हो जाते हैं पर अपने ही वर्ग के दूसरे उपन्यासों के पात्रों से उनका पार्थक्य करना कठिन हो जाता है।

सामाजिक उपन्यास के अतिरिक्त गोस्वामीजी ने तिलिस्मी, जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में प्रायः प्रेम-कथा का प्रसार कर देने के अतिरिक्त कोई नवीनता वे नहीं ला पाए हैं, पर हिंदी में मौलिक रोमानी ऐतिहासिक उपन्यासों के तो वे जन्मदाता हैं। इनके रोमानी ऐतिहासिक उपन्यासों में आलोचकों ने बहुत-सी ऐतिहासिक भूलों का अन्वेषण किया है, पर शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखना इनका लक्ष्य रहा भी नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है।........यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं, और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण कीर्तन है....। इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहासों में खोजने का उद्योग भी न करें।"[१]

गोस्वामीजी ने कुल मिलाकर छोटे-बड़े पैंसठ उपन्यास लिखे हैं, पर स्मरण रखना चाहिए कि इनमें अनुवाद भी सम्मिलित हैं और हिन्दी की पहली कहानी मानी जाने वाली 'इन्दुमती' भी सम्मिलित है।

गोस्वामीजी के उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा मिलती है। उनके आरम्भिक उपन्यासों में संस्कृतनिष्ठ, समास-बहुला और अलंकृत भाषा का व्यवहार हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासों में मुसलमान पात्रों अथवा मुसलमानों से बात करते हुए हिन्दू पात्रों की भाषा प्रायः क्लिष्ट उर्दू हो गई है। जैसे 'तारा' उपन्यास में तारा जब शाहजादी से बात करती है या शाहजादी तारा से, तब भाषा उर्दू होती है, पर तारा जब अपनी हिन्दू सखी से बातचीत करती है तब भाषा

१. 'तारा' की भूमिका से।

सरल, मुहावरेदार हिन्दी होती है, जिसमें तद्भव और देशज शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। पात्रानुसारी भाषा रखने के फेर में अनेक स्थलों पर ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा कृत्रिम और फारसी रंग में रँग जाने के कारण विचित्र-सी हो गई है। ऐसी भाषा को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि "कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला।....उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी-कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत-से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है....।" उनके कई समकालीनों की तरह कहीं-कहीं उर्दू ढंग के वाक्य-विन्यास भी इनकी भाषा में मिलते हैं। प्रेम के प्रसंग आने पर इनके बीच के उपन्यासों में भाषा उर्दू की ओर प्रायः झुक जाती है। कहीं-कहीं अंग्रेजी की तरह के भी वाक्य मिल जाते हैं। जैसे 'चपला' उपन्यास के इस वाक्य में, "ये (मदन) संसार में एक दुष्टा स्त्री और एक पुत्र के अलावा और कुछ भी नहीं रखते थे।" पर यह सब भाषा-सम्बन्धी तत्कालीन विभिन्न प्रवृत्तियों का किंचित् प्रभाव-मात्र है, गोस्वामी जी की प्रतिनिधि भाषा भारतेन्दु द्वारा निर्दिष्ट उस आदर्श हिन्दी का ही विकसित रूप है जिसमें संस्कृत के तद्भव और देशज तथा उर्दू-फारसी के दैनन्दिन व्यवहार में आने वाले शब्दों का हिन्दीकृत रूप व्यवहृत होता है। सन् १६०१ में प्रकाशित 'राजकुमारी' और १६१८ में प्रकाशित 'अंगूठी का नगीना' की भाषा ऐसी ही है। हिन्दी के उपन्यासों के उपयुक्त यही भाषा है, जिसका प्रेमचन्द ने अपने ढंग से और सुधार किया। गोस्वामीजी की इस प्रकार की मध्यमार्गीय हिन्दी उपन्यासों के लिए एक देन है। इसमें शुद्ध हिन्दी मुहावरों और कहावतों का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा की जब हम अन्तरंग परीक्षा करते हैं तो कहीं-कहीं इनकी रूप-वर्णन-क्षमता का बहुत सुन्दर रूप सामने आता है। यद्यपि इनके अधिकांश रूप-वर्णन परिपाटी-विहित और कृत्रिम प्रतीत होते हैं, पर जहाँ इन्होंने अपने स्वतन्त्र निरीक्षण का उपयोग किया है वहाँ नायिकाओं के रूपचित्र किंचित् ऐन्द्रिय होने पर भी प्रभावोत्पादक हो गए हैं। हाँ, विशेषणों के प्रयोग में गोस्वामीजी अवश्य अपव्ययी ज्ञात होते हैं। इसका कारण यह है कि वे पात्रों के सम्बन्ध में अपने मनोभावों को तुरन्त कह देने के लिए उतावले हो उठते हैं और कलात्मक संयम के साथ संकेत से अथवा कार्य-कलाप के द्वारा पात्रों की विशेषताओं के ध्वनित होने तक रुकते नहीं। यद्यपि घटनाओं की गतिमयता बनाए रखने पर उनका ध्यान रहता है और वर्ण्य-वस्तुओं का चित्रांकन करने में भी उन्हें अक्सर सफलता मिली है पर पात्रों के विषय में अपना मन्तव्य प्रकाशित करने और उपदेश देने की उतावली के कारण प्रायः इनके उपन्यासों में कथा-प्रवाह रुक-रुक जाता है। पर यह उल्लेखनीय है कि अपने समकालीनों में यह दोष इनमें सबसे कम है और उन्होंने उपन्यासों की वर्णन-शैली को निश्चित रूप से पूर्वापेक्षया अधिक मनोरंजक और कथानुरूप बनाया, संवादों को अधिक स्वाभाविक बनाया और कुल मिलाकर हिन्दी की औपन्यासिक भाषा को शिष्ट व्यावहारिक भाषा के अधिक-से-अधिक निकट लाने का उद्योग किया।

: ७ :

घटना-वैचित्र्य और चरित्र के वैशिष्ट्य-चित्रण की ओर से ध्यान हटाकर स्वच्छन्द भाव-व्यंजना का मार्ग हिन्दी-उपन्यास ने 'श्यामा-स्वप्न' की रचना के बहुत दिनों बाद एक बार फिर पकड़ा।

बंगला के चन्द्रशेखर की 'उद्भ्रान्त प्रेम' नामक सूक्ष्म कथातन्तु में बँधी भावात्मक रचना ने उसे एक बार आकृष्ट किया और सन् १६१२ ई० में श्री व्रजनन्दन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' की रचना की। 'श्यामा-स्वप्न' की तरह पुरानी काव्य-रूढ़ियों का आश्रय न लेकर 'सौन्दर्योपासक' के लेखक ने प्रेमोच्छ्वास-रंजित बंगला की भावात्मक शैली में एक दुःखान्त प्रेम-प्रसंग की अवतारणा की। 'सौन्दर्योपासक' का नायक अपने विवाह के समय अपनी साली को देखकर उस पर अनुरक्त हो जाता है, वह भी उससे प्रेम करने लगती है। पर इन दोनों का विवाह कैसे होता, साली मालती दूसरे को ब्याह दी जाती है। इधर नायक की पत्नी को इस प्रेम-काण्ड का पता चलता है तो वह भीतर-ही-भीतर घुलने लगती है। उधर मालती भी उचित ही यक्ष्माग्रस्त हो जाती है। फिर दोनों बहनें परलोक सिधारती हैं और सौन्दर्योपासक (वास्तव में स्वच्छन्द प्रेम का उपासक) युवक नायक रोने के लिए बच रहता है। इस प्रकार सामाजिक रूढ़ियों, स्वच्छन्द-प्रेम-निषेध और अनमेल-विवाह का दुष्परिणाम इस प्रेम-कथा के द्वारा निर्बन्ध और भावुकतापूर्ण साहस के साथ दिखलाया गया है। प्रेम-सम्बन्धी सामाजिक निषेधों के विरुद्ध तत्कालीन प्रतिक्रिया का एक रूप इस तरह सामने आया है जो अराजकता की सीमा को छूता मालूम होता है। युवक नायक के प्रेमोद्गार, विरहोच्छ्वास और शोक-सन्ताप की विस्तृत और वेगवती व्यंजना के कारण कुछ दिनों तक यह उपन्यास युवकों में लोकप्रिय रहा, पर इस शैली को सामाजिक यथार्थ की ओर द्रुतगति से बढ़ते हुए हिन्दी-उपन्यास ने फिर नहीं अपनाया। इस उपन्यास का एक महत्त्व इस बात में है कि इसने हिन्दी-साहित्य में 'स्वच्छन्दतावाद' के आगमन की पूर्व सूचना दी। आगे चलकर छायावादी-काल में गद्य के क्षेत्र में इस तरह की भावाकुल शैली का विभिन्न रूपों में व्यवहार और परिष्कार हुआ।

इसी समय के आस-पास लाला भगवानदीन का 'अघट घटना' (सन् १६१४ ई०) नाम का एक उपन्यास निकला, जिसकी एक-मात्र विशेषता यह है कि इसमें समकालीन देशी रजवाड़ों की अधिकार-लिप्सा, विलासमग्नता, राज-परिवारों के आन्तरिक षड्यन्त्र और सम्बन्धियों की नृशंस हत्या आदि का चित्रण किया गया है। इस विषय को लेकर अब तक कोई उपन्यास नहीं लिखा गया था।

पारसी-रंगमंच के प्रभावों को ग्रहण करके इस समय छिछले प्रेम और रोमांचकारी प्रसंगों से भरे उपन्यास भी लिखे जाने लगे थे। अशिक्षित साक्षर जनता के लिए लिखे गए इन उपन्यासों को अब कोई जानता भी नहीं। इन्होंने उपन्यास की प्रगति में कोई योग भी नहीं दिया, अतः इनका अधिक उल्लेख निरर्थक होगा।

: ८ :

यद्यपि हिन्दी का पहला उपन्यास अँग्रेजी से प्रभावित होकर अपने ढंग से मौलिक रूप में लिखा गया था पर बाद को अन्य देशी भाषाओं से अनूदित उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यासों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। आलोच्य-काल में मराठी, गुजराती, उर्दू के अतिरिक्त अँग्रेजी के भी थोड़े-बहुत उपन्यासों के अनुवाद हुए, पर बंगला की रचनाओं के हिन्दी-रूपान्तर बहुत अधिक हुए; क्योंकि उसका उपन्यास-साहित्य भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक समृद्ध था। बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चंडीचरण सेन, चारुचन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चन्द्र आदि

बंगला-लेखकों की अनेक कृतियों के अनेक अनुवाद हुए। सबसे पहला अनुवाद शायद 'पूर्ण-प्रभा-चन्द्रप्रकाश' था, जो एक मराठी-उपन्यास का रूपान्तर था; पर इसके बाद ही बंगला-अनुवादों का प्राधान्य हो गया। अनुवाद-कार्य में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पांडेय आदि अनेक लेखकों ने योग दिया। हर तरह के उपन्यासों के अनुवाद हुए। आरम्भ में समकालीन सभी देशी भाषाओं के लेखकों की तरह हिन्दी के भी कई लेखक मूल ग्रन्थ और ग्रन्थकार का नाम देकर केवल 'अमुक भाषा से अनूदित' या 'अमुक भाषा के एक उपन्यास के आश्रय' से लिखित कहकर ही काम चलता कर देते थे। कुछ रचनाओं के विषय में तो यह जानना कठिन हो जाता है कि ये अनुवाद हैं या मौलिक ग्रन्थ इन आरम्भिक अनुवादकों के विषय में एक बात उल्लेखनीय है कि अनुवाद करते समय इनमें से अधिकांश ने मूल ग्रन्थ के भाव पर ही विशेष ध्यान रखा और हिन्दी-भाषा और समाज की प्रकृति के अनुसार रचना में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करने की स्वतन्त्रता इन्होंने प्रायः बरती है। गोपालराम गहमरी ने बंगला के कुछ गार्हस्थ्य उपन्यासों को प्रायः संशोधन-परिवर्तन के साथ 'चटपटी, वक्रतापूर्ण और बोलचाल की मुहाविरे-दार' भाषा में प्रस्तुत किया। उनके 'सास-पतोहू' 'बड़ा भाई' 'देवरानी जेठानी' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

सबसे पहले बंकिमचन्द्र के उपन्यासों ने भारतीय संस्कृति का गौरव विभिन्न रूपों में हिन्दी पाठकों के सामने चित्रित किया और सजीव ऐतिहासिक कल्पना का बहुत ही ऊँचा आदर्श रखा। इन उपन्यासों की राष्ट्रीय भावना अत्यन्त स्फूर्तिदायक है। पर बंगला के कतिपय अन्य तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यासों में शृंगार के निम्नकोटि के अतिरंजित चित्र दिखलाई पड़े और इनके द्वारा इतिहास की अनपेक्षित दुर्दशा भी हुई। 'चित्तौर चातकी' इतना मर्यादा-विरुद्ध समझा गया कि उसकी सारी अनूदित प्रतियाँ नष्ट कर देनी पड़ीं। पं० किशोरीलाल पर कहीं-कहीं इस कोटि की रचनाओं का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनके कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों में राजपूत रमणियों के कतिपय निम्न स्तर के शृंगारी विवरण ऐसे ही उपन्यासों से प्रेरित रहे होंगे। पर समग्र रूप से बंगला-उपन्यासों का हिन्दी-उपन्यासों पर बहुत बड़ा ऋण है। उन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषी जनता और लेखकों का रुचि-संस्कार करने में बहुत सहायता की। हिन्दी की औपन्यासिक शैली को भी बंगला ने अक्सर नई भाव-भंगी सिखलाई है।

आलोच्य-काल में अँग्रेजी-उपन्यासों के भी थोड़े-बहुत अनुवाद हुए, पर उन्होंने उस समय हिन्दी-उपन्यास की गतिविधि पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाला। हाँ, रेनाल्ड्स का कुछ प्रभाव पं० किशोरीलाल आदि पर कभी-कभी लक्षित हो जाता है।

: ६ :

प्रेमचन्द के पूर्व तीस-बत्तीस वर्षों में हिन्दी-उपन्यास की जो गतिविधि रही है उसका पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट ही उसमें बदलते हुए भारतीय समाज के विभिन्न रूपों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक कारणों से मनुष्यों की सामाजिक दशा, नैतिक भावनाओं और मानव-मूल्यों आदि में जो परिवर्तन हो रहे थे और पहले की गतिहीन सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं के प्रति निःसन्दिग्ध आस्था में कमी

आ जाने से जो स्थितियाँ उत्पन्न हुई उनका किसी-न-किसी रूप में हिन्दी-उपन्यासों पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

मध्यवर्गीय उपयोगितावादी नैतिकता का विस्तृत परिचय 'परीक्षा गुरु' में मिल जाता है। इस समय के अधिकाश उपन्यासों में 'हितोपदेश', 'मनुस्मृति', 'सुभाषित रत्नावली', 'रहिमन विलास' तथा चाणक्य, भर्तृहरि, कालिदास, व्यास, हर्ष, शेख सादी, शेक्सपियर आदि की शिक्षा-मूलक सूक्तियों को प्रत्येक अध्याय के आरम्भ और अन्य स्थलों पर उद्धृत करने की परिपाटी लेखकों की इस उपयोगितावादी मनोवृत्ति की ही सूचना देती है। पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण की प्रतिक्रिया 'आर्यसमाज' आदि के आन्दोलनों से जब तीव्रतर होने लगी थी उसी समय हिन्दी-उपन्यासों का विकास हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप बहुत-से भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता हार खाती-सी प्रतीत होने लगी, इसलिए हिन्दी के उपन्यास-लेखक भी कुछ पूर्व-ग्रह-ग्रस्त होकर भारतीय संस्कृति की उच्चता और उसकी तुलना में विदेशी संस्कृति की अनुपयुक्तता दिखलाने में प्रवृत्त हो गए। यह प्रवृत्ति हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में क्रमशः बढ़ती गई और किशोरीलाल गोस्वामी में इसका पूर्ण उत्कर्ष दिखलाई पड़ा। फिर भी नई सामाजिक स्थितियों की प्रेरणा से भारतीयों के मानस-जगत् में जो विचार-मंथन चल रहा था और मानव-मूल्यों में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा था उसका प्रभाव उपन्यासों पर गम्भीर रूप में पड़ा।

इस समय के उपन्यासों की साहित्यिकता पर विचार करते समय पहली बात, जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है, यह है कि सामयिक जीवन की बाह्य स्थितियों के चित्रण का ध्येय मुख्य होते हुए भी इन उपन्यासों में मनुष्य के भाव-जगत् को भी प्रदर्शित करने का उद्योग होता रहा है, चाहे इस कार्य में पूरी सफलता न मिली हो। चित्रित भाव-जगत् अधिकतर वैयक्तिक प्रेम-सम्बन्धों तक ही सीमित रहा है। अन्य भावात्मक सम्बन्धों की योजना भी लेखकों ने की है, पर कम। फिर भी उपन्यास के सामयिक (बाह्य सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण) और शाश्वत तत्त्व (भाव-जगत् का चित्रण) के सामंजस्य के अनेक रूप निरन्तर प्रयास एक नवीन रचना-प्रकार के, साहित्यिक गौरव को प्राप्त करने और मानव-जीवन को समग्र रूप से चित्रित करने के, महत्त्व-पूर्ण उद्योग हैं। दूसरी बात यह है कि इन आरम्भिक उपन्यासों में आकर्षण का मुख्य केन्द्र बहुत-कुछ घटना-वैचित्र्य रहा है। घटना-वैचित्र्य से ध्यान हटाने का उपन्यासकारों ने बराबर प्रयत्न किया है, पर उच्चकोटि की सर्जनात्मक क्षमता के अभाव में इस कार्य में उन्हे आंशिक सफलता ही मिल सकी। हाँ, घटनाएँ विचित्र होने पर भी अधिकतर सामान्य जीवन से ही चुनी गई हैं।

कथा-विन्यास-सम्बन्धी कई प्रकार के प्रयोग लेखकों ने किये, पर अनेक प्रयोगोंकी सफलता-विफलता के बाद उनका प्रधान उद्देश्य साधारण जीवन की घटनाओं से ही वक्रताहीन कथा निर्मित करना रहा है। उपदेशात्मक वृत्ति की प्रबलता और कलात्मक संयम के अभाव के कारण इस युग के उपन्यासों में कथा का गठन बहुत अच्छा नहीं हो पाया। सम्भव है पुराने समाज के विघटन और नये समाज के संघटन की संक्रान्तिकालीन स्थिति के कारण भी किसी सुविचारित सामाजिक परिणाम तक पहुँचने वाली नवीन जीवन-कथा की कल्पना करने में कठिनाई पड़ी हो। शुद्धता-वादी (प्योरिटन) द्विवेदी-काल में अपने पुराने संस्कारों को लिये हुए पं० किशोरीलाल ने बहुमुखी प्रसार वाली प्रेम-कथाओं की अपने उपन्यासों में अवश्य ऐसी योजना की है कि उनमें से (आसानी

से अलग किये जा सकने वाले) विजातीय अंशों को निकाल देने पर उनकी कथा स्पष्टतया जीवन के एक मोड़ से दूसरे मोड़ पर इस तरह पहुँचती है कि उसमें 'आदि', 'मध्य' और 'अन्त' के स्थल स्पष्टतः पहचाने जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों के पात्र मानवीय हैं, पर न तो उनका विकास ही हो पाया है और न उनका पूरा रूप ही सामने आ सका है। लेखकों का कठिन आदर्शवादी दृष्टिकोण पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष बाधक हुआ है।

हिन्दी की वर्णन-शैली इन उपन्यासों के द्वारा कतिपय त्रुटियों के रहते हुए भी बहुत निखरी है। वस्तुओं के यथातथ्य-वर्णन और रूप-चित्रण करने में बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह, अंबिकादत्त व्यास और किशोरीलाल गोस्वामी आदि को अच्छी सफलता मिली है। स्वभाव की विशेषताओं को अंकित करने वाले श्रीनिवासदास के कतिपय व्यक्तित्व-चित्र बहुत अच्छे उतरे हैं। पर वर्णन की वह शैली, जो घटनाओं की गतिशीलता में कोई व्याघात उपस्थित किये बिना निरन्तर अग्रसर रहती है, इस समय के उपन्यासों में जैसी चाहिए वैसी निखरी नहीं है। उपदेशात्मक प्रसंगों की भरमार और पात्रों तथा घटनाओं के विषय में लेखक के विस्तृत मन्तव्य-प्रकाशन के कारण कथा के प्रवाह में प्रायः बाधा पहुँची है।

उपन्यासों में समकालीन प्रवृत्तियों के अनुसार कई तरह की गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है, पर इसका प्रतिनिधि-रूप वह है जिसका बोल-चाल की भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो संस्कृत के सरल तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ ही बहुप्रचलित उर्दू के शब्दों को अपनाकर चला है। ऐसी भाषा में मुहाविरों और देशज शब्दों का सुविचारित प्रयोग हुआ है। सन् १८८२ में प्रकाशित श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' और सन् १९१८ में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी के 'अंगूठी का नगीना' में इसी प्रकार की भाषा व्यवहृत हुई है।

इस प्रकार यथार्थ की विभिन्न भूमियों पर विचरण करता हुआ और भावना तथा कल्पना की वाटिकाओं में थोड़ी-थोड़ी देर रुकता हुआ हिन्दी-उपन्यास आगे बढ़ता गया। अपने तीस-बत्तीस वर्षों के जीवन-काल में उसने सामाजिक जीवन की यथार्थ परिस्थितियों को चित्रित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न करते हुए बीच-बीच में पाठकों को तिलिस्मों की सैर कराई, जासूसी गोरख-धन्धे के खेल दिखलाए और भाव-लोक की रंगीन दुनिया के मनोरम दृश्यों का परिचय दिया। पर यह सब उसकी शैशव और वयःसन्धि की अवस्था के करतब थे। उसकी युवावस्था की शक्ति प्रेमचन्द ने प्रदर्शित की। उन्होंने मानव-चरित्र के सूक्ष्म उद्घाटन और सामाजिक वस्तविकता के विभिन्न रूपों के विशद और मार्मिक चित्रण के द्वारा हिन्दी-उपन्यास के जीवन में क्रान्ति उपस्थित कर दी। प्रेमचन्द तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-उपन्यासों में ऐसा रूपात्मक परिवर्तन हो गया और उनका स्वभाव आधुनिक जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वायत्त करके नवीन पाठकों के इतना मनोनुकूल बन गया कि पहले के उपन्यासों से इन नये उपन्यासों का सम्बन्ध जोड़ने में लोग संकोच करने लगे। बतलाया जा चुका है कि ऐसा संकोच मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं होगा।

डॉक्टर रामरतन भटनागर

प्रेमचन्द-युग : आदर्शोन्मुख यथार्थ

प्रेमचन्द-युग (१९१६-१९३६) के उपन्यास-साहित्य में हमें इन दो दशकों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण आकलन दिखाई देता है। प्रेमचन्द से पहले हिन्दी-उपन्यास की भूमि कल्पना और रोमांस की भूमि थी, फिर उसे चाहे सामयिक जीवन का आधार देकर उपस्थित किया गया हो या ऐतिहासिक कथा अथवा चरित्रों पर उसकी नींव रखी गई हो। इसमें सन्देह नहीं कि एक प्रकार का आदर्शवाद भी हिन्दी-उपन्यास में पहले से जुड़ गया था और हिन्दी के पहले उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' (१८८३ ई०) में ही एक पथ-भ्रष्ट नवयुवक के सुधार की आदर्शात्मक गाथा उपस्थित की गई थी। परन्तु इस सुधारवाद में कला का योग नहीं था और आदर्शवादी पट इतना मोटा था कि अपार-दर्शक बन गया था। प्रेमचन्द के युग में इस सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक बना लिया गया और उसमें कोरा आदर्शवाद नहीं रह गया। इस आदर्शवाद को एक ओर बुद्धिवाद से पुष्ट किया गया और दूसरी ओर उसे यथार्थोन्मुख बनाया गया। प्रेमचन्द ने अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थ'[1] कहा है। आदर्श और यथार्थ का यह नया सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासों में खूब निभा, यद्यपि प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में यथार्थ की विजय है और आदर्श नई और कटु वस्तु-स्थितियों की चोट से टकराकर चकनाचूर हो गया है। जो हो, इन दो दशकों के उपन्यास-साहित्य में हमें सामाजिक यथार्थ के अनेकानेक बदलते हुए रूप मिलते हैं और उनके अध्ययन से हमें हिन्दी के उपन्यासकारों की गम्भीर सामाजिक चिन्ता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का पता चलता है।

हिन्दी का उपन्यास नारी-समाज के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर ही क्षेत्र में आया। समाज-सुधार की भावना उसका मेरु-दण्ड थी। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, वेश्या-गमन और हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य आरम्भ से ही हिन्दी-उपन्यासकारों के विषय बन गए। प्रेमचन्द का पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'सेवा सदन' प्रकारान्तर से 'परीक्षा गुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' की समस्या (वेश्या-जीवन) को ही उपस्थित करता है। प्रेमचन्द के एक समसामयिक विश्वम्भर-नाथ कौशिक ने 'माँ' (१९२९) लिखकर एक बृहद् उपन्यास के रूप में 'सेवा सदन' की समस्या को ही फिर उठाया, यद्यपि 'माँ' के द्विविध रूपों और पारिवारिक स्थितियों का भी उसमें चित्रण है।[2] प्रेमचन्द के उपन्यासों में अनमेल विवाह के अनेक प्रसंग आते हैं और 'निर्मला'

---

१. 'उपन्यास', कुछ विचार, पृष्ठ ४४।

२. वेश्या-सम्बन्धी औपन्यासिक दृष्टिकोण का क्रमशः विस्तार हमें 'मंच' (राजेश्वरप्रसाद,

(१९२३) का तो केन्द्र-बिन्दु ही अनमेल-विवाह[1] और दहेज की समस्या है। इस समस्या से प्रेमचन्द व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या भी उनके उपन्यासों में कई बार आई है। 'प्रेमाश्रम'(१९२२), 'रंगभूमि' (१९२४) और 'कायाकल्प' (१९२८) में प्रेमचन्द इस समस्या के कई पहलुओं को उपस्थित करते हैं। यहाँ भी वे उदारता और सहिष्णुता के समझौते वाले मार्ग को सामने रखते हैं, समस्या की राजनीतिक और अर्थनीतिक भूमि उनके सामने नहीं है। समाज के भीतर के अनेक वर्गों को भी प्रेमचन्द ने व्यापक रूप से देखा है और जमींदार-किसान, सूदखोर महाजन और निर्धन कर्जदार श्रमिक, महाजनी संस्कृति के पाद-पीठ पण्डे-पुरोहित और स्थितिहीन वर्गों में भूमिहीन खेतिहर और भिखारी-वर्ग भी सामने आते हैं।[2] जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' में समाज से बहिर्भूत कंजर-गूजर आदि वर्गों का विशद चित्रण है,[3] और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द अमरकान्त को एक ऐसे गाँव में ले जाते हैं जहाँ ढोरों के चमड़े उतारने वाले चमार रहते हैं। प्रेमचन्द ने पूँजीपति-मजदूर के संघर्ष की आवाज भी उठाई है और 'गोदान' में खन्ना की मिल की हड़ताल को लेकर उन्होंने इस संघर्ष में मजदूर का पक्ष ग्रहण किया है, परन्तु वे ग्रामीण पूर्वग्रह और राष्ट्रीय आन्दोलन के चित्रण की व्यस्तता के कारण इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सके। वास्तव में वर्गवाद स्पष्टतः १९२८ के बाद ही सामने आता है और १९३६ तक पूँजीपति-मजदूर-संघर्ष की साहित्यिक भूमि तैयार नहीं हो पाई है। स्वयं प्रेमचन्द ने 'मजदूर' चित्रपट में इस नई समस्या को उठाया और सम्भवतः 'मंगल-सूत्र' के अलिखित अंश में वह इसे फिर उठाते।

आलोच्य-युग में उपन्यासों की सामाजिक चिन्ता का एक बहुत बड़ा भाग नारी-जीवन की विषमताओं और उसके विभिन्न प्रतिबन्धों से सम्बन्धित है।[4] विधवा[5], दोहाजू, दहेज,

---

१९२८); 'वेश्या-पुत्र' (ऋषभचरण जैन, १९२९); 'पाप और पुण्य' (प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', १९३९); 'पतिता की साधना' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९३६); 'अप्सरा' (निराला, १९३१); और 'वेश्या का हृदय' (धनीराम 'प्रेम', १९३३) में दिखलाई देता है।

१. इस विषय पर अन्य रचनाएँ हैं, 'क्षमा' (श्रीनाथसिंह, १९२५); 'मीठी चुटकी' (भगवती प्रसाद वाजपेयी, १९२७); 'अनाथ पत्नी', (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९२८); और 'तलाक' (प्रफुल्लचन्द्र ओझा, 'मुक्त' १९३२)।

२. ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी अन्य दृष्टिकोण एवं चित्रण निम्नलिखित उपन्यासों में मिलेंगे: 'रामलाल' (सन्नन द्विवेदी, १९२१); 'देहाती दुनिया' (शिवपूजन सहाय, १९२६); 'तितली' (प्रसाद, १९३४); और 'गोदान' (प्रेमचन्द, १९३६)।

३. धार्मिक दम्भ और आचार की पोल के लिए गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की रचना 'स्वामी चौपटानन्द' (१९३६) और 'कर्मभूमि' (प्रेमचन्द, १९३२) एवं 'तितली' (प्रसाद १९३४) के कुछ दृश्य महत्त्वपूर्ण हैं।

४. नारी के त्यागमय जीवन की गाथा 'त्यागमयी' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९३२); 'नारी-हृदय' (शिवरानी देवी, १९३२); 'मदारी' (गोविन्दवल्लभ पन्त, १९३६); और 'वचन का मोल' (उषादेवी मित्रा, १९३६) में अवलोकनीय है।

५. विधवा की समस्या अनेक अन्य उपन्यासों का भी विषय है, जैसे 'हृदय का काँटा' (तेजरानी दीक्षित, १९२८); 'प्रतिज्ञा' (प्रेमचन्द, १९२८); 'विधवा के 'पत्र' (चन्द्रशेखर

वेश्या, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह—ये कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं जिनसे हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भ से ही परिचित है। श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास पहले भी इन समस्याओं को अपना विषय बना चुके थे, परन्तु प्रेमचन्द के द्वारा इन समस्याओं को विस्तृत और गम्भीर चिन्तन-भूमि मिली और उनके चित्रण भी रोमांसमूलक न होकर वस्तुनिष्ठ और अपेक्षाकृत व्यापक थे। इन सभी विषयों पर प्रेमचन्द और उनके समसामयिक उपन्यासकारों ने व्यापक दृष्टि से विचार किया है। प्रेमचन्द ने जहाँ काठिन्य को अपनाया और सामाजिक प्रश्नों पर शरच्चन्द्र की भावुक दृष्टि को बचाया, वहाँ कलाकारों का एक वर्ग शरच्चन्द्र की रचनाओं को आदर्श बनाकर चला और उनमें काठिन्य के स्थान पर करुणा और गलिदाश्रुता का प्राधान्य रहा। 'तपोभूमि', 'परख' और जैनेन्द्र के परवर्ती उपन्यासों में यही शरच्चन्द्रीय भावुकता मिलती है। एक प्रकृतवादी दल भी इस युग में विकसित हुआ जो नग्न चित्रण को भाषा-शैली की रंगीनी में रँगकर उपस्थित करता था और जुगुप्सा एवं यौन-आकर्षणमूलक आत्मघाती प्रवंचना को विशेष प्रश्रय देता था। चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन और 'उग्र' के नारी-जीवन-विषयक उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। यहाँ समस्याएँ थीं, वह भी बड़े आकर्षक रूप में, जैसे स्वयं कलाकार उन गर्हित प्रसंगों में रस लेता हो, समाधान यहाँ नहीं था। वास्तव में इन उपन्यासों की बौद्धिक भूमि शिथिल है और भाषा-शैली की कलाकारिता, ओज और सौन्दर्यनिष्ठा के माध्यम से उपन्यास को आकर्षक बनाया गया है।

इन सामाजिक प्रश्नों के साथ एक मूल प्रश्न भी था—स्वच्छन्द प्रेम की समस्या।[1] यह प्रश्न जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करता था। उपन्यासकारों ने इस प्रश्न को उठाया, पर वे सामाजिक विद्रोह की भूमि तक नहीं उठ सके। फलतः हत्याओं और आत्मघातों के द्वारा एक प्रकार के समाधान को उपस्थित किया गया। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द इसीलिए सोफिया का बलिदान कर देते हैं और 'कर्मभूमि' में सकीना के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को गिरा देते हैं। 'गढ़-कुण्डार' की सारी संघर्ष-भूमि ही इस समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभारती है और उसका दुःखान्त ही इस युग के उपन्यासों की दुर्बल मनःस्थिति का सूचक है, जो क्रान्ति के पथ पर बढ़ने से बार-बार हिचकती है। आलोच्य युग का उपन्यास मध्यवित्तीय मनोभावना का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है, जो क्रान्ति का दावा करके भी सुधार पर अटक जाती है। १९३०-१९३२ के आन्दोलन ने नारी को जीवन के खुले प्रांगण में ला खड़ा किया और वह पथ की दावेदार बनकर सामने आई। घर और बाहर की समस्या उठ खड़ी हुई और कौटुम्बिक शान्ति और देश-सेवा का संघर्ष सामने आया। फलतः विवाह के बन्धनों के प्रति विद्रोह का आभास मिला। रवि बाबू के 'घरे-बाहरे' में इस समस्या का एक रूप उपन्यास-जगत् के सामने था। इस युग के अन्त में हम जैनेन्द्र को 'सुनीता' के रूप में ऐसी ही एक समस्या पर विचार करते पाते हैं। यहाँ पतिनिष्ठा के बल पर नारी बाहर के आह्वान के आकर्षण से बच निकलती है। हरिप्रसन्न स्वयं अपने भीतर टटोलकर देखता है और आत्मग्लानि से पीड़ित होकर पलायन

शास्त्री, १९३३); चतुरसेन शास्त्री के तीन उपन्यास 'अमर अभिलाषा' (१९३३), 'आत्मदाह' (१९३६) और 'नीलमाटी' (१९४०); एवं जैनेन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास 'परख' (१९३०)।

१. देखिए, 'प्रेम की भेंट' (वृन्दावनलाल वर्मा, १९३१) और 'कुण्डली-चक्र' (वही, १९३२)।

कर जाता है। परन्तु यह जीत भी आदर्शवाद की जीत है। उसमें नारी का प्रकृत विजयोल्लास नहीं है। एक बार फिर समाज की कड़ी भूमि के आगे लेखक का तेज कुण्ठित हो गया है।

इसी समय के लगभग नई नारी का उदय होता है और वह अपने साथ उपन्यास-जगत् में नई समस्याएँ लाती है। परन्तु अभी उसके दर्शन विरल ही हैं। 'गोदान' का नागरिक जीवन वाला अंश इस समस्या को विशेष आग्रह से उपस्थित करता है। वैसे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' उपन्यास में अभिजात्य वर्ग के चित्रण में नई नारी पहली बार आ चुकी थी। वास्तव में समस्त युग के कथा-साहित्य में नये-पुराने का द्वन्द्व है और यह द्वन्द्व नारी के पुराने और नये आदर्शों को केन्द्र बनाकर उपस्थित हुआ है। उपन्यासकारों के पूर्वग्रह के कारण नई नारी बराबर पराजित हुई है और रानी जाह्नवी, धनिया और इन्दु-जैसी भारतीय आदर्श-निष्ठ नारियाँ बराबर जीती हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि हमारे उपन्यासकारों ने नई नारी के दृष्टिकोण को सहानुभूति से देखा है और उसकी समस्याओं को आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देनी चाही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर आलोच्य युग का हिन्दी-उपन्यासकार नारी-जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण लेकर चलता है और उसके युग-पुराचीन बन्धनों के विरुद्ध हमें संवेदित करता है, वहाँ वह सतीत्व और पत्नीत्व की प्राचीरों में बँधा है। नारी की नई उन्मुक्ति को वह सन्देह की दृष्टि से देखता है और गृहलक्ष्मी का आदर्श उसके सामने रखता है। यह दुविधा आज भी लगभग उसी तरह बनी हुई है।

पुरुष-जीवन की सामाजिक समस्याएँ विवाह और प्रेम, घर और बाहर तथा नये-पुराने को लेकर विकसित हुई हैं। नारी की समस्याओं में ये समस्याएँ बहुत-कुछ समाहित हो गई हैं और इनका स्वतन्त्र रूप हमें अधिक दिखलाई नहीं देता। अवैध प्रेम और स्वजाति-रति-जैसी समस्याएँ हमारे उपन्यासकारों ने नहीं उठाई हैं, परन्तु जहाँ सामाजिक समस्याएँ सामने आई हैं, वहाँ किंकर्तव्य-स्थिति और आत्मघाती वेदना का वह रूप हमारे सामने नहीं आता जो शरच्चन्द्र के 'देवदास' और 'गृहदाह'-जैसे उपन्यासों का विषय है। हिन्दी की भूमि कुछ अधिक कठोर है और उसमें चुनौती का स्वर अधिक मुखर और सशक्त है।

सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत-समस्या को लेकर सामने आता है। गान्धीजी के हरिजन-आन्दोलन ने उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाता पाते हैं। परन्तु हरिजन-आन्दोलन जहाँ मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन तक सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचन्द आगे बढ़कर चमारों के एक गाँव के आभ्यन्तरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुँचते हैं। इस प्रकार उपन्यास समसामयिक जीवन से आगे बढ़ जाता है और मौलिक समाधानों को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करता है। इस एक रचना में उपन्यासकार समाज के पीछे चलने वाली इकाई न होकर सतत आगे बढ़ने वाला दीप-स्तम्भ बन जाता है। सामाजिक अनाचार के कुछ अन्य रूप हमें 'गंगा-जमुनी',[1] 'हृदय की परख',[2] 'व्यभिचार',[3] 'दिल्ली का दलाल',[4] 'बुधुआ

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, १९२७।

२. चतुरसेन शास्त्री, १९१८।

३. वही, १९२८।

४. 'उग्र', १९२७।

की बेटी'[1], 'शराबी'[2] आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें नगर के चकलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और सेवा-सदनों की पोलें खोली गई हैं और समाज के उन कुम्भीपाकों को अनावृत किया गया है जो चोर-उचक्कों, पियक्कड़ों, सूदखोरों और पथभ्रष्ट नौकरपेशों के अड्डे हैं। इन रचनाओं में हमें यथार्थवाद का वह रूप मिलता है जिसे हम 'प्रकृतवाद' अथवा नेचुरलिस्टिक रियलिज़्म कहते हैं और जिस पर ज़ोला-फ्लाबेयर-मोपाँसा की छाप है। इनके साथ ही धार्मिक दम्भ और आचार की पोल भी खोली गई है और इस क्षेत्र में 'कंकाल'[3] और 'स्वामी-चौपटानन्द'[4]-जैसी रचनाएँ हमारे पास हैं। 'कर्मभूमि' में स्वयं प्रेमचन्द ने इस महन्तशाही का खाका उतारा है।

मध्यवित्तीय जीवन की सबसे व्यापक भूमि प्रेमचन्द के 'गबन' में ग्रहण की गई है। इस उपन्यास की बौद्धिक और भावुक भूमियाँ एक ही तरह पुष्ट हैं और सामाजिक चित्रण में तटस्थ न रहकर लेखक व्यंग के द्वारा मध्यवित्त की उन सारी विषम स्थितियों पर आघात करता है जो आत्म-प्रवंचना को जन्म देती हैं। जालपा की आभूषण-प्रियता और रमानाथ की बड़प्पन-प्रदर्शन करने की मध्यवित्तीय प्रवृत्ति ने झूठ, प्रपंच, छल और प्रताड़ना का इतना बड़ा काण्ड उपस्थित कर दिया है कि इस रचना में सारा युग सिमट आया है। यहाँ हमें प्रेमचन्द की व्यंग-कला की पराकाष्ठा मिलती है।

कौटुम्बिक भूमि हमें प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में मिलती है। 'प्रेमाश्रम' में जागीरदारी-प्रथा के टूटने के फलस्वरूप और नई शिक्षा के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पर गहरी चोट पड़ती है और बाद में 'गोदान' में होरी के अथक प्रयत्नों पर भी परिवार बिखर जाता है। एक छत के नीचे कुटुम्ब के सभी प्राणियों का रहना आज की शिक्षा-दीक्षा और आर्थिक व्यवस्था के रहते असम्भव है, यह अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सौतेली माँ, सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अनेक उपन्यासों की केन्द्र हैं और फिर सम्मिलित परिवार की प्रथा के टूटने में मनोवैज्ञानिक असन्तुलन का भी बड़ा हाथ है।[5]

सामाजिक भूमि का एक व्यापक रूप भी है, जो विभिन्न जातियों और वर्गों के सहयोग पर आधारित है। प्रेमचन्द को कुछ आवेशपूर्ण क्षणों में घृणा का प्रचारक कहा गया है, परन्तु उनके उपन्यासों में जाति-द्वेष दिखलाई नहीं देता। 'रंगभूमि' में हमें हिन्दू, ईसाई और मुसलमान पात्र-पात्रियों का अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मिलता है। 'कायाकल्प' में हिन्दू-मुसलिम-दंगों की विशद पृष्ठभूमि सामने आती है। इस युग के अन्य उपन्यास भी इस समझौते की भूमि को सामने रखते हैं।[6] दंगों के पीछे छिपे राजनीतिक और आर्थिक चक्रों का

१. उग्र, १९२८।
२. वही, १९३०।
३. १९३०।
४. १९३६।
५. इस सन्दर्भ पर अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं : 'भाई' (ऋषभचरण जैन, १९३१); 'विमाता' (अवधनारायण, १९२३); 'द्वितीय', 'मझली बहू' (शिवनाथ शास्त्री, १९२८); 'बहू रानी' (शम्भूदयाल सक्सेना १९३०); और 'माँ' (विश्वम्भरनाथ कौशिक १९२९)।
६. देखिए, 'कायाकल्प' (प्रेमचन्द, १९२६); 'राम-रहीम' (राधिकारमणप्रसाद सिंह १९३७);

कर जाता है। परन्तु यह जीत भी आदर्शवाद की जीत है। उसमें नारी का प्रकृत विजयोल्लास नहीं है। एक बार फिर समाज की कड़ी भूमि के आगे लेखक का तेज कुण्ठित हो गया है।

इसी समय के लगभग नई नारी का उदय होता है और वह अपने साथ उपन्यास-जगत् में नई समस्याएँ लाती है। परन्तु अभी उसके दर्शन विरल ही हैं। 'गोदान' का नागरिक जीवन वाला अंश इस समस्या को विशेष आग्रह से उपस्थित करता है। वैसे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' उपन्यास में अभिजात्य वर्ग के चित्रण में नई नारी पहली बार आ चुकी थी। वास्तव में समस्त युग के कथा-साहित्य में नये-पुराने का द्वन्द्व है और यह द्वन्द्व नारी के पुराने और नये आदर्शों को केन्द्र बनाकर उपस्थित हुआ है। उपन्यासकारों के पूर्वग्रह के कारण नई नारी बराबर पराजित हुई है और रानी जाह्नवी, धनिया और इन्दु-जैसी भारतीय आदर्श-निष्ठ नारियाँ बराबर जीती हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि हमारे उपन्यासकारों ने नई नारी के दृष्टिकोण को सहानुभूति से देखा है और उसकी समस्याओं को आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देनी चाही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर आलोच्य युग का हिन्दी-उपन्यासकार नारी-जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण लेकर चलता है और उसके युग-पुराचीन बन्धनों के विरुद्ध हमें संवेदित करता है, वहाँ वह सतीत्व और पत्नीत्व की प्राचीरों में बँधा है। नारी की नई उन्मुक्ति को वह सन्देह की दृष्टि से देखता है और गृहलक्ष्मी का आदर्श उसके सामने रखता है। यह दुविधा आज भी लगभग उसी तरह बनी हुई है।

पुरुष-जीवन की सामाजिक समस्याएँ विवाह और प्रेम, घर और बाहर तथा नये-पुराने को लेकर विकसित हुई हैं। नारी की समस्याओं में ये समस्याएँ बहुत-कुछ समाहित हो गई हैं और इनका स्वतन्त्र रूप हमें अधिक दिखलाई नहीं देता। अवैध प्रेम और स्वजाति-रति-जैसी समस्याएँ हमारे उपन्यासकारों ने नहीं उठाई हैं, परन्तु जहाँ सामाजिक समस्याएँ सामने आई हैं, वहाँ किंकर्तव्य-स्थिति और आत्मघाती वेदना का वह रूप हमारे सामने नहीं आता जो शरच्चन्द्र के 'देवदास' और 'गृहदाह'-जैसे उपन्यासों का विषय है। हिन्दी की भूमि कुछ अधिक कठोर है और उसमें चुनौती का स्वर अधिक मुखर और सशक्त है।

सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत-समस्या को लेकर सामने आता है। गान्धीजी के हरिजन-आन्दोलन ने उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाता पाते हैं। परन्तु हरिजन-आन्दोलन जहाँ मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन तक सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचन्द आगे बढ़कर चमारों के एक गाँव के आभ्यन्तरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुँचते हैं। इस प्रकार उपन्यास समसामयिक जीवन से आगे बढ़ जाता है और मौलिक समाधानों को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करता है। इस एक रचना में उपन्यासकार समाज के पीछे चलने वाली इकाई न होकर सतत आगे बढ़ने वाला दीप-स्तम्भ बन जाता है। सामाजिक अनाचार के कुछ अन्य रूप हमें 'गंगा-जमुनी',[1] 'हृदय की परख',[2] 'व्यभिचार',[3] 'दिल्ली का दलाल',[4] 'बुधुआ

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, १९२७।

२. चतुरसेन शास्त्री, १९१८।

३. वही, १९२८।

४. 'उग्र', १९२७।

की बेटी'[1], 'शराबी'[2] आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें नगर के चकलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और सेवा-सदनों की पोलें खोली गई हैं और समाज के उन कुम्भीपाकों को अनावृत किया गया है जो चोर-उचक्कों, पियक्कड़ों, सूदखोरों और पथभ्रष्ट नौकरपेशों के अड्डे हैं। इन रचनाओं में हमें यथार्थवाद का वह रूप मिलता है जिसे हम 'प्रकृतवाद' अथवा नेचुरलिस्टिक रियलिज़्म कहते हैं और जिस पर ज़ोला-फ्लाबेयर-मोपाँसा की छाप है। इनके साथ ही धार्मिक दम्भ और आचार की पोल भी खोली गई है और इस क्षेत्र में 'कंकाल'[3] और 'स्वामी-चौपटानन्द'[4]-जैसी रचनाएँ हमारे पास हैं। 'कर्मभूमि' में स्वयं प्रेमचन्द ने इस महन्तशाही का खाका उतारा है।

मध्यवित्तीय जीवन की सबसे व्यापक भूमि प्रेमचन्द के 'गबन' में ग्रहण की गई है। इस उपन्यास की बौद्धिक और भावुक भूमियाँ एक ही तरह पुष्ट हैं और सामाजिक चित्रण में तटस्थ न रहकर लेखक व्यंग के द्वारा मध्यवित्त की उन सारी विषम स्थितियों पर आघात करता है जो आत्म-प्रवंचना को जन्म देती हैं। जालपा की आभूषण-प्रियता और रमानाथ की बड़प्पन-प्रदर्शन करने की मध्यवित्तीय प्रवृत्ति ने झूठ, प्रपंच, छल और प्रताड़ना का इतना बड़ा काण्ड उपस्थित कर दिया है कि इस रचना में सारा युग सिमट आया है। यहाँ हमें प्रेमचन्द की व्यंग-कला की पराकाष्ठा मिलती है।

कौटुम्बिक भूमि हमें प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में मिलती है। 'प्रेमाश्रम' में जागीरदारी-प्रथा के टूटने के फलस्वरूप और नई शिक्षा के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पर गहरी चोट पड़ती है और बाद में 'गोदान' में होरी के अथक प्रयत्नों पर भी परिवार बिखर जाता है। एक छत के नीचे कुटुम्ब के सभी प्राणियों का रहना आज की शिक्षा-दीक्षा और आर्थिक व्यवस्था के रहते असम्भव है, यह अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सौतेली माँ, सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अनेक उपन्यासों की केन्द्र हैं और फिर सम्मिलित परिवार की प्रथा के टूटने में मनोवैज्ञानिक असन्तुलन का भी बड़ा हाथ है।[5]

सामाजिक भूमि का एक व्यापक रूप भी है, जो विभिन्न जातियों और वर्गों के सहयोग पर आधारित है। प्रेमचन्द को कुछ आवेशपूर्ण क्षणों में घृणा का प्रचारक कहा गया है, परन्तु उनके उपन्यासों में जाति-द्वेष दिखलाई नहीं देता। 'रंगभूमि' में हमें हिन्दू, ईसाई और मुसलमान पात्र-पात्रियों का अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मिलता है। 'कायाकल्प' में हिन्दू-मुस्लिम-दंगों की विशद पृष्ठभूमि सामने आती है। इस युग के अन्य उपन्यास भी इन समस्याओं की भूमि को सामने रखते हैं।[6] दंगों के पीछे छिपे राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों का

1. उग्र, १९२८।
2. वही, १९३०।
3. ,, १९२९।
4. ,, १९३१।
5. इस सन्दर्भ पर अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं : 'भाई' ([illegible] जैन, १९३१); 'विमाता' ([illegible], १९३३); '[illegible]', '[illegible] बहू' ([illegible], १९३८); '[illegible] रानी' ([illegible] १९३०); और 'माँ' ([illegible] कौशिक १९२९)।
6. देखिए, 'कायाकल्प' (प्रेमचन्द, १९२६); 'राम-रहीम' (राधिकारमणप्रसाद सिंह १९३७);

उद्घाटन प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं, परन्तु उदारता और सहिष्णुता के द्वारा वह इस समस्या का समाधान चाहते हैं। एक दूसरा सामाजिक प्रश्न नगर और गाँव के उन अनेक वर्गों से सम्बन्ध रखता है जो सीधे सामाजिक प्रक्रिया की उपज न होकर आर्थिक विकास की ऐतिहासिक उपज है। नगरों का मध्यवित्त, पूँजीपति, उद्योगपति और कर्मकर मजदूर-समाज तथा गाँव का भूमिपति (जमींदार) एवं किसान इस प्रकार के वर्ग हैं। इस युग में हम वर्ग-संघर्ष की भावना का स्पष्ट विकास नहीं पाते, परन्तु उपन्यासकार समाज के इन विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को अच्छी तरह समझ गया है और इन वर्गों के अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को उसने अनेकानेक पात्रों और घटना-प्रसंगों के रूप में वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में सामाजिक संघात का यह रूप सामने आता है। उत्तर रचनाओं में वर्ग-दृष्टि अधिक उन्मुक्त हो गई है और १६२८-१६२६ के लगभग उपन्यासकार रूस के सर्वहारा-वर्ग की साक्षी देने लगते हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त इस भूमि पर चलने वाले उपन्यासकार कम ही हैं। जो हैं भी, वे कलाकारिता और वैचारिक दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं उठ पाये हैं। हिन्दी के इस युग के उपन्यासों की राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता अप्रतिम है और उन्होंने यथार्थ की नई-नई भूमियों का आकलन किया है। स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का वृहत् चयन हुआ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाँति इस युग के कलाकार क्रान्ति नहीं चाहते, वे विकास के पक्षपाती हैं। यह स्पष्टतः इसलिए कि वे सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं मध्यवर्गीय द्वन्द्व के वास्तविक रूप को अभी पहचान नहीं पाये हैं।[1] प्रेमचन्द भी विचारों की अपेक्षा चित्रण के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी हैं। केवल अन्तिम रचना 'गोदान' में वह समझौते और मध्यम मार्ग के प्रति नृशंस हो उठे हैं।

संक्षेप में ये विभिन्न भूमियाँ हैं जिन पर प्रेमचन्द-युग का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है। प्रारम्भ में यथार्थ का जो रूप हमारे सामने आता है वह सुधार है, जिसमें रोमांस का यथेष्ट पुट है। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और उग्र-चतुरसेन के 'प्रकृतवादी (नग्न) यथार्थ' की दो धाराएँ मिलती हैं, जो सम्पूर्ण युग को घेरकर चलती हैं। अन्तिम वर्षों में यथार्थ के चार अन्य रूप भी सामने आते हैं जिन्हें हम क्रमशः यथार्थोन्मुख आदर्श (जैनेन्द्र), मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ (इलाचन्द्र-अज्ञेय), साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ (यशपाल), और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ (द्वारिकाप्रसाद) कह सकते हैं। इन नये दृष्टिकोणों का आरम्भ ही हमें इस युग में मिलता है। विकास के लिए परवर्ती युग (प्रेमचन्दो-

---

और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र, १६२७)।

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।
—डॉ० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिये गए प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत, पृष्ठ १७४।

तर उपन्यास) की ओर हमें देखना होगा। तात्पर्य यह है कि न केवल दृष्टिकोण के रूप में, वरन् चित्रण की भूमि पर भी यथार्थ के कई पहलू इस युग में दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ के बदलते हुए रूप के साथ उपन्यासकारों को अभिव्यंजना के लिए नये-नये माध्यमों एवं उपकरणों की खोज करनी पड़ी है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रारम्भिक होते हुए भी स्वस्थ है। उसमें अभी व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) और विषयनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) यथार्थवाद की विभाजन रेखा स्थापित नहीं हुई है, यद्यपि उसमें एञ्जिल्स की यह धारणा पूर्ण रूप से प्रतिफलित है कि सामाजिक दृष्टिकोणमूलक उपन्यास का लक्ष्य तब पूरा होता है जब वह वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना करता है और उनके सम्बन्ध में भ्रमात्मक विश्वासों का निराकरण करता है एवं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के 'शाश्वतत्व' के प्रति सन्देह को जन्म देता है, फिर चाहे उपन्यासकार ने किसी निश्चित समाधान को उपस्थित नहीं किया हो अथवा वह उभय पक्षों के प्रति तटस्थ रहा हो।[1]

प्रेमचन्द-युग मुख्यतः राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल का युग था। प्रेमचन्द के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जलियान वाला बाग की घटना घटी और सत्याग्रह के रूप में विदेशी शक्ति के विरुद्ध एक व्यापक जनान्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी राज-सत्ता को ग़दर के बाद यह सबसे बड़ी चुनौती थी। फलस्वरूप गतिरोधक शक्तियों को प्रश्रय दिया गया और सामन्ती युग के अवशेष रायबहादुरों-नवाबजादों के प्रयत्नों से हिन्दू-मुसलिम-दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि तैयार की गई। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि को लिया है और यह स्थापित किया है कि जातीय विद्वेष की जड़ें देश की संस्कृति में नहीं, विदेशी कूटनीति में हैं। गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुसलमान सरकारी अफ़सर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे-मुल्ले एक थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनीतिक सूत्र ही दौड़ते हैं। १९२१ में ही मध्यवित्तीय नेतागिरी डर रही थी कि सत्याग्रह जनान्दोलन न बन जाय और बाद में आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १९२३-१९२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों को उभार चुके थे और 'कर्मभूमि' में फिर उन्होंने एक बार गाँव को अपना विषय बनाया। १९३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर बढ़ीं और जनता तक फैल गईं। फलतः सरकार ने समझौता करके जन-शक्ति को कुण्ठित करना चाहा। इस दिशा में वह सफल भी हुई। सत्ता और अहिंसा से बँधे हुए हमारे नेता सरकार की इस चाल को नहीं

---

1. समाजवादी यथार्थवाद (सोशलिस्ट रियलिज़्म) के प्रकरण में रैल्फ फॉक्स की पुस्तक 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल' पृ० १०८ में उद्धृत : "In my view the Socialist tendentious novel completely fulfils its mission in describing real social relationships, in destroying relative illusions concerning them, in upsetting the optimism of the bourgeois world, in sowing doubt as to the eternal nature of the existing social order, even though the author did not thereby advance any definite solution and sometimes did not even come down on one side or another."

उद्‌घाटन प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं, परन्तु उदारता और सहिष्णुता के द्वारा वह इस समस्या का समाधान चाहते हैं। एक दूसरा सामाजिक प्रश्न नगर और गाँव के उन अनेक वर्गों से सम्बन्ध रखता है जो सीधे सामाजिक प्रक्रिया की उपज न होकर आर्थिक विकास की ऐतिहासिक उपज है। नगरों का मध्यवित्त, पूँजीपति, उद्योगपति और कर्मकर मजदूर-समाज तथा गाँव का भूमिपति (जमींदार) एवं किसान इस प्रकार के वर्ग हैं। इस युग में हम वर्ग-संघर्ष की भावना का स्पष्ट विकास नहीं पाते, परन्तु उपन्यासकार समाज के इन विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को अच्छी तरह समझ गया है और इन वर्गों के अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को उसने अनेकानेक पात्रों और घटना-प्रसंगों के रूप में वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में सामाजिक संघात का यह रूप सामने आता है। उत्तर रचनाओं में वर्ग-दृष्टि अधिक उन्मुक्त हो गई है और १६२८-१६२६ के लगभग उपन्यासकार रूस के सर्वहारा-वर्ग की साक्षी देने लगते हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त इस भूमि पर चलने वाले उपन्यासकार कम ही हैं। जो हैं भी; वे कलाकारिता और वैचारिक दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं उठ पाये हैं। हिन्दी के इस युग के उपन्यासों की राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता अप्रतिम है और उन्होंने यथार्थ की नई-नई भूमियों का आकलन किया है। स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का बृहत् चयन हुआ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाँति इस युग के कलाकार क्रान्ति नहीं चाहते, वे विकास के पक्षपाती हैं। यह स्पष्टतः इसलिए कि वे सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं मध्यवर्गीय द्वन्द्व के वास्तविक रूप को अभी पहचान नहीं पाये हैं।[1] प्रेमचन्द भी विचारों की अपेक्षा चित्रण के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी हैं। केवल अन्तिम रचना 'गोदान' में वह समझौते और मध्यम मार्ग के प्रति नृशंस हो उठे हैं।

संक्षेप में ये विभिन्न भूमियाँ हैं जिन पर प्रेमचन्द-युग का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है। प्रारम्भ में यथार्थ का जो रूप हमारे सामने आता है वह सुधार है, जिसमें रोमांस का यथेष्ट पुट है। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और उग्र-चतुरसेन के 'प्रकृतवादी (नग्न) यथार्थ' की दो धाराएँ मिलती हैं, जो सम्पूर्ण युग को घेरकर चलती हैं। अन्तिम वर्षों में यथार्थ के चार अन्य रूप भी सामने आते हैं जिन्हें हम क्रमशः यथार्थोन्मुख आदर्श (जैनेन्द्र), मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ (इलाचन्द्र-अज्ञेय), साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ (यशपाल), और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ (द्वारिकाप्रसाद) कह सकते हैं। इन नये दृष्टिकोणों का आरम्भ ही हमें इस युग में मिलता है। विकास के लिए परवर्ती युग (प्रेमचन्दो-

---

और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र, १६२७)।

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।

—डॉ० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिये गए प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत, पृष्ठ १७४।

तर उपन्यास) की ओर हमें देखना होगा। तात्पर्य यह है कि न केवल दृष्टिकोण के रूप में, वरन् चित्रण की भूमि पर भी यथार्थ के कई पहलू इस युग में दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ के बदलते हुए रूप के साथ उपन्यासकारों को अभिव्यंजना के लिए नये-नये माध्यमों एवं उपकरणों की खोज करनी पड़ी है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रारम्भिक होते हुए भी स्वस्थ है। उसमें अभी व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) और विषयनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) यथार्थवाद की विभाजन रेखा स्थापित नहीं हुई है, यद्यपि उसमें एञ्जिल्स की यह धारणा पूर्ण रूप से प्रतिफलित है कि सामाजिक दृष्टिकोणमूलक उपन्यास का लक्ष्य तब पूरा होता है जब वह वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना करता है और उनके सम्बन्ध में भ्रमात्मक विश्वासों का निराकरण करता है एवं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के 'शाश्वतत्व' के प्रति सन्देह को जन्म देता है, फिर चाहे उपन्यासकार ने किसी निश्चित समाधान को उपस्थित नहीं किया हो अथवा वह उभय पक्षों के प्रति तटस्थ रहा हो।[1]

प्रेमचन्द-युग मुख्यतः राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल का युग था। प्रेमचन्द के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जलियान वाला बाग की घटना घटी और सत्याग्रह के रूप में विदेशी शक्ति के विरुद्ध एक व्यापक जनान्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी राज-सत्ता को ग़दर के बाद यह सबसे बड़ी चुनौती थी। फलस्वरूप गतिरोधक शक्तियों को प्रश्रय दिया गया और सामन्ती युग के अवशेष रायबहादुरों-नवाबजादों के प्रयत्नों से हिन्दू-मुसलिम-दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि तैयार की गई। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि को लिया है और यह स्थापित किया है कि जातीय विद्वेष की जड़ें देश की संस्कृति में नहीं, विदेशी कूटनीति में हैं। गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुसलमान सरकारी अफ़सर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे-मुल्ले एक थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनीतिक सूत्र ही दौड़ते हैं। १९२१ में ही मध्यवित्तीय नेतागिरी डर रही थी कि सत्याग्रह जनान्दोलन न बन जाय और बाद में आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १९२३-१९२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों को उभार चुके थे और 'कर्मभूमि' में फिर उन्होंने एक बार गाँव को अपना विषय बनाया। १९३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर बढ़ीं और जनता तक फैल गईं। फलतः सरकार ने समझौता करके जन-शक्ति को कुण्ठित करना चाहा। इस दिशा में वह सफल भी हुई। मध्य और उच्चवर्ग से ऐसे हुए हमारे नेता सरकार की इस चाल को नहीं

1. समाजवादी यथार्थवाद (सोशलिस्ट रियलिज्म) के प्रकरण में राल्फ फॉक्स की पुस्तक

उद्घाटन प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं, परन्तु उदारता और सहिष्णुता के द्वारा वह इस समस्या का समाधान चाहते हैं। एक दूसरा सामाजिक प्रश्न नगर और गाँव के उन अनेक वर्गों से सम्बन्ध रखता है जो सीधे सामाजिक प्रक्रिया की उपज न होकर आर्थिक विकास की ऐतिहासिक उपज है। नगरों का मध्यवित्त, पूँजीपति, उद्योगपति और कर्मकर मजदूर-समाज तथा गाँव का भूमिपति (जमींदार) एवं किसान इस प्रकार के वर्ग हैं। इस युग में हम वर्ग-संघर्ष की भावना का स्पष्ट विकास नहीं पाते, परन्तु उपन्यासकार समाज के इन विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को अच्छी तरह समझ गया है और इन वर्गों के अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को उसने अनेकानेक पात्रों और घटना-प्रसंगों के रूप में वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में सामाजिक संघात का यह रूप सामने आता है। उत्तर रचनाओं में वर्ग-दृष्टि अधिक उन्मुक्त हो गई है और १६२८-१६२६ के लगभग उपन्यासकार रूस के सर्वहारा-वर्ग की साक्षी देने लगते हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त इस भूमि पर चलने वाले उपन्यासकार कम ही हैं। जो हैं भी, वे कलाकारिता और वैचारिक दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं उठ पाये हैं। हिन्दी के इस युग के उपन्यासों की राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता अप्रतिम है और उन्होंने यथार्थ की नई-नई भूमियों का आकलन किया है। स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का बृहत् चयन हुआ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाँति इस युग के कलाकार क्रान्ति नहीं चाहते, वे विकास के पक्षपाती हैं। यह स्पष्टतः इसलिए कि वे सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं मध्यवर्गीय द्वन्द्व के वास्तविक रूप को अभी पहचान नहीं पाये हैं।[1] प्रेमचन्द भी विचारों की अपेक्षा चित्रण के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी हैं। केवल अन्तिम रचना 'गोदान' में वह समझौते और मध्यम मार्ग के प्रति नृशंस हो उठे हैं।

संक्षेप में ये विभिन्न भूमियाँ हैं जिन पर प्रेमचन्द-युग का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है। प्रारम्भ में यथार्थ का जो रूप हमारे सामने आता है वह सुधार है, जिसमें रोमांस का यथेष्ट पुट है। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और उग्र-चतुरसेन के 'प्रकृतवादी (नग्न) यथार्थ' की दो धाराएँ मिलती हैं, जो सम्पूर्ण युग को घेरकर चलती हैं। अन्तिम वर्षों में यथार्थ के चार अन्य रूप भी सामने आते हैं जिन्हें हम क्रमशः यथार्थोन्मुख आदर्श (जैनेन्द्र), मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ (इलाचन्द्र-अज्ञेय), साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ (यशपाल), और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ (द्वारिकाप्रसाद) कह सकते हैं। इन नये दृष्टिकोणों का आरम्भ ही हमें इस युग में मिलता है। विकास के लिए परवर्ती युग (प्रेमचन्दो-

---

और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र, १६२७)।

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक विना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।
—डॉ० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिये गए प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत, पृष्ठ १७४।

तर उपन्यास) की ओर हमें देखना होगा। तात्पर्य यह है कि न केवल दृष्टिकोण के रूप में, वरन् चित्रण की भूमि पर भी यथार्थ के कई पहलू इस युग में दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ के बदलते हुए रूप के साथ उपन्यासकारों को अभिव्यंजना के लिए नये-नये माध्यमों एवं उपकरणों की खोज करनी पड़ी है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रारम्भिक होते हुए भी स्वस्थ है। उसमें अभी व्यक्तिनिष्ट (सब्जेक्टिव) और विषयनिष्ट (ऑब्जेक्टिव) यथार्थवाद की विभाजन रेखा स्थापित नहीं हुई है, यद्यपि उसमें एञ्जिल्स की यह धारणा पूर्ण रूप से प्रतिफलित है कि सामाजिक दृष्टिकोणमूलक उपन्यास का लक्ष्य तब पूरा होता है जब वह वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना करता है और उनके सम्बन्ध में भ्रमात्मक विश्वासों का निराकरण करता है एवं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के 'शाश्वतत्व' के प्रति सन्देह को जन्म देता है, फिर चाहे उपन्यासकार ने किसी निश्चित समाधान को उपस्थित नहीं किया हो अथवा वह उभय पक्षों के प्रति तटस्थ रहा हो।[1]

प्रेमचन्द-युग मुख्यतः राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल का युग था। प्रेमचन्द के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जलियान वाला बाग की घटना घटी और सत्याग्रह के रूप में विदेशी शक्ति के विरुद्ध एक व्यापक जनान्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी राज-सत्ता को गदर के बाद यह सबसे बड़ी चुनौती थी। फलस्वरूप गतिरोधक शक्तियों को प्रश्रय दिया गया और सामन्ती युग के अवशेष रायबहादुरों-नवाबज़ादों के प्रयत्नों से हिन्दू-मुसलिम-दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि तैयार की गई। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि को लिया है और यह स्थापित किया है कि जातीय विद्वेष की जड़ें देश की संस्कृति में नहीं, विदेशी कूटनीति में हैं। गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुसलमान सरकारी अफ़सर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे-मुल्ले एक थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनीतिक सूत्र ही दौड़ते हैं। १६२१ में ही मध्यवित्तीय नेतागिरी डर रही थी कि सत्याग्रह जनान्दोलन न बन जाय और बाद में आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १६२३-१६२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों को उभार चुके थे और 'कर्मभूमि' में फिर उन्होंने एक बार गाँव को अपना विषय बनाया। १६३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर बढ़ीं और जनता तक फैल गईं। फलतः सरकार ने समझौता करके जन-शक्ति को कुण्ठित करना चाहा। इस दिशा में वह सफल भी हुई। सत्य और अहिंसा से बँधे हुए हमारे नेता सरकार की इस चाल को नहीं

---

१. समाजवादी यथार्थवाद (सोशलिस्ट रियलिज़्म) के प्रकरण में रेल्फ़ फॉक्स की पुस्तक 'द नावेल एण्ड द पीपुल' पृ० १०८ में उद्धृत : "In my view the Socialist tendentious novel completely fulfils its mission in describing real social relationships, in destroying relative illusions concerning them, in upsetting the optimism of the bourgeois world, in sowing doubt as to the eternal nature of the exisiting social order, even though the author did not thereby advance any definite solution and sometimes did not even come down on one side or another."

उद्घाटन प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं, परन्तु उदारता और सहिष्णुता के द्वारा वह इस समस्या का समाधान चाहते हैं। एक दूसरा सामाजिक प्रश्न नगर और गाँव के उन अनेक वर्गों से सम्बन्ध रखता है जो सीधे सामाजिक प्रक्रिया की उपज न होकर आर्थिक विकास की ऐतिहासिक उपज है। नगरों का मध्यवित्त, पूँजीपति, उद्योगपति और कर्मकर मजदूर-समाज तथा गाँव का भूमिपति (जमींदार) एवं किसान इस प्रकार के वर्ग हैं। इस युग में हम वर्ग-संघर्ष की भावना का स्पष्ट विकास नहीं पाते, परन्तु उपन्यासकार समाज के इन विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को अच्छी तरह समझ गया है और इन वर्गों के अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को उसने अनेकानेक पात्रों और घटना-प्रसंगों के रूप में वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में सामाजिक संघात का यह रूप सामने आता है। उत्तर रचनाओं में वर्ग-दृष्टि अधिक उन्मुक्त हो गई है और १९२८-१९२९ के लगभग उपन्यासकार रूस के सर्वहारा-वर्ग की साक्षी देने लगते हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त इस भूमि पर चलने वाले उपन्यासकार कम ही हैं। जो हैं भी, वे कलाकारिता और वैचारिक दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं उठ पाये हैं। हिन्दी के इस युग के उपन्यासों की राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता अप्रतिम है और उन्होंने यथार्थ की नई-नई भूमियों का आकलन किया है। स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का वृहत् चयन हुआ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भाँति इस युग के कलाकार क्रान्ति नहीं चाहते, वे विकास के पक्षपाती हैं। यह स्पष्टतः इसलिए कि वे सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं मध्यवर्गीय द्वन्द्व के वास्तविक रूप को अभी पहचान नहीं पाये हैं।[1] प्रेमचन्द भी विचारों की अपेक्षा चित्रण के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी हैं। केवल अन्तिम रचना 'गोदान' में वह समझौते और मध्यम मार्ग के प्रति नृशंस हो उठे हैं।

संक्षेप में ये विभिन्न भूमियाँ हैं जिन पर प्रेमचन्द-युग का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है। प्रारम्भ में यथार्थ का जो रूप हमारे सामने आता है वह सुधार है, जिसमें रोमांस का यथेष्ट पुट है। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और उग्र-चतुरसेन के 'प्रकृतवादी (नग्न) यथार्थ' की दो धाराएँ मिलती हैं, जो सम्पूर्ण युग को घेरकर चलती हैं। अन्तिम वर्षों में यथार्थ के चार अन्य रूप भी सामने आते हैं जिन्हें हम क्रमशः यथार्थोन्मुख आदर्श (जैनेन्द्र), मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ (इलाचन्द्र-अज्ञेय), साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ (यशपाल), और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ (द्वारिकाप्रसाद) कह सकते हैं। इन नये दृष्टिकोणों का आरम्भ ही हमें इस युग में मिलता है। विकास के लिए परवर्ती युग (प्रेमचन्दो-

---

और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र, १९२७)।

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।
—डॉ० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिये गए प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत, पृष्ठ १७४।

तर उपन्यास) की ओर हमें देखना होगा। तात्पर्य यह है कि न केवल दृष्टिकोण के रूप में, वरन् चित्रण की भूमि पर भी यथार्थ के कई पहलू इस युग में दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ के बदलते हुए रूप के साथ उपन्यासकारों को अभिव्यंजना के लिए नये-नये माध्यमों एवं उपकरणों की खोज करनी पड़ी है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रारम्भिक होते हुए भी स्वस्थ है। उसमें अभी व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) और विषयनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) यथार्थवाद की विभाजन रेखा स्थापित नहीं हुई है, यद्यपि उसमें एञ्जिल्स की यह धारणा पूर्ण रूप से प्रतिफलित है कि सामाजिक दृष्टिकोणमूलक उपन्यास का लक्ष्य तब पूरा होता है जब वह वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना करता है और उनके सम्बन्ध में भ्रमात्मक विश्वासों का निराकरण करता है एवं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के 'शाश्वतत्व' के प्रति सन्देह को जन्म देता है, फिर चाहे उपन्यासकार ने किसी निश्चित समाधान को उपस्थित नहीं किया हो अथवा वह उभय पक्षों के प्रति तटस्थ रहा हो।[1]

प्रेमचन्द-युग मुख्यतः राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल का युग था। प्रेमचन्द के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जलियान वाला बाग की घटना घटी और सत्याग्रह के रूप में विदेशी शक्ति के विरुद्ध एक व्यापक जनान्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी राज-सत्ता को ग़दर के बाद यह सबसे बड़ी चुनौती थी। फलस्वरूप गतिरोधक शक्तियों को प्रश्रय दिया गया और सामन्ती युग के अवशेष रायबहादुरों-नवाबज़ादों के प्रयत्नों से हिन्दू-मुसलिम-दंगों के रूप में जातीय विद्वेष की भूमि तैयार की गई। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि को लिया है और यह स्थापित किया है कि जातीय विद्वेष की जड़ें देश की संस्कृति में नहीं, विदेशी कूटनीति में हैं। गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुसलमान सरकारी अफ़सर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे-मुल्ले एक थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनीतिक सूत्र ही दौड़ते हैं। १९२१ में ही मध्यवित्तीय नेतागिरी डर रही थी कि सत्याग्रह जनान्दोलन न बन जाय और बाद में आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १९२३-१९२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों को उभार चुके थे और 'कर्मभूमि' में फिर उन्होंने एक बार गाँव को अपना विषय बनाया। १९३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर बढ़ीं और जनता तक फैल गईं। फलतः सरकार ने समझौता करके जन-शक्ति को कुण्ठित करना चाहा। इस दिशा में वह सफल भी हुई। सत्य और अहिंसा से बँधे हुए हमारे नेता सरकार की इस चाल को नहीं

---

१. समाजवादी यथार्थवाद (सोशलिस्ट रियलिज़्म) के प्रकरण में रेल्फ़ फॉक्स की पुस्तक 'द नावेल एण्ड द पीपुल' पृ० १०८ में उद्धृत : "In my view the Socialist tendentious novel completely fulfils its mission in describing real social relationships, in destroying relative illusions concerning them, in upsetting the optimism of the bourgeois world, in sowing doubt as to the eternal nature of the exisiting social order, even though the author did not thereby advance any definite solution and sometimes did not even come down on one side or another."

समझ पाए, परन्तु जब कुण्ठा और गत्यवरोध के कारण व्यापक रूप से विक्षोभ दिखलाई पड़ा तो वे परिस्थिति को समझकर हतप्रभ रह गए। प्रेमचन्द में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई और फलस्वरूप वह समझौते और आदर्श को तिलांजलि देकर क्रान्ति और यथार्थ की भूमि पर उतर आए। 'गोदान' की नई जागरूक दृष्टि इसी परिवर्तन का संकेत करती है। हृदय-मन्थन का युग समाप्त हो गया है और प्रेमचन्द अपना मार्ग निश्चित कर चुके हैं। 'ग़बन' (१९३१) के व्यंग्य-स्वर में पहले भी वह यही जागरूक दृष्टि दिखला चुके थे, परन्तु वहाँ उनका क्षेत्र मध्यवित्त समाज था, ग्राम नहीं। 'ग्राम' भारतीय जीवन की सबसे छोटी सशक्त सामाजिक और राजनीतिक इकाई है और इसे ध्वंसमान दिखाकर प्रेमचन्द सुधार की भूमि को छोड़कर विद्रोह की वास्तविकता पर उतर आए हैं। अन्य उपन्यासकारों में भी यही प्रतिक्रिया दिखलाई देती है।

इस तरह सामाजिक यथार्थ आरम्भ में सामाजिक भूमि को अपनाकर चला, परन्तु शीघ्र ही उपन्यासकारों को यह पता चल गया कि समाज और राजनीति की भूमियाँ भिन्न नहीं हैं, एक हैं। इसीसे बाद के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ राजनीतिक पृष्ठभूमि को लेकर चलता है और प्रेमचन्द-जैसे कलाकारों के बड़े-बड़े राजनीतिक उपन्यासों में समाज के मूल प्रश्न अनायास ही उभर आए हैं। यथार्थ की यह बदलती हुई अधिक व्यापक भूमि हमें हिन्दी-उपन्यासकारों की अन्तर्दृष्टि और चित्रण के क्षेत्र में उनकी प्रगति की सूचना देती है। यह स्पष्ट है कि इस युग का हिन्दी-उपन्यासकार 'वाद-ग्रस्त' नहीं था। सामाजिक यथार्थ उसके लिए प्रेरक शक्ति था, वह उसके लिए एक-मात्र मूल मन्त्र नहीं था। उपन्यास में यथार्थ की यही स्थिति वांछनीय भी है।[1] प्रेमचन्दोत्तर युग में यथार्थ का भी एक वाद बन गया है जिस प्रकार प्रेमचन्द के युग में आदर्श का एक वाद था। इससे परवर्ती उपन्यासकारों की जीवन-दृष्टि कुण्ठित हुई है और उनमें विषय और चित्रण का अनावश्यक संकोच दिखलाई पड़ता है, जो कला के लिए घातक है।

प्रेमचन्द-युग में हिन्दी-उपन्यास ने पहली बार सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ा और औपन्यासिक कला में भाषा की आलंकारिकता और कल्पना की रंगीनी के स्थान पर सत्य की नई अपराजित आभा ने प्रवेश किया। जहाँ काव्य-क्षेत्र में शाश्वत के उपासक छायावादी कवि नक्षत्र-लोकों में खो गए, वहाँ इस युग की सामयिकता को कथा और पात्रों में बाँधने वाले उपन्यासकार हमारी जीवन-चेतना को ऊर्ध्ववाही और अकुण्ठित बनाकर अमर हो गए। साहित्य में धरती के जीवन का रस उमड़ आया और साहित्यकारों के विषय और विवेचना-सम्बन्धी पूर्वग्रह समाप्त हो गए। प्रेमचन्द-जैसे जागरूक कलाकार में औपन्यासिक अनुबन्ध को उपेक्षित करके जीवन की विविध, विभिन्न और समानान्तर रूप-रेखाओं को लेकर चलने की जो प्रवृत्ति है, वह इस युग की शक्ति की द्योतक है, पहली बार जीवन के संदर्भ ग्रहण करके उसके प्रति अतिभावुक हो उठी है। आदर्श की छाप इस युग के साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ी है, परन्तु यथार्थ का आग्रह भी बराबर बढ़ा है।

---

१. Treatise on Novel, R. Lidell, p. 58. "In what circumstances may the novelist concern himself with contemporary social problems ?—The answer is so simple that it can be stated in a few words: 'If they lie within his range, if he looks at them as a humanist, and if he treats them as a novelist—that is, in terms of character in action.'"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में आरम्भ से ही सामाजिक यथार्थ का आकलन हुआ है और अपने सामाजिक परिवेश के प्रति कलाकार पूर्ण रूप से जागरूक है। बुद्धिवाद का आग्रह दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है और लक्ष्य में आदर्शवादी या यथार्थवादी होते हुए भी चित्रण में यथार्थ को ही प्रधानता मिली है। प्रारम्भिक कलाकारों में सामाजिक चेतना अस्पष्ट है, उन्हें अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का आभास-मात्र है। फलतः समस्या का जो रूप या उसका जो समाधान उपन्यासकार हमारे सामने रखता है, वह बहुत-कुछ विश्वसनीय नहीं है। इस युग के सबसे बड़े कलाकार प्रेमचन्द को ही लें तो यह स्थिति दिखलाई देती है। सामाजिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उनकी जागरूकता 'प्रेमचन्द : घर में' और उनके निबन्धों से स्पष्ट है, परन्तु यह कदाचित् उनका प्रौढ़तम विचारक रूप है। उपन्यासों में वह विचार की अपेक्षा चित्रण में अधिक प्रगतिशील हैं। 'सेवा सदन' में वेश्या-जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या को उठाकर भी वह उसे उस स्वाभाविक विचार-परिणति पर नहीं पहुँचा सके हैं जो रूसी लेखक अलेक्जेण्डर क्यूपरिन के उपन्यास 'यामा द पिट' में मिलती है। प्रेमचन्द की बौद्धिकता वेश्याओं को नगर के चौक से हटाकर और सुमन द्वारा पथभ्रष्ट महिलाओं के लिए 'सेवा सदन' (आश्रम) की स्थापना करके ही समाप्त हो जाती है। दहेज, दोहाजू, बाल-विवाह, बहु-पत्नीत्व-जैसी सामाजिक विडम्बनाओं के प्रति प्रेमचन्द खड्ग-हस्त होते हैं, परन्तु उनका बल चित्रण में है, समाधान में नहीं।[1] 'निर्मला' में ये सभी समस्याएँ एक ही चित्रपट पर सामने आ जाती हैं और निर्मला के दुःखान्त की सर्वभक्षी वेदना पाठक को इन सामाजिक विषमताओं के सम्बन्ध में सोचने को मजबूर कर देती है। मध्यवित्तीय जीवन की आत्म-प्रवंचना 'ग़बन' में खूब उभरी है। इसका निराकरण क्या होगा, प्रेमचन्द यह नहीं बतलाते। वर्गहीन समाज की स्थापना की ओर उनका आग्रह नहीं है, जो महाजनी सभ्यता के थोथे प्रदर्शन और उसकी श्रेणीबद्धता के मूल में कुठाराघात करे। वह इस रचना में भी सुधारक ही हैं, क्रान्तिद्रष्टा नहीं। भीतरी सुधार, हृदय-परिवर्तन, सन्तुलित जीवन-दृष्टि, सादे जीवन पर उनका आग्रह है, परन्तु परिस्थितियों का व्यंग जहाँ मनुष्य को निहत्था कर देता है, वहाँ ये समाधान बहुत पीछे छूट जाते हैं। प्रेमचन्द का युग हृदय-मन्थन का युग था, परन्तु मध्यवित्तीय वर्ग इस हृदय-मन्थन के बाद भी समझौते और पच्चड़कारी से ऊपर नहीं उठ सका था। वह स्वयं आत्मप्रवंचक है। उनके सभी समाधान ऊपरी हैं, समस्याओं की ऐतिहासिक, आर्थिक और राजनीतिक जड़ों तक वे नहीं जाते। फिर भी इस युग के उपन्यासकारों को यह श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने सामाजिक यथार्थ के अनेकानेक पहलुओं को औपन्यासिक वस्तु बनाया और पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया।

परन्तु बाद के कुछ वर्षों में उपन्यासों में कुछ अधिक तलस्पर्शिता आई है और जीवन-दृष्टि भी व्यापक और मूलनिष्ठ बनी है। 'कंकाल', 'सुनीता', 'अलका' और 'तलाक'—जैसी रचनाएँ समाज की समस्याओं को नई दृष्टि से देखती हैं। उनमें समझौते का संगीत नहीं, विद्रोह

१. प्रेमचन्द 'सेवा सदन' के अपने समाधान से आश्वस्त नहीं थे। 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १८०–१८१) संस्मरण-ग्रन्थ में म्युनिसिपैलिटी से रेडियो के निकाले जाने के प्रस्ताव पर शिवरानी देवी के हृदय-मन्थन को सुनकर उन्होंने सेवा सदन की ओर इशारा किया, परन्तु इस गुत्थी का समाधान उन्हें उस समय तक नहीं दिखलाई दिया जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं होता। आज भी यह समस्या उसी तरह बनी है।

का व्यंग है। 'कंकाल' में जाति-वर्ण-गर्व की भित्ति रक्त-शुद्धता पर ही आघात किया गया है और सामयिक समाज से पीछे हटकर शताब्दियों पार उसकी ऐतिहासिक विषम परम्परा की ओर भी लेखक की दृष्टि गई है। अनमेल-विवाह की समस्या अब केवल सामाजिक समस्या न होकर वंशानुक्रम-विज्ञान से सम्बन्धित हो गई है। इसी प्रकार जैनेन्द्र का 'सुनीता' उपन्यास घर-बाहर के नये द्वन्द्व को सामने लाता है, जो नये सामाजिक जागरण से उत्पन्न नई समस्या है। अब नारी प्रेम करने का सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य माँगने लगी है, उसकी समस्या बाल-विवाह, दहेज, दोहाजू आदि की समस्या नहीं रही है। ये सुधार अब सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। फलतः सामाजिक यथार्थ की भूमि बदल गई है। 'सुनीता' में लेखक ने नारी के तन-मन के द्वन्द्व को उपस्थित किया है : विवाह-बन्धन के भीतर रहकर नारी क्या अपनी प्रेममयी मूल प्रकृति को कुण्ठित नहीं कर रही है? 'सुनीता' में पति के ही आदर्श की विजय है और इसीलिए यह रचना भी प्रेमचन्द-परम्परा में आती है, परन्तु चित्रण की भूमि बदल गई है और नर-नारी के आकर्षण को समाज के प्रतिबन्धों से एकदम ऊपर रखने का नया प्रयत्न शुरू हो गया है। सामाजिक जीवन की भित्ति विवाह के प्रति ही लेखकों का आक्रोश तीव्र हो उठा है। इसीसे विद्रोह अब सूक्ष्म, व्यापक और मनोनिष्ठ है। 'गोदान' में उपन्यास के अन्त में हम आदर्श को होरी के रूप में टूटते पाते हैं और गोबर की नई यथार्थवादिनी खुली दृष्टि हमारे सामने आती है। सामाजिक जीवन अब घर और कुटुम्ब तक सीमित न रहकर आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं का निष्कर्ष बन गया है। सामाजिक चेतनाओं और प्रक्रियाओं को अब स्वतन्त्र इकाई न मानकर अनेक सम्बन्ध-सूत्रों की खोज की गई है और बुद्धि के प्रकाश में पुराने समाधान फीके पड़ गए हैं। समझौते का स्वप्न समाप्त हो गया है और विश्वासों की नींवें ढह गई हैं। यहीं पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य की विचार-भूमि की सन्धि-रेखा है, जो पिछले युग से अधिक गहरी, व्यापक, मूलनिष्ठ और क्रान्तदर्शिनी है और जिसमें राजनीति तथा मनोविज्ञान की नई उपलब्धियों का चकाचौंध फैलाने वाला प्रकाश है, अस्पष्ट चिन्तन की रहस्य-वीथियाँ नहीं हैं।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रेमचन्दोत्तर काल : नये धरातल

प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ने हिन्दी-उपन्यास को कई अर्थों में आदर्श के साथ-साथ यथार्थ बृहत्तर क्षेत्र प्रदान किया था। उन्होंने सामन्तवादी कृत्रिमता और ढहते हुए मूल्यों को अपने उपन्यासों में चित्रित करके जीवन के उन गलित और कुत्सित प्रसंगों को उभारकर सामने लाने का प्रयास किया था जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद, मशीन-युग और पनपते हुए सामाजिक असन्तुलन के कारण समस्त राष्ट्रीय चेतना को दबाये जा रहे थे। उनका मोह राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति था इसलिए वे अपने परम्परावादी आदर्शवाद को उस राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध करने की चेष्टा भी करते रहे थे। उनके उपन्यासों में इसी कारण कई प्रकार की समस्याएँ उठती थीं जिनमें से कुछ का निर्वाह तो वे करते थे और कुछ छूट जाती थीं। प्रमाण के लिए समाजगत मूल्यों और वैयक्तिक मूल्यों की सीमाएँ उनके उपन्यासों में केवल उठकर रह जाती हैं, उनका स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक नहीं हो पाता। कहीं-कहीं सांस्कृतिक मूल्यों और सभ्यता के विकासोन्मुख तत्त्वों का भी संघर्ष उठ खड़ा होता था वहाँ पर भी परम्परागत सांस्कृतिक स्थापनाओं और सभ्यता के विकासोन्मुख शक्तियों के बीच पिसते हुए मानव-जीवन का चित्रण तो वह बड़ी सफलता से करते थे, लेकिन वहाँ पर भी वह उगती हुई नई दिशाओं और नई सम्भावनाओं को न ठीक तरह से आँक पाते थे, न उनकी अवहेलना कर पाते थे। कहने का सारांश यह कि समस्त राष्ट्रीय चेतना के प्रति जागरूक होते हुए भी प्रेमचन्द में आधुनिकता नहीं थी। उनके उपन्यासों और कहानियों में बहुत-कुछ परम्परा का परिष्कृत रूप है, आधुनिक विचारों का संसर्ग नहीं।

इस स्थिति में प्रेमचन्द का उतना दोष नहीं है जितना कि उस युग की प्रचलित विचार-धारा का। प्रेमचन्द का युग वस्तुतः विचारों का उदय-काल था। उसमें मूल्य स्थिर और स्थापित नहीं हो पाते थे, उनका केवल आभास-मात्र ही मिल पाता था। उसकी विस्तृत रूप-रेखा न तो तब तक बन ही पाई और न उसके बनने की उस समय कोई विशेष आशा ही थी। लेकिन वे नये मूल्य, जो विकसित हो रहे थे, उनके नये नैतिक स्तर, नवीन चिन्तन-शक्ति के साथ संघर्षशील थे। नये आयामों को निर्धारित करने की अनुभूति सबके मन में थी। प्रेमचन्द के साथ इस उगती हुई नई पीढ़ी का संघर्ष सांस्कृतिक परम्परा और आधुनिक विचारधारा का संघर्ष था। जिसकी सर्वप्रथम सफल अभिव्यक्ति हमें भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

'चित्रलेखा' : नये नैतिक दृष्टिकोण की अन्वेषणात्मक जिज्ञासा

'चित्रलेखा' की मौलिक समस्या नैतिक मूल्यों का पुनःस्थापन-मात्र है। पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, जीवन और यथार्थ, व्यक्ति और समूह की आधारभूत समस्या—यही 'चित्रलेखा'

की प्रमुख विषय-वस्तु है। परम्परा की सुधारवादी प्रवृत्ति, जिसकी स्थापना प्रेमचन्द ने की थी, युग की समस्याओं को देखते हुए पर्याप्त नहीं थी। मानवानुभूतियों की गहराई में छिपा हुआ विद्रोह ऊबकर और खीझकर समस्त बन्धनों को तोड़कर अकेला खड़ा होना चाहता था, लेकिन संस्कार के बन्धन में उलझने के नाते उसे फिर से प्राचीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में मूल समस्याओं को देखने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था। 'चित्रलेखा' का ऐतिहासिक आवरण केवल उस मोह का आडम्बर था, जिसे लेखक छोड़ने में अपने को असमर्थ पा रहा था।

वस्तुतः 'चित्रलेखा' आधुनिक युग की विविधमुखी समस्याओं की प्रतीक है। इस उपन्यास से उन नये मूल्यों के स्तर अधिक उभरकर आने लगे जो अभी तक दबे थे और संस्कारों के बोझ से कराह रहे थे। यही नहीं 'चित्रलेखा' उन अनेक सामाजिक समस्याओं की पूर्ति थी जो 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत की गई थी। इसके अतिरिक्त उसमें दार्शनिक जीवन के खोखलेपन का उद्‌घाटन भी था, जो समस्त भारतीय चेतना पर जाले-सा छाया हुआ था।

'शेखर : एक जीवनी' : वेदनानुभूति में प्रौढ़ श्रद्धा

'चित्रलेखा' के उपरान्त 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन सर्वथा नई दिशा की निश्चित धारणा का प्रतीक बनकर व्यक्त हुआ। 'चित्रलेखा' के ऐतिहासिक आवरण को हटाकर नैतिक समस्या अपने असली रूप में प्रस्तुत हुई। मनुष्य के संस्कार, मोह, चेतन, उपचेतन स्तरों के विभिन्न आक्रोश, आरोह-अवरोह, नये संदर्भों में मानवीय संवेदनाओं का मूल्य, नैतिक मानदण्ड की नई मर्यादा, साथ-ही-साथ वर्तमान विकृतियाँ, राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी तत्कालीन भावनाएँ इन सबकी समवेत अभिव्यक्ति ने जीवन को झिंझोड़-सा दिया और यही 'शेखर : एक जीवनी' की सबसे बड़ी सफलता थी।

'संन्यासी' : जीवन की विकृतियाँ

'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ-साथ इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' का प्रकाशन उन सभी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और आदमी की मनःचेतना की पर्तों में खोई उसकी वास्तविक असहायता और विवशता का एक सफल चित्रण है। इस उपन्यास के दो प्रभाव हिन्दी-उपन्यास पर पड़े : पहला तो यह कि कुछ उपन्यास इस शिल्प के आधार पर भी लिखे गये जो सफल नहीं हो सके। दूसरे यह कि इस उपन्यास में व्यक्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों की सार्थकता का प्रभाव उपन्यासों की शैली पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में व्यय हुआ। मानव-जीवन-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थियों की ओर सहज ही ध्यान आकृष्ट होने लगा।

इन मनोविज्ञान-प्रधान प्रवृत्तियों में जैनेन्द्र का भी विशेष महत्त्व है, लेकिन जैनेन्द्र में इतनी जटिलता और नैतिक-अनैतिक की परम्परागत रूढ़िग्राहिता है कि वे स्पष्टता की कमी होने के कारण प्रभावशाली नहीं हो पाते।

सारांश में जिस नैतिक मूल्य का प्रश्न 'चित्रलेखा' में उठाया गया था, उसकी चरम परिणति 'शेखरः एक जीवनी' में, जहाँ तक मनोवैज्ञानिक स्तरों का प्रश्न है, उसकी पुष्टि इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों द्वारा हुई। इस बौद्धिक विकास के अन्वेषण और विश्लेषण के

महत्त्वपूर्ण क्षणों में कई और नये धरातल भी अपने-आप उभर रहे थे। मनुष्य के मानवीय पक्षों का यथार्थ की भौतिक क्रूरता का, वेदनापूर्ण परिचय उस मानवीय दुःख और असंगति (Human tragedy) के सन्दर्भ में व्यक्त होने लगा जो बहुत-कुछ वैज्ञानिक जड़ता, मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता और वैयक्तिक ग्रन्थियों से सम्बन्ध रखते थे। इन नये स्तरों पर आकर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण के माध्यम से, आरोपित सामाजिक आदर्शों की अपेक्षा वैयक्तिक मर्यादाएँ अनिवार्यताएँ और नैतिक मूल्यों का विस्फोट-सा होने लगा। समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखने की अपेक्षा समस्त चेतना-सूत्र का संचालन व्यक्ति में प्रतिष्ठित हो गया। कई विकृतियाँ भी विकसित हुईं जैसे यौन-सम्बन्धी कथाओं से सारा क्षेत्र भर गया, एक ओर अतिवादी सामाजिक यथार्थवाद अपनी संस्कारहीन अमर्यादित सीमाएँ निर्धारित करने लगा। लेकिन इन सब विकृतियों के अतिरिक्त भी जिस नये धरातल का उभार प्रेमचन्दोत्तर-काल में हुआ वह कई जीवन्त-प्रवृत्तियों के सशक्त तत्वों को व्यक्त करने में सफल हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये धरातल के समक्ष कोई विशेष महत्त्वपूर्ण आन्दोलन नहीं था वरन् यह स्वतः प्रेमचन्द की परम्परा से विकसित होकर प्रतिष्ठित हुआ है। इस नये धरातल के तत्त्व हैं—

(१) सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं से मानव-जीवन की व्याख्या—भावनाओं का मर्मान्तक विकास, जिसे हम अक्सर (tragedy of human emotions) भी कहते हैं।

(२) मानव-जीवन के अन्तर और बाह्य जगत् के संघर्ष का अध्ययन।

(३) जीवन के नये मानदण्डों के आधार पर सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं का संघर्ष।

(४) नई नैतिक आस्था का अन्वेषण और नये मूल्यों की स्थापना में मानव-जीवन की करुणाजनक स्थिति और उससे व्याप्त तिक्तता का जीवन पर प्रभाव!

इन तत्वों का विकास स्वयम् प्रेमचन्द के जीवन-काल ही में हो रहा था। इसके भी कई कारण थे। जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की भूमि पर हिन्दी-उपन्यासों का विकास प्रेमचन्द-युग में हुआ था वह सतही थी और अधिक दिन टिक नहीं सकती थी। आदर्शोन्मुख यथार्थ की परिणति क्रमशः बौद्धिक जागरूकता और मानवीय चिन्तन के आधार पर नये मोड़ों की ओर जाने में विवश थी। अनुभूतियाँ केवल एक परिधि में बाँधी नहीं जा सकतीं, इसलिए जिज्ञासाओं का नया स्तर और उनकी नई दिशाएँ विकसित होनी अनिवार्य थीं।

दूसरा कारण जो इस बौद्धिक जागरूकता की आत्मा है वह है उन नये मन्तव्यों की स्थापना, जो कालगत विषमताओं, दुविधाओं और संकीर्णताओं के विरोध में नये अर्थों को प्रतिष्ठित करने में गतिशील है। एक ओर सामूहिक चेतना (totalitarianism) की आतंक जन्य स्थिति और दूसरी ओर वैयक्तिक अस्तित्व का सक्रिय विरोध—इन दोनों की नैतिक गहनता और उसकी अनिवार्यता भी उपयुक्त तत्वों को विकसित करने में सहायक रहे हैं।

मार्क्स और फ्रायड के विचार भी हमारी चेतना को नये मोड़ दे रहे थे। एक ओर मार्क्सवादी रूढ़ियाँ थीं जो दवा और काल की उपेक्षा करके कुछ तथाकथित ऐतिहासिक सत्यों को ही सब-कुछ मान चुकी थीं। उन ऐतिहासिक सत्यों की पीठिका में सम्भावित मानव-अनुभूतियों के बृहत् इतिहास की अवहेलना करके उनकी विचार-धारा की एकांगिता हमारे साहित्य में उपस्थित हो रही थी। दूसरी ओर यही विकृत प्रभाव फ्रायड का भी पड़ा था। मनुष्य बड़ा है या उसकी

मनोग्रन्थियाँ—यह भी एक प्रश्न था जो सम्पूर्ण शक्ति से प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में व्यक्त हुआ है। इन स्थितियों में जो विभिन्न प्रवृत्तियाँ उपन्यास-क्षेत्र में विकसित हुईं, वे इस प्रकार हैं—

प्रथम वृत्ति

(१) नये नैतिक मूल्यों को स्थापित करने की सशक्त अन्वेषणात्मक प्रवृत्तिय उत्तरोत्तर विकसित हो रही थीं। वे नैतिक मूल्य, जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक चेतना और वैयक्तिक मर्यादा के आधार पर विकसित हुए थे, पर्याप्त नहीं थे। उनके अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में नये नैतिक मूल्यों की आवश्यकता थी। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' इसकी सफल प्रतीक है।

(२) मनोवैज्ञानिक रूपान्तरों में वस्तुपरक माध्यम से मन और अन्तरमन के चेतन और उपचेतन स्तरों की क्रियाशील, ग्रन्थिपूर्ण अनिवार्यता भी उपन्यास-शिल्प का अंग बन चुकी थी। मनोविश्लेषण की वास्तविकता और घटनाओं की अनिवार्यता कथा-साहित्य के विषय-वस्तु बन चुके थे। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में यह तत्व प्रतिपालित होता है। जहाँ इन लोगों में इतनी बड़ी आधुनिकता थी वहाँ यह भी स्पष्ट है कि ये लोग नये नैतिक मूल्यों को नये सन्दर्भों में सन्तुलित करने में असमर्थ भी थे। नये स्वप्नों और नैतिक स्थापनाओं के साथ-साथ मनोविश्लेषणात्मक विवेचना में पात्रों की असफलता, घटनाओं की कृत्रिमता इनके उपन्यासों में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

(३) इन प्रवृत्तियों की अपेक्षा बंगला-साहित्य और उसके शिल्प और विधान का प्रभाव हिन्दी-उपन्यासों पर अपनी अलग छाप डाल चुका था। शरच्चन्द्र से प्रभावित होकर हिन्दी-उपन्यास की एक नई दिशा निर्मित हो चुकी थी। यद्यपि यह प्रभाव स्थायी नहीं था लेकिन इसका महत्त्व केवल इतना अवश्य था कि इस बीच कुछ साधारण उपन्यास रोमानी भावभूमि पर विशेष प्रकार के नारी-पात्रों को लेकर लिखे गए, जिनमें भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अंचल के कुछ उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रवृत्ति अधिक सशक्त नहीं हो सकी।

द्वितीय वृत्ति

इस द्वितीय वृत्ति की विशेषता मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और शिल्प-विधान के दृष्टिकोण से भिन्न थी। वे दुविधाएँ और अस्पष्ट मूल्यगत भ्रान्तियाँ, जो जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में केवल धुँधले, तथा संदिग्ध रूप में प्रस्तुत होकर रह गई थी उनका सर्वथा नये धरातल पर विकास हुआ। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' का इस वृत्त में बहुत बड़ा महत्त्व है। इस वृत्त की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) वह बौद्धिक जागरूकता को, जो केवल तत्त्व अन्वेषण के रूप में व्यक्त हुई थी, मानवीय संवेदनशील स्तर की सार्थकता प्राप्त हो गई। फलस्वरूप मानव-जीवन की वेदनानुभूति में निहित एकता (fraternity of pain) के आस्थामय स्वरों का परिष्कार हुआ। समतल जीवन के साथ-साथ वे स्थितियाँ, जो केवल ग्रन्थि बनकर जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में व्यक्त हुई थीं, उनमें सजीवता, मानव-अनुभूति की असंगति, उसकी दुःखान्तपूर्ण स्थिति

उसके अहम् का स्फोटात्मक (dynamic) गुरुत्व भी प्राप्त हो गया। विस्थापित भावनाओं (displaced emotions) और आन्तरिक संघर्षों के साथ-साथ नये मूल्यों की स्थापनाएँ और नये सामाजिक चेतना के स्तर भी उभरकर प्रस्तुत हुए। डॉ० देवराज का 'पथ की खोज' और उपेन्द्रनाथ अश्क का 'गिरती दीवारें' इसी पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

(२) इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सामाजिक यथार्थ के संघर्ष में जो महत्त्वपूर्ण विकास उपन्यास के माध्यम से स्पष्ट होकर आया उससे व्यक्ति की प्रतिष्ठा का स्वर सबल तथा प्रौढ़ रूप में उभरा और उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा भी हो सकी। 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर, 'पथ की खोज' का चन्द्रनाथ, 'गिरती दीवारें' का चेतन इस दृष्टि से औपन्यासिक पात्रों के विकास के स्पष्ट प्रतीक हैं। आगे चलकर अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में भुवन और रेखा के व्यक्तित्व वैयक्तिक जीवन की चरम परिणति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं जिनकी नैतिक और मूल्यगत स्थितियों के बारे में चाहे जितनी सम्मतियाँ हों फिर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि उनसे अधिक आधुनिक पात्रों की रचना इधर के उपन्यासों में नहीं हुई है।

(३) बाह्य जगत् और अन्तर्मन के बीच उपन्यासकार नहीं है, वरन् उन दोनों की स्थितियों में अनुभूति का झीना सूत्र है, जो वास्तव में दोनों स्थितियों के द्वन्द्वात्मक संघर्षों को सहन करता है और उसे सहन करने में वह उन स्थितियों को झेलता है, जो क्षण-प्रति-क्षण घटित होती है। इस भावना की सार्थकता इस वर्ग के लेखकों में अज्ञेय ही निभा पाए हैं। यद्यपि यह विषय सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है फिर भी वस्तुपरक-आत्मानुभूति (subjective objectivity) के प्रगीतात्मक अनुभूति-प्रधान तत्त्वों का उभार इन कृतियों में सबल और सशक्त रूप से हुआ है।

तृतीय वृत्ति : समाज, यथार्थवाद और समस्या-मूलक उपन्यास

सामाजिक यथार्थवाद के अंकुर प्रेमचन्द के जीवन-काल ही में प्रस्फुटित एवं विकसित हो रहे थे। स्वयं इसका प्रभाव 'गोदान' में भी मर्यादित रूप में व्यक्त हुआ है, किन्तु प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासों में इसकी विकृत प्रवृत्तियाँ भी बड़े सशक्त रूप से दृढ़ता एवं संकल्प के साथ प्रतिष्ठित हुई। पात्रों की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति पर पंक्तिबद्ध लेखक का मन्तव्य इतना प्रबल था कि उसके सम्मुख कथानक का ह्रास, वैयक्तिक मर्यादा का उल्लंघन; अस्वाभाविक सत्यों का प्रतिपादन; आवश्यक-अनावश्यक रूप से भौति-द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों का आरोपण, अरुचिपूर्ण प्रवृत्तियों असंस्कारी अवैज्ञानिक तथ्य अधिक उतर आए। इनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) हिन्दी-उपन्यासों में वास्तविक सामाजिक यथार्थवाद की अपेक्षा भ्रमपूर्ण यथार्थवाद (Pseudo Realism) चित्रित हुआ है। यह यथार्थवाद हमारे संस्कारगत जीवन के विपक्ष में उन तत्त्वों पर सारी कथा-वस्तु आधारित करता है जिसमें लक्ष्यबद्ध पात्र केवल वर्ग-संघर्ष को चित्रित करने के लिए खड़े किये जाते हैं। अपवाद वहाँ उपस्थित होता है जहाँ वह न तो सिद्धान्त की पुष्टि कर पाते हैं और न उस व्यक्त जीवन का निर्वाह ही कर पाते हैं। नागार्जुन और यशपाल के उपन्यासों में इसका सफल चित्रण मिलता है। यशपाल में यह खण्डित सत्य साम्यवादी पार्टी के आधार पर विकसित हुई प्रेरणा के रूप में व्यक्त हुई है, जिसे न तो साम्यवादी पार्टी ही स्वीकार करती है और न संस्कारगत स्थिति ही। अमृतराय का 'बीज'

भी अपरिपक्व सामाजिक यथार्थवाद का खण्डित सत्य चित्रित करता है।

कथानक का ह्रास, शिल्प की अल्पज्ञता इत्यादि स्पष्ट रूप से उभरने लगे। मनोवैज्ञानिक तथ्यों की स्वाभाविकता की अवहेलना के साथ जिस सामाजिक यथार्थवाद की परिणति हिन्दी-उपन्यासों में हुई वह संस्कार-हीन थी, उन तथ्यों को स्वीकार नहीं करता था जो भारतीय जीवन के साथ सम्बद्ध है। इसका बड़ा विचित्र प्रमाण हमें राहुल सांकृत्यायन की दो पुस्तकों में मिलता है—पहली पुस्तक तो 'बाईसवीं सदी' है और दूसरी पुस्तक उनकी कहानियों का संग्रह 'वोल्गा से गंगा' है। प्रथम पुस्तक में एक कल्पना-लोक (Utopia) का भ्रामक दर्शन है, दूसरी पुस्तक में ऐतिहासिक भौतिक द्वन्द्ववाद के आधार पर कुछ ऐसी मनगढ़न्त कल्पनाएँ हैं जिन्हें न तो भौतिक द्वन्द्ववाद ही स्वीकार कर सकता है और न उन देशों की सांस्कृतिक चेतना जिनकी कहानियाँ उसमें लिखी गई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक यथार्थवाद की यह परिणति अपने समय की सबसे बड़ी विडम्बना थी। कहानी अथवा कथा का मूल्य कुछ नहीं था, मानवीय संवेदनाओं का मूल्य कुछ नहीं था—उन लेखकों के सामने सत्य केवल वह था जो भौतिक द्वन्द्ववाद कहता था अथवा साम्यवादी पार्टी की नीति कहती थी।

चतुर्थ वृत्ति : मर्यादित यथार्थवाद : मानवीय अनुभूतियों में विश्वास और शिल्पगत प्रयोग

किन्तु इन अतिवादों से बचकर कुछ ऐसे धरातल विकसित हो रहे थे जिनमें सन्तुलन और संवेदनीयता दोनों ही सत्य थे और जिनका आभास नागार्जुन तथा कुछ अन्य साम्यवादी लेखकों की नई कृतियों में भी मिलता है। सामाजिक यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक विश्लेषणवाद और वैयक्तिक अनुभूति तीनों स्वस्थ पक्षों को लेकर कुछ नये कथा-प्रयोगों की परम्परा भी स्थापित की जाने लगी। इन नई कृतियों का मुख्य प्रतिपाद्य मध्यवर्गीय जीवन की विषमताएँ और उन विषमताओं में प्रताड़ित जीवन का व्यंग्य था, जिसे इस वर्ग के लेखक स्वयं झेल रहे थे। युद्धोत्तर-काल के ये लेखक उन भ्रान्तियों से मुक्त हैं जो प्रेमचन्दोत्तर-काल के बहुत-से लेखकों में व्याप्त हैं।

इस दिशा में डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, राजेन्द्र यादव, प्रभाकर माचवे और गिरधर गोपाल उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' कई अंशों में आधुनिक उपन्यास-शैली के शिल्प-विधान और कथानक के नये उभरते हुए मूल्यों और मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। उपन्यास के कई पात्रों में सशक्त व्यक्तित्व है। इसके अतिरिक्त उनमें वे स्तर भी हैं जो परम्परागत उपन्यासों की सार्थकता और उनमें व्यक्त शैलियों को स्वीकार करते हुए नये पथ और नई दिशा की ओर इंगित करते हैं।

डॉक्टर लक्ष्मीनारायणलाल का उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' भारतीय ग्रामीण-वर्ग और मध्यवर्ग की विषमताओं का सफल परिचय देता है। यद्यपि लक्ष्मीनारायण लाल ने शैली के क्षेत्र में बहुत-कुछ प्रेमचन्द की परम्परा अपनाई है, किन्तु विषय-वस्तु में नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन सफलतापूर्वक किया गया है।

प्रभाकर माचवे का लघु उपन्यास 'परन्तु' कथावस्तु और पात्रों के चरित्र-चित्रण में 'मिथ्या सामाजिक यथार्थवाद' की मान्यताओं से प्रभावित है, फिर भी उसमें शिल्पगत नवीनता अवश्य है। विषय-वस्तु, कथानक और निर्वाह में उपन्यास में बहुत-कुछ अधकच्चरापन है, लेकिन

उससे यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि हिन्दी-उपन्यास ने नवीन धरातल की सार्थकता स्वीकार की है, क्योंकि प्रभाकर माचवे की शिल्प-योजना में पूर्व शिल्प की कृत्रिमता और विषय-वस्तु की जीर्णता दोनों की झलक मिल जाती है।

गिरधर गोपाल, जिनका नवीनतम उपन्यास 'चाँदनी के खण्डहर' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है, मध्यवर्गीय जीवन की विशृंखल आस्था का पूर्ण-परिचायक है। यथार्थ-जीवन का सच्चा चित्रण, आर्थिक संकट से आक्रान्त मध्यवर्गीय जीवन की घुटन, आदर्शों का खण्डन, परम्पराओं के पञ्जे में जकड़ी हुई मानवीय चेतना का तर्क और बौद्धिक आयामों से संघर्ष इत्यादि इस उपन्यास में सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है।

ठीक इसी परम्परा में राजेन्द्र यादव का नवीनतम उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' भी आता है। इस उपन्यास में भी वही मध्यवर्गीय जीवन, उसकी कुण्ठाएँ और उन कुण्ठाओं की पृष्ठ-भूमि में परम्पराओं का विकृत रूप बड़ी सतर्कता से चित्रित किया गया है। शिल्पगत प्रयोग में गठन तथा उसका निर्वाह भी प्रशंसनीय है। यद्यपि उसमें प्रौढ़ता नहीं है; बहुत-कुछ किशोर-भावनाओं की अभिव्यक्ति-मात्र है, लेकिन फिर भी कथा-सूत्र में सजीवता और सक्रियता दोनों का यथेष्ट सम्मिश्रण है।

इस चतुर्थ वृत्ति की विशेष प्रवृत्तियाँ, जो इधर के उपन्यासों में बड़ी तेजी से आती प्रतीत हो रही हैं, इस प्रकार हैं—

(१) मानवीय संवेदनाओं (Human Feelings) के प्रति इस वृत्ति के लेखक अधिक जागरूक हैं। उनकी निष्ठा वाद-विवादों की अपेक्षा उन मूलभूत मानवीय तत्त्वों में अधिक है जो जीवन की निरपेक्ष अनुभूतियों से सम्बद्ध है। यही कारण है कि इस वृत्ति के लेखकों में अनास्था और विक्षिप्तता की अपेक्षा परिस्थितियों को झेलने में, वेदना को स्वीकार करके नये मूल्यों को स्थापित करने में अधिक आस्था है।

(२) मर्यादित यथार्थ की सार्थकता में विश्वास इस वर्ग की चौथी विशेषता है। यथार्थ-वाद की विकृत प्रवृत्तियाँ इसके लिए अधिक मूल्यवान नहीं हैं।

(३) जीवन के नये आयामों और मूल्यों में आस्था के साथ-साथ आधुनिकता को स्वीकृति भी इस वर्ग के लेखकों की विकासशील प्रवृत्ति का परिचय देती है।

(४) यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि युद्धोत्तर उपन्यासों के क्रमिक विकास में शिल्प-नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया जा रहा है और परम्परागत रूप-विधान की असमर्थता को हटाने की चेष्टा की जा रही है। इस दृष्टिकोण से डॉक्टर धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं', प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' और गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' उन नये शिल्प-प्रयोगों का परिचय कराते हैं जो नई अभिव्यक्ति को विकसित करते हैं।

इस प्रकार आज की आधुनिकतम प्रवृत्ति में जो भी नये हस्ताक्षर आज आ रहे हैं उनका अपना पथ है और उनकी अपनी शिल्पगत धारणाएँ हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में हिन्दी एक नया मोड़ ले रही है या शायद ले चुकी है—जो अभी उतना परिपक्व न हो, पर जिसकी सम्भावनाएँ अपरिमित हैं।

विश्वम्भर 'मानव'

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास—१

: १ :

शेखर : एक जीवनी

'शेखर : एक जीवनी' मृत्यु की छाया में लिखी गई एक महान् कृति है। यों यह अकेली प्रेरणा ही उपन्यास की घटनाओं में बल, तीव्रता, गहराई, गति और विवरण की सूक्ष्मता लाने के लिए पर्याप्त थी। पर यहाँ यह सृजन की वास्तविक प्रेरणा मृत्यु का भय नहीं, जीवन का प्रेम है—व्यक्तिगत और व्यापक जीवन का प्रेम। व्यक्ति के जीवन को विश्व के जीवन का अंग मानकर उसकी सार्थकता और सिद्धि को परखने के प्रयत्न में जिस दुर्गम पथ से लेखक गया है वह सृजन की अमिट लकीर बन गया है।

इस कृति का मुख्य पात्र शेखर है। जीवन की समस्त घटनाएँ उसीके चारों ओर घूमती हैं या यह कहना चाहिए कि बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के बीच से उसका दुर्निवार जीवन अपना पथ बनाने का प्रयत्न कर रहा है। जन्म से लेकर मृत्यु के द्वार तक फैले इस विस्तृत पथ का विवरण ही इस उपन्यास का विषय है। दो तटों के बीच बहने वाली जीवन-सरिता का यह पाट चौड़ा भी है, उसकी धारा विस्तीर्ण भी; उसमें उठने वाली लहरियाँ रंगमयी और क्षुब्ध-विकल भी, तटों के दृश्य मोहक, ऊबड़-खाबड़ और सुनसान भी। एक विशाल नदी से इसके कथानक की तुलना एक और दृष्टिकोण से भी की जा सकती है। प्रारम्भ में पहाड़ से निकलने वाली नदी की धारा बड़ी क्षीण होती है। जल के छोटे-छोटे सोते उसमें आकर इधर-उधर से मिलते हैं और तब कहीं कुछ दूरी पर जाकर वह पृथुल होती और हल्का वेग धारण करती है। इसी प्रकार इसके प्रारम्भिक भाग में शेखर के बाल्य-काल की बहुत-सी घटनाओं का रस लेखक ने इसमें एकत्र किया है। वहाँ पाठक को लग सकता है कि उपन्यास आगे नहीं बढ़ रहा है—यद्यपि ऐसा है नहीं। एक तो जिस मानसिक स्थिति में इसका नायक है उसमें जीवन की एक-एक घटना अत्यन्त स्पष्टता से आँखों के सामने आती है, दूसरे जो घटनाएँ चुनी गई हैं वे सभी किसी-न-किसी रूप में व्यक्तित्व-निर्माण में सहायक हुई हैं, अतः ये जल के छोटे-छोटे झरने हैं जो किसी धारा को नदी का रूप देते हैं। पर आगे चलकर जहाँ वयःसन्धि-काल में शेखर की शारदा से भेंट होती है, वहाँ से कथा का सूत्र आगे को ही बढ़ता चला गया है। 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है; अतः जल्दी में, लापरवाही या पूर्वग्रह के साथ पढ़ी जायगी, तो इसके सम्बन्ध में निर्णय लेने में भूल हो सकती है। हिन्दी के प्रायः सभी उपन्यासों का प्रारम्भ यौवन-काल से होता है, जहाँ व्यक्ति का स्वभाव बन चुका होता है। इसमें बचपन से ही व्यक्तित्व के निर्माण और विकास पर लेखक की दृष्टि है; अतः कहानी के कहने के ढंग में कुछ तो

अन्तर होगा ही। इस अन्तर को न समझकर ही गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'शेखर : एक जीवनी' के कथानक को उखड़ा-पुखड़ा, बिखरा-बिखरा, असम्बद्ध और विशृंखलित बतलाया है।

उपन्यास में एक व्यक्ति का जीवन अवश्य चित्रित है, पर उसके भाव, विचार और कर्म का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें उसका युग और देश खिंच आए हैं। शेखर व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से देश की ओर बढ़ा है और अपने चिन्तन में तो वह इन सबसे बढ़कर देशकालातीत हो गया है। कथानक की दृष्टि से इस उपन्यास की महत्ता इस बात में भी निहित है कि लेखक ने नायक के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को चुना है जिसके जीवन में प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण घटनाओं की कमी नहीं रही। व्यक्तिगत घटनाओं के आधार पर धर्म और समाज के प्रति प्रतिक्रिया तो सभी के मन में उत्पन्न होती है और अपनी सामर्थ्य-भर छोटे-मोटे सामाजिक संगठनों में भाग लेकर प्रत्येक सजग प्राणी थोड़ा-बहुत सुधार करने का प्रयत्न करता है और शेखर ने भी सुधार की योजनाओं में भाग लेकर अपने को समाज का सार्थक अंग सिद्ध किया है; पर इन छोटे-मोटे प्रयत्नों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उसके देश की स्वाधीनता के स्वप्न को सत्य में परिणत करने वाली कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन और क्रान्तिकारियों के उग्र आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना। सन् '३० के आस-पास जब कांग्रेस और क्रान्तिकारी आन्दोलन दोनों विदेशी अत्याचार का सामना कर रहे थे, तब शेखर इन दोनों में कूदता है। जीवन में जेल-जीवन का जो अनुभव उसे प्राप्त हुआ है वह कांग्रेस-आन्दोलन में भाग लेने के कारण ही। वहाँ से छूटने पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने आकर खड़ी हो जाती हैं कि उसका क्रान्तिकारियों के दल से सम्पर्क स्थापित होता है। एक ही व्यक्ति का अपने युग के इन दो महान् आन्दोलनों में भाग लेना अपने में कम छोटी घटना नहीं है। शेखर का जीवन प्रारम्भ से ही घर से लेकर देश तक से सम्बद्ध रहा है। ऐसी दशा में यह बात समझ में नहीं आती कि किस आधार पर शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामेश्वर शर्मा और कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा आदि प्रगतिवादी आलोचकों ने उसे 'असामाजिक प्राणी' घोषित किया है। सब-कुछ होने पर भी शायद वह 'कम्युनिस्ट' नहीं है, इसलिए?

एक स्थान पर मानव-जीवन का अनुशासन करने वाली तीन वृत्तियाँ लेखक ने मानी हैं। वे हैं—अहं, भय और काम। आगे चलकर उसने शेखर के बाल्य-काल से तीनों के उदाहरण दिये हैं। यदि आप ध्यान से देखें तो इन तीनों वृत्तियों पर अधिकार पाने का शेखर प्रयत्न कर रहा है। भय तो एकदम उसके जीवन से एक दिन निकल ही गया, काम-भावना भी धीरे-धीरे प्रेम में बदल गई है। आलोचकों ने उपन्यासकार की प्रेम-भावना पर हल्का-सा आक्षेप कहीं-कहीं किया है। इसकी परीक्षा आगे चलकर हम करेंगे। पर 'शेखर : एक जीवनी' में समीक्षकों को जो एक बहुत बड़ा दोष दृष्टिगत हुआ है वह है उसका अहम्। बहुतों ने उसे अहंवादी कहा है। नगेन्द्र उसे 'भयंकर', इलाचन्द्र जोशी 'घोर' और प्रभाकर माचवे 'उद्धत' अहंवादी बतलाते हैं। पूछना यह है कि क्या व्यक्ति के मन की यह मूल वृत्ति शेखर में अपने मूल रूप में बनी रहती है? क्या साधारण पाठक को शेखर कोरा अहंवादी लगता है? हमारी धारणा है—नहीं। यह अहं की भावना भी आत्म-विश्वास में परिणत हुई है। शेखर का ईश्वर में विश्वास चाहे डिग गया हो, अपने में बना हुआ है और आत्म-विश्वास वह चिनगारी है जिसके बुझने पर मनुष्य राख के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। अहंकारी और आत्म-विश्वासी में उतना ही अन्तर है जितना खोखली और ठोस वस्तु में। शेखर के व्यक्तित्व में खोखलापन कहीं नहीं दिखाई देता।

वह एकदम ठोस है। शेखर के इस ठोस व्यक्तित्व के पारस को छूकर भय, काम और अहं की ये वृत्तियाँ निर्भयता, प्रेम और आत्म-विश्वास में बदल जाती हैं। बदलना इन्हें इसलिए है कि ये तीनों ही एक अन्य महान् भावना की अंग बन सकें। वह भावना है विद्रोह की। आलोचकों को जिस भावना पर जोर देना था, वह यही भावना थी। पर मूल बात को भुलाकर एक जन्म-जात विद्रोही को छोटा सिद्ध करने के लिए उन्होंने उसे अहंवादी कहना प्रारम्भ कर दिया।

कुछ बच्चे होते हैं जो किसी एक दिशा में असाधारण निकलते हैं। उस दिशा में उन्नति करके वे विशिष्ट व्यक्ति बन जाते हैं। जीवन की अन्य दिशाओं में वे सामान्य ही रहते हैं। शेखर तथा अन्य असाधारण बालकों में यह अन्तर है कि शेखर सभी दिशाओं में असाधारण है। उसकी इस असाधारणता को चमकाने वाला है उसका विद्रोही स्वभाव, जो बचपन से ही उसमें बना हुआ है और जीवन के अन्त तक बना रहता है। शेखर अनन्त जिज्ञासा से पूर्ण है। यह जिज्ञासा जीवन और जगत् को ठीक से जानने की जिज्ञासा है। जहाँ उसे वस्तु का ठीक ज्ञान हो जाता है, वहाँ वह कुछ नहीं कहता, पर जहाँ उसे कुछ-का-कुछ बताया जाता है, वहीं वह बिगड़ उठता है और चाहे उसे कुछ भी करना पड़े, वस्तु का ठीक ज्ञान प्राप्त करके ही वह साँस लेता है। पर क्या उसे सचमुच सब-कुछ जानना चाहिए, सब-कुछ पढ़ना चाहिए, सब-कुछ कहना चाहिए ? कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनसे उस अवस्था में उसे परिचित नहीं होना चाहिए, जैसे इस बात की खुली जानकारी कि माँ से बच्चे कैसे पैदा होते हैं ? कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो उसे नहीं पढ़नी चाहिएँ, जैसे वह सारा सस्ता और अश्लील साहित्य, जो उससे छिपाकर रखा गया है। कुछ ऐसी बातें हैं जो उसे नहीं कहनी चाहिएँ, जैसे किसी मास्टर को गधा या उल्लू कहना। इन बातों पर कई दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टिकोण स्वयं बच्चों का है। बच्चों के दृष्टिकोण से यह सब-कुछ बहुत स्वाभाविक है। आँखों के सामने कोई घटना खड़ी हो जाय तो वे ऐसी बातें जानना चाहते हैं, ऐसी पुस्तकें हाथ पड़ जायँ तो वे उन्हें पढ़ना चाहते हैं और अध्यापकों के साथ भी कभी-कभी भद्दा, अशोभन, अशिष्ट व्यवहार कर जाते हैं। एक दूसरा दृष्टिकोण है माता-पिता का। माता-पिता बच्चे की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ही उसे बहुत-सी ऐसी बातों की असमय जानकारी, बहुत-से ऐसे ग्रन्थों के अध्ययन, बहुत-से ऐसे अनुचित व्यवहारों से रोकते हैं जिनका प्रभाव उसके आचरण पर अच्छा नहीं पड़ेगा। एक तीसरा दृष्टिकोण है लेखक का। उसके सामने एक ओर यथार्थ-जीवन को चित्रित करने, दूसरी ओर उपन्यास के बाल-नायक के प्रति सहानुभूति तथा तीसरी ओर पाठकों के प्रति अपने उत्तर-दायित्व का प्रश्न भी है। चौथा दृष्टिकोण है पाठक का, जो अपनी ग्राहिका-शक्ति, अपनी विद्या-बुद्धि एवं अपने संस्कारों के अनुसार वर्णन से प्रभावित या अप्रभावित होता है। पाँचवाँ दृष्टिकोण है आलोचक का जो एक निष्पक्ष मध्यस्थ के रूप में पाठक और लेखक के बीच चलने वाले पारस्परिक आदान-प्रदान के व्यापार का साक्षी है। शेखर के जीवन से जो घटनाएँ चुनी गई हैं उनमें से कुछ का समर्थन तो नहीं ही किया जा सकता, पर अधिकतर घटनाएँ ऐसी ही हैं जो पाठक के हृदय पर यह प्रभाव छोड़ती हैं कि माँ-बाप को बच्चे की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और उसके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उसके कोमल हृदय पर आघात पहुँचे। बच्चों के हृदय में आदर और घृणा दोनों की भावनाएँ जगाना माता-पिता के हाथ में ही है, अतः उनके सामने भूलकर भी ऐसा व्यवहार नहीं करना

चाहिए जिससे बच्चों का मन घृणा या विरक्ति से भर उठे। बच्चे को पहली शिक्षा घर से ही मिलती है, अत: वहाँ का वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे उसका स्वतन्त्र अनवरुद्ध विकास हो सके। शेखर के स्कूल-जीवन का जैसा परिचय दिया गया है उसे पढ़कर भी यही प्रतिक्रिया जागती है कि प्रारम्भिक शिक्षा-पद्धति में भीतर-भीतर कहीं गहरा दोष है। इन दोनों ही दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि शेखर के बचपन की विद्रोह-भावना सफल हुई है।

: २ :

आधुनिक युग में प्रेम का जीवन बहुत जटिल हो गया है। अब लैला-मजनूँ और शीरीं-फरहाद कम ही पैदा होते हैं। कोई कुछ भी कहे, पर सच बात यह है कि प्रत्येक आकर्षक नारी के जीवन में दो-चार व्यक्ति और प्रत्येक सहृदय पुरुष के जीवन में चार-छः नारियाँ आती हैं। जीवन में कौन ठहरता है, कौन चला जाता है, यह परिस्थितियों और आकर्षण की गहराई पर निर्भर करता है। अपने जीवन में शेखर कई लड़कियों के सम्पर्क में आता है और प्रत्येक सम्पर्क उसे एक नया अनुभव दे जाता है। पता नहीं उसका जन्म किस नक्षत्र में हुआ है कि जिस नारी की ओर भी उसने थोड़े खिंचाव का अनुभव किया है, उसका नाम 'श' से प्रारम्भ होता है। शीला, शान्ति, शारदा और शशि ऐसे ही नाम हैं। शीला के लिए उसके मन में एक प्रकार की कोमलता ही उत्पन्न होती है और वह भी बहुत आगे चलकर। शांति के लिए कोमलता के साथ थोड़ी वेदना भी है, लेकिन जिस करुण स्थिति में शांति से भेंट हुई है उसमें बात आगे बढ़ ही नहीं सकती। शारदा के लिए उसने प्रयत्न भी किया है और वह आकर्षित, दुखी और क्षुब्ध भी कम नहीं रहा है। यह वैसा ही आकर्षण है जैसा वयःसन्धि-काल सभी कहीं उत्पन्न हो जाता है। लोगों का कहना है कि अपने पहले प्यार को कोई भुला नहीं पाता, लेकिन इसके उपरान्त भी जीवन में एक ऐसा बड़ा प्यार आ सकता है जो सब-कुछ भुला दे। शेखर के लिए शशि का प्यार ऐसा ही है।

शेखर और शशि के सम्बन्ध की समस्या केवल प्रेम की समस्या ही नहीं है, वह एक सामाजिक समस्या भी है। इस सम्बन्ध में कई बातें स्पष्ट करने की हैं। डॉक्टर नगेन्द्र ने शशि के प्रति शेखर के भाव को, 'बहन के प्रति रति' कहकर भी इसका बचाव प्रेमी के हृदय में 'सतोगुण' ढूँढकर करना चाहा है। लेकिन इस खोज से पाठक को सन्तोष नहीं होता। सच बात यह है कि यह सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिका का ही है और शशि के अधर पर अंकित शेखर के चुम्बन अपनी प्रेमिका के अधर पर अंकित किये हुए एक प्रेमी के चुम्बन हैं। संख्या में वे थोड़े ही हैं, पर जब भी आए हैं शेखर के हृदय से उमड़कर आए हैं। प्रेम के क्षेत्र में चुम्बन न सात्विक होता है और न असात्विक, वह केवल चुम्बन होता है। यह ठीक है कि शशि ने शेखर को भाई कहा है और शेखर ने शशि को बहन। लेकिन लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यावती उसकी सगी मौसी नहीं है और शशि उसकी सगी बहन नहीं है। इसलिए इस दोष का मार्जन, जिससे हिन्दू-हृदय शंकाकुल रहता है, बहुत-कुछ हो जाता है। पति से सम्बन्ध टूट जाने पर तो एक स्थान पर शशि ने यहाँ तक समझाया है कि "शेखर, तुम मुझे बहन, माँ, भाई, बेटा कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब—कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ।" और सच पूछिए तो प्रेम की जहाँ गहरी-से-गहरी अनुभूति हो सकती है वह यही मानसिक स्थिति है।

लेकिन इस प्रसंग से सम्बन्धित दूसरा गम्भीर प्रश्न भी है और वह यह कि शशि एक व्यक्ति की पत्नी है। अपने पति के जीवित रहते हुए क्या उसे या दूसरे व्यक्ति को जिससे यह तथ्य छिपा नहीं है यह अधिकार है कि प्रेम करे ? यदि दोनों वर्तमान सामाजिक नियमों की अवहेलना करके ऐसा करते हैं तो सामान्य पाठक पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? पर यहाँ स्थिति दूसरी है। पहले तो पति और प्रेमी के बीच कोई सीधा संघर्ष नहीं है। दूसरे शशि के हृदय में अपने पति के लिए बहुत प्यार है—यह दूसरी बात है कि वह इस प्यार का अधिकारी नहीं है। तीसरे रामेश्वर का व्यवहार ऐसा है जिससे पाठक के हृदय में उसके प्रति घृणा और विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में शशि के प्रेमी का पक्ष सबल हो गया है, पति का एकदम दुर्बल। सामान्य पाठक के मन की बात पूछें तो वह रामेश्वर और शशि के सम्बन्धों की अपेक्षा शशि-शेखर के सम्बन्ध को ही पल्लवित होते देखना चाहता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध तो विश्वास और प्रेम पर आधारित होना चाहिए। यदि पति अपनी पत्नी को दासी समझकर मनमाना अत्याचार करता है तो वह पति कहलाने का अधिकारी नहीं है। शशि यद्यपि अपने क्रूर पति के विरुद्ध खुला विद्रोह नहीं करती, फिर भी उसका मूक बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। वह प्रत्येक पाठक को रुलाकर छोड़ता है और उसके हृदय में यह चेतना जागरित करता है कि आधुनिक समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध में कहीं गहरा विकार उत्पन्न हो गया है जो किसी प्रकार अब दूर होना ही चाहिए। इस प्रकार सामाजिक धरातल पर लेखक का यह दूसरा विद्रोह भी सफल हुआ है।

: ३ :

शेखर के जीवन की बहुत-सी घटनाओं का सम्बन्ध शासन-नीति से है। वह विदेशी अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने वाले देश के प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने जाता है और बिना किसी अपराध के जेल में डाल दिया जाता है। जेल-जीवन का यह प्रसंग काफ़ी लम्बा और सजीव है। यहाँ उसकी भेंट बाबा मदनसिंह, मोहनसिंह और रामजी आदि व्यक्तियों से होती है। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह सोचें कि इस प्रसंग को उठाने में उपन्यासकार का क्या आशय है तो कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहले तो जेल का वातावरण ऐसा होता है जिससे हमारी मानसिक अवस्था न चाहने पर भी स्वस्थ या सामान्य से भिन्न हो जाती है। दूसरे उपन्यासकार ने अपराधी समझे जाने वाले सभी व्यक्तियों का वर्णन इस प्रकार किया है जिससे उनके प्रति घृणा अथवा विरक्त स्थान पर सहानुभूति उत्पन्न होती है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि बड़े-से-बड़े अपराधी के हृदय में भी मानवता की चिनगारी कहीं-न-कहीं छिपी रहती है इन दोनों बातों का प्रभाव यह पड़ता है कि अपराधों को करने या अपराधियों को सुधारने का ढंग वह नहीं हो सकता जो अब तक अपनाया जाता जा रहा है। और व्यक्ति को फाँसी देने से तो किसी का भला नहीं होता। यह इस देश की ही नहीं संसार के सभी सभ्य देशों की समस्या है। अतः हम कह सकते हैं कि शासन-नीति के सम्बन्ध में विद्रोह करने में भी शेखर पूरा-पूरा सफल हुआ है।

'शेखर : एक जीवनी' एक व्यक्ति की आत्म-कथा तो अवश्य है, पर वह व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसका जीवन परिवार, समाज या राज्य से विच्छिन्न हो, वरन् उसकी सुन्दरता ही इस बात

में निहित है कि वह इन तीनों से सम्बद्ध होकर विकसित होता है। अतः एक व्यक्ति का जीवन चित्रित करने के कारण ही जिन लोगों ने लेखक को व्यक्तिवादी घोषित कर दिया है उन्होंने इस कृति को ध्यान से नहीं पढ़ा। जैसा अभी पीछे दिखा चुके हैं शेखर परिवार, समाज और शासन सभी के धरातल पर मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करने में सफल हुआ है। अतः इस समाजबद्ध व्यक्ति का जीवन सामाजिक ही है। पूछा जा सकता है कि यदि शेखर सामाजिक प्राणी है तो समीक्षकों ने उसको असामाजिक क्यों कहा है? कारण यह है कि हमारे आलोचकों में दो प्रकार के प्राणी हैं। एक ओर हैं प्राचीन संस्कारों से शासित सुधारवादी। वे सोचते हैं शेखर छोटा-मोटा सुधार चाहे तब तो कोई हानि नहीं है, पर सभी चीजों में क्रान्तिकारी परिवर्तन की माँग तो ठीक नहीं है। उनकी दृष्टि से शेखर वह 'निरुद्देश्य क्रान्तिकारी है जो एतादृशत्वमात्र को उलटने के लिए सर टकरा रहा है।' दूसरी ओर हैं साम्यवादी आलोचक। वे इस बात का तो समर्थन करते हैं कि समाज में परिवर्तन हो, पर यह परिवर्तन यदि साम्यवादी विचार-परम्परा के अनुकूल नहीं है, तब बेकार है। आलोचक चाहे परम्परावादी हो या साम्यवादी, उसे खुला अधिकार है कि वह इस कृति की विचार-धारा की परीक्षा कर सके, पर दोनों ही कोटि के आलोचकों ने जो अन्तिम निर्णय दिया है वह पाठकों के हृदय में भ्रांति फैलाता है। आज हम सभी अनुभव कर रहे हैं कि व्यक्ति और सामाजिक जीवन के विकास के लिए हमारे चारों ओर का जो संसार है उसे बदलना चाहिए। ऐसी दशा में यह समझ में नहीं आता कि जो लेखक व्यक्ति के जीवन को स्वस्थ, सुन्दर और चिर विकासशील देखने की कामना करता है, समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की अस्वाभाविकता पर उंगली रखता है, शासन के उत्तरदायित्व की ओर इंगित करता है, उसे असामाजिक कैसे कहा जा सकता है?

: ४ :

नारी जाति में से बहुतों के सम्पर्क में शेखर आता है। उदाहरण के लिए उसकी माँ, मौसी विद्यावती, उसकी बड़ी बहन सरस्वती, आया जिन्निया, नौकरानी अत्ती, फूलां, सावित्री, मिस प्रतिभा लाल, मणिका, शान्ति, शीला, शारदा और शशि को हम ले सकते हैं। इनमें कुछ ऐसी हैं जो पथ में आती हैं और चली जाती हैं; कोई गहरा, विशिष्ट या स्थायी प्रभाव वे नहीं छोड़तीं। शेष में कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं, कुछ अधिक। इनमें से केवल माँ ऐसी है जिसके प्रति शेखर के मन की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इस माँ ने शेखर को कभी नहीं समझा। वह कठोर स्वभाव की, शासनप्रिय, हठ को सीमा तक निभाने वाली, ईर्ष्यालु माँ है। शेखर ने उसके छोटेपन का एकाध उदाहरण भी दिया है। इतना होने पर भी पाठकों का मन उसकी भावना से एकाकार नहीं हो पाता, अर्थात् माँ के बुरेपन का वह प्रभाव पाठकों पर नहीं पड़ता जो शेखर डालना चाहता है। अपनी बड़ी बहन को वह बहुत स्नेह करता है और जब वह ससुराल चली जाती है और शेखर के मन को समझने वाला कोई नहीं रहता, उस समय उसे जो पीड़ा हुई होगी, उसे समझा जा सकता है। मिस प्रतिभा लाल बचपन की एक असफल बाल-मैत्री का उदाहरण है। मणिका एक ऐसी आधुनिका है जो नवयुवकों से निःसंकोच भाव से मिलती है और जान-बूझकर अपने को मिटाने पर तुली हुई है। शान्ति करुण सहानुभूति की एक द्रवित करने वाली घटना है। शीला स्नेहमयी शिष्या है। उपन्यास में इस स्नेह

को पल्लवित होने का अवसर ही नहीं मिलता। शारदा वयःसन्धि में मन के आवेगपूर्ण आकर्षण का चित्र है।

इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण शशि है। शेखर ने जैसे शारदा के लिए प्रयत्न किया, वैसे शशि के प्रेम के लिए नहीं। वह उसे अनायास मिला है। विद्रोह और प्रेम शेखर के मन की दो ही मूल वृत्तियाँ हैं। प्रेम के क्षेत्र में वह प्रारम्भ से ही बड़ा क्षुब्ध, असन्तुष्ट और निराश-सा रहा है। प्रेम की वह सम्पूर्णता जिसके स्वप्न शेखर प्रायः देखता है, उसे शशि ही प्रदान करती है। प्रेम का यह बीज उसी समय पड़ गया था, जब चार वर्ष की अवस्था में शेखर ने शशि के माथे में लोटा मारा था। बहुत वर्षों तक दोनों मिल नहीं पाते। इसी बीच शेखर के जीवन में शारदा आ जाती है। इसके उपरान्त शशि-शेखर की भेंट होती भी है तो दोनों मन की बात खुलकर नहीं कह पाते। शेखर जेल चला जाता है और शशि का विवाह हो जाता है। लेकिन इसके उपरान्त जब दोनों मिलते हैं तो ऐसी परिस्थितियाँ आ खड़ी होती हैं कि उनकी बाढ़ में शारदा का प्यार, बार-बार 'भाई जी' 'बहन जी' कहने का शिष्टाचार और हिन्दू-नारी का पत्नीत्व सब बह जाते हैं।

शेखर की इस प्रेमिका में विवेक और अनुराग का अद्भुत सम्मिश्रण है। वह बड़ी प्रेरणामयी है। शेखर को आत्म-हत्या की भावना से मुक्त कर कर्म की ओर मोड़ने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। वह बड़ी उच्चमना (noble) है। अपने पति का अकारण अत्याचार सहती है और जीवन की वेदना के लिए किसी को दोषी नहीं ठहराती। शशि का प्यार मन की बहुत गहराई में उतरकर जीवन की बहुत ऊँचाई पर चलता है। इच्छा होती है कि व्यक्ति की प्रेमिका हो तो ऐसी ही हो।

नारी का सम्पर्क उसी के लिए वरदान सिद्ध होता है जो उसके प्यार की शक्ति को पहचानता है। एक ही शशि है जो अपने पति को तो प्रभावित नहीं कर पाती, पर शेखर की प्रेरणा बन जाती है। जहाँ तक 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक का सम्बन्ध है वह नारी के प्यार को एक साधन के रूप में ही स्वीकार करता प्रतीत होता है। इस बात पर थोड़ा तर्क किया जा सकता है कि क्या जीवन में नारी भी पुरुष के लिए उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना पुरुष नारी के लिए; पर लेखक ने शशि के मुख से यह कहलाकर कि उसके प्यार से उसके प्रेमी का भविष्य बड़ा है, कुछ कहने के लिए स्थान नहीं छोड़ा। उपन्यास में शशि इसी विश्वास के कारण अपने प्राण देने में बहुत बड़े सुख का अनुभव करती है। ऐसी दशा में शशि की मृत्यु के प्रसंग को दुःखान्त कहें या सुखान्त यह निर्णय करना बहुत कठिन काम है। जहाँ तक शशि का सम्बन्ध है वह बहुत सुख से मरी है। सुख का पहला कारण है यह कि वह अपने प्रेमी की गोद में प्राण दे रही है और उस समय उसके प्राण शरीर से पृथक् हो रहे हैं जब उसके प्रणयी की भावना उसके प्रति गहनतम और कोमलतम है। दूसरे उसे विश्वास हो चुका है कि उसकी यह मृत्यु व्यर्थ नहीं जायगी। लेकिन जहाँ तक पाठकों का सम्बन्ध है शशि की मृत्यु के लिए वे तैयार नहीं हैं। उपन्यास का कोई पाठक शशि की मृत्यु नहीं चाहता। इस घटना से प्रत्येक सहृदय को ऐसा आघात लगता है जैसा उस समय लगता होगा जब कोई किसी से अचानक आकर कहे कि तुम्हारी प्रेमिका की मृत्यु हो गई है।

शेखर एक विकासशील चरित्र है। लेखक ने बचपन से ही उसके स्वभाव में बीज रूप

से उन सारी बातों को दिखलाया है जिनसे उसके चरित्र का निर्माण होता है। शेखर के चरित्र में, जैसा स्पष्ट कर चुके हैं, सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करता है उसका विद्रोहीपन। इस विद्रोह वृत्ति का सबसे कोमल अंश है उसके हृदय में छिपी हुई मानवता की भावना। उपन्यास में वह दृश्य देखने योग्य है जहाँ मालाबार में एक अछूत स्त्री के घायल और कुचले हुए शरीर को अपनी पीठ पर लादे वह मिशन-भवन की ओर जा रहा है। मानवता की इस भावना का पोषण उसके अन्तर की सामाजिक और राजनीतिक चेतना से होता है। इस प्रकार उसके अन्तर की विद्रोह-भावना उसकी मानवता को उभारती है और मानवता की भावना अपनी पूर्ति के लिए समाज और राजनीति के पथ पर उसे डालती है। दूसरी भावना है प्रेम की। इस भावना के लिए भी शेखर जीवन-भर भटकता फिरा है और अन्त में उसकी सम्पूर्ति होती है शशि के प्यार में। एक स्थान पर शेखर शशि से स्वीकार करता है, 'जितने स्वप्न मैंने देखे हैं, सब तुममें आकर घुल जाते हैं।' तीसरी भावना है लेखक बनने की। लेखक बनने के लिए भी शेखर ने कम साधना नहीं की, कम कष्ट नहीं उठाए। विद्रोह, प्रेम और कला की ये भावनाएँ आपस में ऐसी गुँथी हुई हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। पर अन्तिम भावना विद्रोह की ही है—प्रेम है इस विद्रोही मनोवृत्ति की प्रेरणा और साहित्य-सृजन अस्त्र।

जेल से लौटने के उपरान्त शेखर को हम कुछ दबा हुआ पाते हैं। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जो उद्धत बालक बचपन में किसी प्रकार नहीं झुकाया जा सकता था, वह बड़ा होकर आत्म-हत्या करने की बात सोच सकता है। बचपन में शेखर परिस्थितियों और विरोधी तत्त्वों का स्वामी रहा है, बड़ा होकर वह उनके सामने कई बार सिर झुका देता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है, यह समझना कठिन नहीं है। पहले तो जेल का जीवन ही ऐसा जीवन है जहाँ मनुष्य का मानसिक सन्तुलन खो जाता है। बाबा मदनसिंह, मोहसिन और रामजी के जीवन को देखकर जो प्रतिक्रिया हुई होगी, वह भी बहुत स्वस्थ नहीं रही होगी। सम्पादकों और प्रकाशकों के व्यवहार ने भी उसे कम मानसिक क्लेश नहीं पहुँचाया। फिर माँ की मृत्यु और बेकारी। ऐसी दशा में अत्यन्त दृढ़ व्यक्ति भी हिल सकता है। फिर भी पाठक चाहता है कि शेखर किसी प्रकार शशि की रक्षा कर सकता। वह अपनी प्रेमिका के जीवन को सुरक्षित नहीं बना सका, इसके लिए कारण उपस्थित किये जा सकते हैं, पर इस प्रसंग पर आकर शेखर के अदम्य व्यक्तित्व के प्रति पाठक की आस्था कुछ कम होने लगती है।

शेखर का विश्वास है कि जीवन में यदि कोई पथ-निर्देश कर सकता है तो वह व्यक्ति की बुद्धि ही है। यही कारण है कि वह अपने लिए स्वयं सोचता है और इसीसे उपन्यास-भर में मूल्यवान विचार बिखरे पड़े हैं। जीवन और मृत्यु, शरीर और अध्यात्म, प्रेम और घृणा, प्यार और वासना, हिंसा और अहिंसा, समाज और साहित्य, धर्म और नैतिकता आदि अनेक विषयों पर 'अज्ञेय'जी ने बहुत-सी मौलिक बातें कही हैं। ये विचार अपने उपयुक्त स्थान पर ही आए हैं, अतः ऊपर से लादे हुए बिलकुल नहीं प्रतीत होते। जिन विषयों पर लेखक ने कुछ अधिक जोर दिया है वे हैं घृणा, हिंसा और दुःख। सामान्यतया अच्छे विचारक इन तीनों के ही महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि एक तो वे इनकी विपरीत वृत्तियों अर्थात् प्रेम, अहिंसा और सुख के महत्त्व को कहीं कम करके नहीं दिखलाते, दूसरे घृणा, हिंसा और दुःख का जो उपयोगी अंश है उसे ही व्यक्ति के विकास और लोक-कल्याण के लिए उप-

योगी समझकर ग्रहण करना चाहते हैं। उनका कहना यह है कि जैसे जीवन में क्रोध कभी-कभी नितान्त आवश्यक और कर्तव्य बन जाता है, वैसे ही घृणा और हिंसा भी। इससे बहुतों का मत-भेद हो सकता है। लेखक ने उपन्यास में हिंसा-अहिंसा पर काफ़ी विस्तार से विचार किया है। इस बातचीत में भाग लेने वाले कई व्यक्ति हैं। शेखर, विद्याभूषण, बाबा मदनसिंह, शेखर के पिता और शशि सभी के पास कुछ-न-कुछ कहने के लिए है। इस विचार-विमर्श से इतनी ध्वनि अवश्य निकलती है कि जीवन में हिंसा और अहिंसा के बीच सभी-कहीं विभाजक रेखा खींचना सरल नहीं है।

: ५ :

लेखक का दुःख के प्रति जो दृष्टिकोण है उस पर कई समीक्षकों ने आपत्ति की है। नरोत्तमप्रसाद नागर ने तो 'अज्ञेय' को 'यातना का दर्शन प्रचारित करने वाला' ही कह दिया है। लेकिन 'शेखर : एक जीवनी' में दुःख का भी कल्याणकारी रूप ही स्वीकार किया गया है। एक वेदना ऐसी होती है जो व्यक्ति की शक्ति को कुण्ठित कर देती है, दूसरी ऐसी जो सृजन की प्रेरणा देती है। एक यातना ऐसी होती है जो व्यक्ति को अवसन्न कर देती है, दूसरी ऐसी जो उसे ललकार के लिए पुकारती है और विद्रोही बनाने में समर्थ होती है। एक दुःख ऐसा होता है जिसमें व्यक्ति घुल-घुलकर मर जाता है, दूसरा ऐसा जो संसार के दुःख को दूर करने का हमें बल प्रदान करता है। यहाँ इस प्रेरक दुःख पर ही लेखक की दृष्टि है। उपन्यास में यातना के दर्शन की प्रशंसा नहीं, जीवन में जो अनिवार्य दुःख है उसे शक्ति में बदलने वाली विचार-धारा की चर्चा है।

उपन्यास का पहला शब्द—फाँसी—ही पाठकों के हृदय में कभी समाप्त न होने वाली उत्सुकता जगाता है। मुख्य पात्र को फाँसी! क्यों? यह उत्सुकता उसी क्षण समाप्त होगी जब उपन्यास का अन्तिम पृष्ठ पढ़ने को मिलेगा। उस समय तक के लिए लेखक ने अपने पाठकों को बाँध रखा है। जीवनी लिखने में भी लेखक का उद्देश्य स्वार्थमय नहीं है। आत्म-सन्तोष के लिए ही वह आत्म-विश्लेषण कर रहा है। उसका विश्वास है कि अपने जीवन में जिस सत्य की उपलब्धि उसे हुई है, उसका परिचय यदि वह शेष जगत् को दे सका, तो उसका कल्याण हो सकता है। ऐसी उच्च भावना से प्रेरित साहित्यिक कृति प्रभावशाली होगी ही, क्योंकि उसके भीतर वह आग छिपी रहती है जो अन्यथा सम्भव नहीं। इस कृति को जीवनी कहने से लेखक को शैली-सम्बन्धी भी बहुत-सी छूटें मिल गई हैं। उपन्यास में कहीं लघु-कथा, कहीं रेखा-चित्र, कहीं-यात्रा-विवरण, कहीं निबन्ध, कहीं गद्य-गीत और कहीं व्याख्यान की शैली का समावेश है और इनके मिश्रण से उपन्यास में बड़ी शक्ति और अनूठापन आ गया है। वर्णनों में तो महाकाव्य की-सी चित्रमयता है। प्रत्येक विवरण लेखक की सूक्ष्म अंकन-शक्ति का सजीव निर्देशन करता है। ऐसा लगता है जैसे परिश्रम ने प्रतिभा के हाथ में कला की तूली दे दी है और परिणाम है 'शेखर : एक जीवनी'।

प्रेमचन्द जी ने उपन्यास के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है "भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा और तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है।" 'अज्ञेय'जी ने 'शेखर : एक जीवनी' का प्रणयन करके उस महान् साहित्यकार की वाणी को सत्य सिद्ध किया है। यों इस युग

के हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार निर्विवाद रूप से प्रेमचन्दजी ही हैं और 'गोदान' है इस युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास। इन दोनों उपन्यासों को छोड़कर भी हमारे यहाँ अच्छे उपन्यासों की कमी नहीं है। उदाहरण के लिए हम 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'सुनीता','मृगनयनी','संन्यासी', 'मुर्दों का टीला' और 'नारी' का नाम ले सकते हैं। लेकिन सच बात यह है कि 'गोदान' और 'शेखर : एक-जीवनी' के बीच कोई दूसरा उपन्यास नहीं आता। इन दोनों उपन्यासों की महत्ता दो भिन्न दिशाओं की है और शायद दोनों की तुलना करना ठीक नहीं होगा। यह कृति 'प्रसाद' की 'कामायनी' से इस बात में अवश्य समानता रखती है कि दोनों में ही एक विराट् जीवन-दर्शन को आकार देने का प्रयत्न किया गया है और 'कामायनी' की कला की भाँति इस उपन्यास का शिल्प-विधान भी अत्यन्त प्रौढ़ है। ये तीनों ही कृतियाँ इस शताब्दी की महान् साहित्यिक कृतियाँ हैं। यदि 'गोदान' भारत की मिट्टी है तो 'कामायनी' हिमालय, और 'शेखर : एक जीवनी' अधूरा ताजमहल।

शिवनाथ

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास—२

सुनीता

हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्रकुमार के 'सुनीता' उपन्यास का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। 'सुनीता' उपन्यास सन् ३५-३६ में प्रकाशित हुआ; वैसे इसके प्रथम संस्करण की प्रस्तावना १६-६-३५ की लिखी है। हमें याद है कि इसी समय के करीब जून, सन् '३६ में प्रेमचन्द का 'गोदान' भी प्रकाशित हुआ था। और, हमें यह भी याद है कि तब 'सुनीता' तथा 'गोदान' के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य में खूब विवेचना-चर्चा हुई थी।

'सुनीता' लघु उपन्यास है; और हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्रकुमार लघु उपन्यास-लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। उनके सभी उपन्यास छोटे हैं। अगले खेवे के उपन्यासकारों में वह इस क्षेत्र में बे-मुकाबले हैं। इधर पिछले खेवे में भी कुछ उपन्यासकार छोटे उपन्यास लिख रहे हैं। ये प्रयोगवादी हैं, और प्रधानतः शिल्प को लेकर प्रयोग करते हैं। इनमें धर्मवीर भारती, लक्ष्मी-नारायणलाल और गिरिधर गोपाल ने ध्यान आकर्षित किया है। शरत् ने भी प्राय: लघु उपन्यास ही लिखे हैं; और यह कहा जा सकता है कि लघु उपन्यास की दृष्टि से उनके उपन्यास भारतीय उपन्यास-साहित्य में आदर्श (मॉडेल) हैं। लघु उपन्यास की रचना भी एक कला है। सभी उपन्यासकार इसमें सक्षम तथा सफल नहीं होते। प्रेमचन्द, जो हिन्दी के सबसे बड़े उपन्यासकार कहे जाते हैं, एक भी सफल लघु उपन्यास नहीं लिख पाए। लघु उपन्यासों तथा उनके लेखकों को दृष्टि-पथ में रखकर कहा जा सकता है कि लघु उपन्यास-रचना की कला में रचना-शिल्प की संक्षिप्त भाव से अभिव्यक्ति का सूक्ष्म रहस्य निहित रहता है। ऐसे रचनाकार की अभिव्यक्ति संक्षिप्त और सांकेतिक ही होगी, उसका रचना-शिल्प समास-प्रधान ही होगा। ऐसा रचनाकार पाठक श्रोता के हृदय-बुद्धि पर विश्वास रखकर चलता है। उसकी रचनाओं में एक-एक शब्द तथा वाक्य सार्थक होकर आता है। इसको हम रचनाकार का अभिव्यक्ति-संयम कह सकते हैं। जैनेन्द्रकुमार में भी रचनाकार के उक्त गुणों की निहिति के कारण 'सुनीता' तथा उनके अन्य उपन्यासों में भी अभिव्यक्ति का संयम है। रचना-शिल्प के क्षेत्र में मुझे शरत् की यह बात बहुत अच्छी लगती है कि 'छोटा होने से ही तो रस घना होगा।'[1]

पात्रों के शील तथा उपन्यास की घटनाओं पर वह अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करते नहीं चलते। उपन्यास में उनके सामाजिक कार्य, उनसे उद्भूत उनमें अन्तर्द्वन्द्व को उन्हींके माध्यम से दिखा देते हैं। पात्रों के शील तथा उपन्यास की घटनाओं पर टीका-टिप्पणी का अधिकार वे

१. 'शरत्-पत्रावली', डॉ० महादेव साहा, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९५२, पृ० ६६।

पाठक-श्रोता के ऊपर छोड़ देते हैं।

प्रेमचन्द का रचना-शिल्प जैनेन्द्रकुमार के रचना-शिल्प से ठीक विपरीत है। वह व्यास-प्रधान है। प्रेमचन्द प्रत्येक पात्र के शील तथा एक-एक घटना पर अपना मत देने के लिए टीका-टिप्पणी करते चलते हैं। ऐसा करके पाठक-श्रोता को पात्र तथा घटना के सम्बन्ध में अपना निजी अभिप्राय बताते जाते हैं। श्रोता-पाठक की बुद्धि पर वह कुछ छोड़ना नहीं चाहते। इसी कारण उनके उपन्यास लघु न होकर बड़े ही हुए हैं।

'सुनीता' लघु उपन्यास इसलिए भी है कि उसमें जैनेन्द्रकुमार का लक्ष्य कहानी कहना नहीं है, अतः पात्र भी कम हैं। उसमें तो उनका उद्देश्य संक्षिप्त खण्डों को लेकर जीवन-चित्रों के माध्यम से सत्य का दर्शन करना और कराना है। कहते हैं : "पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं।"[१] 'सुनीता' में तीन ही प्रधान पात्र हैं—सुनीता, हरिप्रसन्न और श्रीकान्त। उसमें सत्या भी है, मगर इन तीनों की सहायिका के रूप में।

उपन्यास-रचना-शिल्प का एक प्रधान अंग कुतूहल-तत्त्व (एलिमेंट ऑफ़ सस्पेन्स) भी 'सुनीता' में समुचित रूप से है। रचना में इस तत्त्व का समावेश उस (रचना) को अरुचिकर नहीं होने देता। 'आगे क्या होगा' इस जिज्ञासा को कथा में बनाए रखना उसके रचना-शिल्प के प्रधान अंगों में से एक है। हरिप्रसन्न तथा सुनीता से सम्बद्ध कहानी में इस तत्त्व का समावेश खूब कौशल से हुआ है। ज्यों-ज्यों हरिप्रसन्न तथा सुनीता का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इन दोनों की भविष्यत् घटनाओं के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा-वृत्ति सजग होती जाती है। क्रान्तिकारी दल से मिलाने के लिए सुनीता को हरिप्रसन्न द्वारा ले जाने की कथा के सभी सूत्रों में इस तत्त्व का बहुत ही कौशलपूर्ण समावेश हुआ है।

'सुनीता' उपन्यास का वातावरण चिंतना से परिपूर्ण है। इसके सभी प्रधान पात्र—सुनीता, हरिप्रसन्न, श्रीकान्त—अपने जीवन में घटना-क्रम से आई परिस्थितियों पर हर समय चिन्तन करते हुए देखे जाते हैं। सत्या इसका अपवाद है, वह नटखट बालिका-मात्र है। उपन्यास के चिन्तनशील तथा गम्भीर वातावरण में मनोरंजन और हलका वातावरण (ईज़्ड एट-मॉस्फियर) लाने के लिए मात्र चटकार चटनी-सी है। कथानक के विकास में मुझे उसकी कोई देन नहीं दिखाई पड़ती। श्रीकान्त ने आरम्भ में बराबर यह कोशिश की है कि हरिप्रसन्न उसी-की भाँति गृहस्थ के बन्धन में बँध जाय। जब अपना यह मन्तव्य उसने सुनीता से कहा तो सुनीता ने सत्या के लिए हरिप्रसन्न को बुरा वर नहीं समझा। हरिप्रसन्न को उसके शिक्षक के रूप में रखकर सत्या तथा हरिप्रसन्न में पारस्परिक बन्धन के प्रयत्न किये भी गए, मगर सब विफल ही रहा।

कथा के एक दूसरे सूत्र में भी सत्या आती है। सत्या ने चुपके-चुपके जान लिया था कि सुनीता तथा हरिप्रसन्न श्रीकान्त की अनुपस्थिति में मध्य-रात्रि को घर बन्द करके क्रान्तिकारी-दल से साक्षात्कार करने जायँगे। अकस्मात् श्रीकान्त उसी दिन सायंकाल लाहौर से आ जाता

१. 'सुनीता', प्रस्तावना, पृ० ३-४।

है और सत्या उसे मेवे-फल खरीदते बाजार में देखती है। वह नहीं चाहती कि सुनीता का घर से बाहर जाने का रहस्य श्रीकान्त पर प्रकट हो, अतः बलात् उसे अपने घर ले जाती है। श्रीकान्त को अनेक बातों में उलझाए रहती है कि वह अपने घर न जाय। मगर श्रीकान्त रात में घर जाता ही है और उस पर सुनीता का घर बन्द करके बाहर जाने का रहस्य प्रकट ही हो जाता है। इस प्रकार भी सत्या का प्रयास विफल ही होता है।

'सुनीता' के कथानक का केन्द्र-बिन्दु हरिप्रसन्न है, उसीको लेकर सारी घटनाएँ, परिस्थितियाँ खड़ी होती हैं और उसीके न रहने पर सब समाप्त भी हो जाती हैं। सुनीता का स्वरूप भी उसीके सामने आने पर ही बनता है और वह कथा में प्राधान्य ग्रहण करती है। इसी प्रकार उपन्यास में सुनीता जो-कुछ भी बनी है हरिप्रसन्न के कारण ही। उसको ही लेकर सभी व्यस्त हुए हैं।

'सुनीता' में शील-निरूपण के लिए जब हम प्रस्तुत होते हैं तब इस क्षेत्र के इस स्वाभाविक तत्त्व की ओर हमारी दृष्टि जाती है कि पात्रों का शील उनके क्रिया-कलाप द्वारा ही जैनेन्द्रकुमार ने निखारा है, पात्रों के कर्मों द्वारा ही उनके शील की रूप-रचना होती हैं। ऐसा करके उपन्यासकार पाठक-श्रोता पर पात्रों के शील के निर्णय को छोड़ देता है। वह अपनी टीका-टिप्पणी द्वारा पात्रों का शील नहीं गढ़ता।

उपन्यासों में कुछ पात्र हमें ऐसे दिखाई देते हैं जिनके सम्बन्ध में उपन्यासकार कह तो देते हैं कि वे अमुक हैं, अमुक हैं, मगर उन उपन्यासों में उनकी वह अमुकता कहीं उनके कार्य-कलाप द्वारा दिखाई नहीं पड़ती। 'सुनीता' के हरिप्रसन्न द्वारा ही अपना अभिप्राय स्पष्ट करूँ। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न के बारे में श्रीकान्त ने बहुत-कुछ कहा है कि वह यह है, वह वह है आदि। परन्तु उसके दो स्वरूप ही उपन्यास में स्पष्ट हैं। एक तो उसका चित्रकार का स्वरूप और दूसरा क्रान्तिकारी का स्वरूप। उसका चित्रकारपन तो उसके चित्रांकन से स्पष्ट है। परन्तु उसके क्रान्तिकारी होने का हम उपन्यास में शोर ही सुनते हैं, सिवाय इसके कि क्रान्तिकारियों की भाँति उसके पास पिस्तौल है और वह सुनीता—श्रीकान्त से जोर-जबरदस्ती एक सौ रुपये लेकर दल के लिए उन्हें इन्द्रसेन के हाथों देता है। क्रान्तिकारियों तथा क्रान्तिकारी-दल के क्रिया-कलाप की गन्ध-मात्र भी उपन्यास में नहीं है। क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न और उसके दल का उल्लेख उपन्यास में है, तो उनका क्रिया-कलाप दिखाना भी अपेक्षित था।

इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के 'घरे बाहरे' के संदीप का शील काफी सुचिन्तित रूप से रचित है। वह स्वदेशी-आन्दोलन का नेता है और उसका एक दल है। उसके तथा उसके दल के क्रिया-कलाप के चित्र उपन्यास में विद्यमान हैं।

ऊपर हमने देखा है कि 'सुनीता' में जैनेन्द्रकुमार का लक्ष्य कहानी सुनाना नहीं है, अतः इसमें बाह्य संघर्ष का प्राधान्य नहीं है, जिसका सम्बन्ध घटना अथवा कथा से होता है; अर्थात् यह घटना-प्रधान उपन्यास नहीं है। परन्तु इसमें अन्तर्संघर्ष है, जिसका सम्बन्ध चरित्र से होता है; इसलिए यह चरित्र-प्रधान उपन्यास है। चरित्रों के अन्तर्संघर्ष अथवा द्वन्द्व दिखलाने में शरत् की भाँति जैनेन्द्रकुमार को भी कमाल हासिल है। उनके सभी उपन्यासों में और 'सुनीता' में भी उनकी अन्तर्संघर्ष दिखलाने की कला प्रस्फुटित हुई है। अन्तर्संघर्ष की किसी विशेष कला का निरपेक्ष अर्थ तो यह है कि चरित्र ऐसी परिस्थितियों से गुजरे कि वह 'क्या करे अथवा क्या

न करे' की दुविधा में पड़ जाय, और इस कर्तव्य-अकर्तव्य को लेकर उसके अन्तस् में संघर्ष चले। परन्तु चरित्रगत इस कर्तव्य-अकर्तव्य की दुविधा के बीच कलाकार-कर्म भी उपस्थित होना चाहिए और उसे निर्माता की हैसियत से चरित्र को मंगलमय कर्तव्य-पथ पर लगा देना चाहिए। ऐसा करके वह श्रोता-पाठक को भी मंगल की ओर गति देकर कलाकार के वास्तविक धर्म का पालन करेगा। प्रसाद ने अन्तर्संघर्ष-भरे चरित्रों को इसी रूप में हमारे सम्मुख रखा है। जैनेन्द्रकुमार भी कहते हैं : "मुझे यह भी लगता है कि एक कथा की, पात्र की या व्यक्तित्व की निजता में जितना गहरा और गम्भीर विरोध समा सकता है उतना ही उसका महत्त्व है।"[1] परन्तु क्या यह विरोध सब दिन बना रहे, अपने वैचारिक मेरुदण्ड के आधार पर चरित्र क्या मंगल-पथ को न निकाल सके ? मैं समझता हूँ, उसे मंगलमय कर्तव्य-पथ निकाल लेना चाहिए। जैनेन्द्रकुमर अथवा और कोई कलाकार यह कह सकता है कि जीवन और समाज में हम देखते हैं कि अन्तर्संघर्ष इतना घोर होता है कि हम मंगलमय कर्तव्य-पथ का निर्णय नहीं कर पाते। इसका उत्तर मैं यह दूँ कि ऐसे लोगों में वैचारिक मेरुदण्ड नहीं है। और, कलाकार की कृति के पात्र में यह मेरुदण्ड न होगा तो जीवन-समाज के लिए घातक है, क्योंकि वह पात्र को मंमलमय कर्तव्य-पथ पर लगाकर पाठक-श्रोता में मंगल की ओर गति नहीं देता है। सुनीता चिन्तनशील है, मगर उसमें यह मेरुदण्ड नहीं है। श्रीकान्त तथा हरिप्रसन्न को लेकर उसके मन में घोर संघर्ष है। श्रीकान्त को लेकर एक ओर सरल-सीधा पति-प्रेम है और दूसरी ओर हरिप्रसन्न को लेकर अनेक आकर्षणों-से भरा प्रिय अथवा प्रेमी का प्रेम। वह दोनों ओर विवश हो-होकर लपकती है, कुछ भी निर्णय नहीं कर पाती कि किसे लेकर बैठ जाय—अन्त तक भी इस मामले में निर्णय नहीं कर पाती। उसकी नंगी होने वाली घटना के बाद जब हरिप्रसन्न जाने लगता है तब भी हम देखते हैं कि "मोटर पर चढ़ता ही था कि सुनीता ने झुककर उस (हरिप्रसन्न) के चरणों की रज ले ली।"[2] नंगी होने वाली घटना पर हम देखते हैं कि सुनीता हरिप्रसन्न से वितृष्ण होती और झिझकती है, मगर अपने में वैचारिक मेरुदण्ड के अभाव में वह हरिप्रसन्न के प्रति आकृष्ट ही रहती है। उससे वह विमुख होती नहीं दिखाई पड़ती। जीवन और समाज का नेता साहित्यकार क्या यह चाहता है कि ऐसी परिस्थिति में भारतीय नारी सुनीता ही बने ? श्रोता-पाठक सुनीता का अनुसरण करे अथवा कोई मंगलमय कर्तव्य-पथ निकाले ? जैनेन्द्रकुमार ने कहा है : "उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्या गति, धक्के की नहीं।"..... "उपन्यास का लक्ष्य ऊँचा है। जीवन को स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उसका काम है और यदि जीवन के भीतरी भेदों को सुलझाने का उसमें प्रयास है तो इसीलिए कि जीवन अपनी जकड़ से छूटे और ऊपर उठने में समर्थ हो।"[3] इस सिद्धान्त का व्यवहार कहीं है ?

सुनीता के विपरीत रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाइरे' की विमला संदीप से हटकर अपने पति निखिलेश के प्रति एकनिष्ठ हो जाती है। हरिप्रसन्न तथा संदीप में वैचारिक मेरुदण्ड है और वे निर्णय करके क्रमशः सुनीता श्रीकान्त से तथा निखिलेश विमला से विरत होकर घर से बाहर चले जाते हैं।

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली; सन् १६५३, पृष्ठ १४।
२. 'सुनीता', पृष्ठ १८३।
३. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली; सन् १६५३, पृष्ठ १६३।

श्रीकान्त, जिसे उपन्यासकार ने "खुले मन, पुष्ट देह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष"[1] कहा है, के चरित्र का मूलभूत तत्त्व है मित्र-प्रेम और पत्नी-परायणता। हरिप्रसन्न को पुनः पाकर वह निहाल हो जाता है। उसके पाने के पहले तक वह अपने को 'अकेला, अभिन्न, ऊपरी'[2] पाता है। "सुनीता उस (जिन्दगी) में आ मिली है अवश्य, और दोनों ने एक घर बना लिया है, लेकिन वह घर ही उन दोनों के संयुक्त अस्तित्व को अपने में चुका डालता है। घर के काम-धन्धे की बात हो तो उसको लेकर दोनों मिल जाते हैं। वह न हो तो फिर अपने-अपने में बन्द अलग हो रहते हैं।"[3] हरिप्रसन्न के प्रेम में वह इतना विह्वल है कि कुछ दिनों के लिए ही लाहौर जाने पर सुनीता को पत्र लिखता है : "हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बने।....तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ, तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा।"[4]

हरिप्रसन्न के जीवन में आ जाने से श्रीकान्त तथा सुनीता के अलग-अलग रहने का भाव भी दूर हो जाता है। दोनों एक मन-प्राण से उसकी चिन्ता में व्यस्त रहकर आनन्द का अनुभव करते हैं। अपनी अनुपस्थिति में हरिप्रसन्न के घर से चले जाने पर वह दुखी और लाचार है। हरिप्रसन्न के साथ रात में सुनीता के घर से बाहर जाने पर श्रीकान्त के मन में कुछ सन्देह हुआ अवश्य, मगर "जिस (सुनीता के) मुख पर पुलकित फिर भी रुद्ध व्रीड़ा की लाली छा गई है, उसकी विमलता—उसकी आभा को देखकर श्रीकान्त के भीतर कहीं से फूटता हुआ सन्देह एकदम अपनी ही लज्जा में गलकर खो गया। श्रीकान्त ने इस एक ही क्षण में अद्भुत स्वास्थ्य-लाभ किया।"[5] श्रीकान्त पत्नी पर विश्वास करने वाला कितना सरल पति है।

'सुनीता' के श्रीकान्त तथा 'घरे-बाइरे' के निखिलेश में कोई समता नहीं है—सिवाय इसके कि वह भी श्रीकान्त की भाँति साधु-सरल है। श्रीकान्त के मन में हरिप्रसन्न तथा सुनीता को लेकर सन्देह उठकर भी वह रह नहीं जाता है। निखिलेश सन्दीप तथा विमला के प्रेम-सम्पर्क और सन्दीप द्वारा उसका अति प्रभावित होकर चोरी से द्रव्य देने को भी जानता है। इससे वह दुखी होता है और कुछ दिनों के लिए विमला से विमुख। यह जानकर वह सन्दीप को घर से चले जाने को कह देता है और विमला को पश्चाताप से तपा जानकर अपनी तथा उसकी दूरी मिटा देता है!

हरिप्रसन्न के चरित्र के कुछ सूत्रों की चर्चा अन्य प्रसंग में की गई है; अर्थात् उसके क्रान्तिकारी तथा चित्रकार होने की चर्चा। क्रान्तिकारी वह देश के उद्धार के लिए बना है। देश के उद्धार के लिए उसके अपने सपने हैं और इसके लिए उसने क्रान्ति-पथ अख्तियार किया है। कहें, तो कह सकते हैं कि देशोद्धार के सम्बन्ध में वह स्वप्नाश्रयी ही विशेष है।

राष्ट्र-कर्म के सिलसिले में वह अनेक स्त्रियों के सम्पर्क में आया है, मगर उनसे बराबर

---

१. 'सुनीता', पृष्ठ २।

२. वही, पृष्ठ १२।

३. वही, पृष्ठ १२।

४. वही, पृष्ठ १३६।

५. वही, पृष्ठ १८५-६।

कतराता ही रहा है। सत्या से विवाह कर लेने का आग्रह सुनीता ने उससे उसके जाते-जाते वक्त भी किया था, मगर उसने इन्कार ही कर दिया। उसकी धारणा है कि घर-गृहस्थी पुरुष को 'ह्रस्व' कर देती है। श्रीकान्त से वह कहता है: "मैं घर के लायक नहीं हूँ।"[१]

परन्तु, राष्ट्र-कर्म के सिलसिले में नारी से सदा कतराने वाला हरिप्रसन्न दूसरे सिलसिले में श्रीकान्त-सुनीता के घर आकर नारी से—सुनीता से—फँस जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस फँसाव को लेकर उसके मन में अनेकानेक संघर्ष चलते हैं, परन्तु इस संघर्ष पर वह विजय नहीं पाता है। अन्त में वह श्रीकान्त-सुनीता के घर से पलायन करके इससे रक्षा पाता है। नारी के सामने वह राष्ट्र-कर्म भूल जाता है, वह उसका प्रेम चाहता है। वह सुनीता का प्रेम चाहता है, जिसे वह मित्र की पत्नी के नाते 'भाभी' और स्फूर्तिदायिनी शक्ति मानता है। कहता है: "मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम ? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ, सुनीता !"[३] ... "क्या चाहता हूँ ? तुम पूछोगी—क्या चाहता हूँ ! तो सुनो, तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ।"[४] इसके बाद ही अहिंसाभरी ताड़ना उसे सुनीता नंगी होकर देती है, तब वह चैतन्य ग्रहण करता है और घर से पलायन कर जाता है। इसी घटना को लक्ष्य करके सुनीता ने उसे वचन-बद्ध कराया है: "कहो कि मैं अपने को नहीं मारूँगा।"[५] वह वचन देता भी है। हरिप्रसन्न को सुनीता की यह बहुत बड़ी देन है।

हरिप्रसन्न राष्ट्र-कर्म को पीछे छोड़कर नारी को लेकर क्यों उलझ गया ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि उसका दमित काम एकनिष्ठ बनकर सहस्र-मुख हो फूट पड़ा और उसने उसकी धार में ही अपने को बहता पाया। निश्चय ही उसे चेतना सुनीता द्वारा और कुछ अपने विवेक से भी मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिप्रसन्न के सभी स्वप्न स्वप्न ही रह जाते हैं। उपन्यास में न वह वैयक्तिक जीवन में ही सफल दिखाई पड़ता है और न सामाजिक जीवन में ही।

रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाइरे' के सन्दीप तथा 'सुनीता' के हरिप्रसन्न का लक्ष्य एक ही है—एक ओर देश और दूसरी ओर पराई स्त्री का प्रेम—परन्तु दोनों के कार्य और रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। सन्दीप का कार्य तथा मार्ग प्रधानतः खुला है। वह काफी पश्चात्ताप करके घर से पलायन करता है और हरिप्रसन्न इसे मन में ही बोध करता हुआ पलायन कर जाता है। सन्दीप तो पूरा खलनायक है और बड़ा शक्तिशाली है। वह तो मानता है कि 'रामायण' का नायक रावण है। वह तो शेक्सपियर के खलनायकों की भाँति बड़ा शक्तिशाली है। हरिप्रसन्न को हम शक्तिशाली खलनायक नहीं कह सकते, उसमें शक्ति का स्फुरण नहीं। वह काफी मुँचड़्-मुँचड़् है। सन्दीप में राक्षस-वृत्ति का प्राधान्य है, वह उसे काम में भी लगाता है। हरिप्रसन्न अपनी राक्षस-वृत्ति से खुद जूझता है।

यदि दो वाक्यों में सुनीता के बारे में कह सकूँ, तो कहूँ कि वह नारी है, केवल नारी। पुरुष—श्रीकान्त तथा हरिप्रसन्न—से पृथक् उसकी कोई अपनी शक्ति नहीं है। वह केवल अपना

---

१. 'सुनीता', पृष्ठ १६।

२. वही, पृष्ठ १७८।

३. वही, पृष्ठ १८०।

४. वही, पृष्ठ १८३।

घर जानती है, अपना पति जानती है। समाज या राष्ट्र का उसमें अपने विवेक से निकाला गया कोई बोध नहीं है। इसका बोध तो उसे हरिप्रसन्न कराता है, फिर भी वह उस ओर जाने से हजार बार हिचकती है। ऐसी हालत में घर—पति—उसके सामने आ खड़ा होता है। राष्ट्र की ओर जाती भी है, तो हरिप्रसन्न के प्रति प्रेमाकर्षण की जोर-जबरदस्ती से ही। वह अपने से नहीं जानती कि वह राष्ट्र के लिए स्फूर्तिदायिनी शक्ति के रूप में खड़ी हो सकती है। यह तो उसके प्रति हरिप्रसन्न के आकर्षण ने काल्पनिक रूप से उसमें होना मान लिया है। राष्ट्र-कर्म के नाम पर बाहर जाने को वह राजी होती है हरिप्रसन्न के वशीभूत होकर। वह जाती इसलिए भी है कि पत्र द्वारा उसके पति ने कहा है कि मेरी अनुपस्थिति में हरिप्रसन्न की इच्छा को ही सब-कुछ—सभी कुछ—समझना। परन्तु इस जाने के मामले में उसने अपने मन में अनेक संकल्प-विकल्प—'हाँ', 'नहीं'—किये हैं, और जैसे जबरदस्ती ही बाहर गई है। उपन्यासकार ने इस स्थिति की उसके मन की भावनाएँ यों व्यक्त की हैं : "उस शान्त, सलोनी प्रभात वेला में मानो वह खोजना चाहने लगी—कहाँ है उसकी नैया का खेवनहार ? अरे, वह जीवन के आवर्त में फँस रही है, धँसी जा रही है। अरे, उसे अकेली छोड़कर वह कहाँ जा बैठा है?······ ······अरे, कहाँ हो? कहाँ हो, मेरी पतराखनहार?"[1] इसी प्रसंग में व्यक्ति अर्थात् पति तथा राष्ट्र को लेकर भी उसके मन में तर्क-वितर्क चले हैं और वह व्यक्ति—पति अथवा घर—को ही प्राधान्य देती हुई दिखाई पड़ती है : "इस स्थिति में आकर वह उसी समय हरि-प्रसन्न की तरफ जाने को उद्यत हुई। कहेगी कि नहीं, मैं नहीं जा सकूँगी। मैं इस घर से टूट-कर जाऊँगी, तो जिऊँगी नहीं।······इसी घर की दीवारों के भीतर मेरा स्थान है।······ राष्ट्र को मैं क्या जानूँ? पर पति को मैं जानती हूँ, वह मुझे बहुत स्नेह करते हैं। उनके साथ मेरा विवाह हुआ है।······तुम राष्ट्र के लिए मेरा स्वत्व-दान माँगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है?······कहते हो कि राष्ट्र विराट् है, व्यक्ति छोटा है। ठीक; किन्तु राष्ट्र मुझे अप्राप्त है, मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है। मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं।······"[2] फिर भी परिस्थितिवश वह जाती ही है, इसके कारणों का उल्लेख ऊपर हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुनीता की दृष्टि पति—श्रीकान्त—पर बराबर है; मगर उसकी दृष्टि प्रिय अथवा प्रेमी—हरिप्रसन्न—पर नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि इन दोनों को लेकर सुनीता का मन तर्क-वितर्क का अखाड़ा है। जैसे हरिप्रसन्न को पाकर श्रीकान्त निहाल और स्फूर्तिपूर्ण हो जाता है वैसे ही सुनीता भी स्फूर्ति-विहल हो जाती है। वह उसकी दाढ़ी से लेकर उसके सोने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, उसकी सुविधा-असुविधा आदि सबका खयाल रखती है। ऐसी स्थिति में दोनों एक-दूसरे के क्रमशः निकट आते जाते हैं, एक-दूसरे को बहुत-कुछ (या सब-कुछ ?) मानने लगते हैं। दोनों की इच्छा-अनिच्छा एक होने लगती है। दोनों का आंगिक परिचय तक बढ़ता जाता है। मनःशास्त्रियों का कथन है कि इस आंगिक परिचय से प्रेम गाढ़ा होता जाता है। सुनीता चाहती, तो इस आंगिक परिचय से अपने

१. 'सुनीता', पृष्ठ १४६।
२. वही, पृष्ठ १४४-५।

तथा हरिप्रसन्न को रोक सकती थी, तब शायद उसकी नंगी होने वाली घटना घटती नहीं; मगर वह ऐसा कर नहीं पाती है। क्या हरिप्रसन्न की भाँति ही उसके मन में भी कहीं दमित काम छिपा था? शायद ऐसा हो भी। एक जगह वह सोचती है : "······वह (श्रीकान्त) तो मुझसे यों ही बिगड़ते रहते हैं। लेकिन क्या सच, यों ही बिगड़ते रहते हैं? मैं अपने में क्यों उन्हें बाँध नहीं रख पाती? मैंने इन पिछले दिनों अपने में से क्या खो दिया है कि उनके सामने फूल-सी खिल नहीं जाती हूँ?"[1] वह "······पति के सम्बन्ध में पाती रही है कि कर्तव्य-परायणता और जीवन में यम-नियमादि पालन ही उनके लिए सब-कुछ हैं, विश्व का चित्र-वैचित्र्य उनके लिए कुछ भी नहीं है।"[2] ऐसी स्थिति में उसके मन में काम कहीं दबा रह सकता है, जो हरिप्रसन्न के सम्पर्क से फूटता है।

रात के समय सुनसान जंगल में हरिप्रसन्न के सामने सुनीता के दिगम्बर हो जाने का रहस्य क्या है? यह गांधी की अहिंसा का साहित्यिक प्रतिपादन है और इसके लिए मैं जैनेन्द्रकुमार का बहुत बड़ा प्रशंसक हूँ। साहित्य के क्षेत्र में गांधी की अहिंसा का व्यवहार जैनेन्द्रकुमार के अलावा और किसी द्वारा इतने ऊँचे रूप में नहीं दिखाई पड़ा, अथवा यों कहें कि दिखाई ही नहीं पड़ा। गांधी की अहिंसा का मूल तत्त्व है सब-कुछ सहकर, अपना सब-कुछ देकर, प्राण-विसर्जन तक करके, राक्षस-वृत्ति वाले आक्रमणकारी पीड़क के मन में दया उत्पन्न करना। उसकी हिंसा को अपनी अहिंसा-वृत्ति के द्वारा मारना। मानव के मन में राक्षस है तो देवता नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः हिंसक की हिंसा सहने वाले के प्रति सबेर या अबेर में हिंसक में अहिंसा, दया, प्रेम,—देव भाव— उदित होगा ही। सुनीता ने देखा कि हरिप्रसन्न उसके अंग से परिचय प्राप्त करके कामुकतावश उसके सब अंग को ही चाहता है, तब वह एक-एक करके अपने अंग को सर्वथा निरावरण कर देती है। उसकी काम-हिंसा के प्रति अपना समस्त अंग बलि कर देना चाहती है। ऐसा करके वह हरिप्रसन्न की काम-हिंसा-वृत्ति को मारना चाहती है। निराश्रय जंगल में इस अहिंसा-वृत्ति के अवलम्बन के अलावा सुनीता के हाथों कोई चारा ही नहीं था। उसकी अहिंसा ने हरिप्रसन्न की हिंसा पर विजय भी पाई। वह इस दृश्य से जुगुप्सु होकर सुनीता से विरत हो जाता है, उसके मन का देवता जागरित होता है। सुनीता भी अपनी अहिंसा के माध्यम द्वारा पाप से छुटकारा पाती है और, हरिप्रसन्न के पलायन के अवसर पर इसी कारण वह कहती है : "कहो कि मैं अपने को नहीं मारूँगा"[3] अंग चाहना अपने को मारना ही है।

मगर ऐसे हरिप्रसन्न के चले जाने पर वह उसके लोभ से अपने को बचाती नहीं है, यही मुझे आश्चर्य में डालता और अच्छा नहीं लगता। वह श्रीकान्त से कहती है : "सच कहती हूँ, मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वे कहाँ गए। मुझे डर लगता है····।"[4]

अब प्रश्न यह है कि 'सुनीता' की मूल समस्या क्या है? मेरे खयाल से इसकी मूल समस्या यही हिंसा और अहिंसा का साहित्यिक तथा व्यावहारिक संघर्ष ही है, जिसमें अहिंसा की विजय और हिंसा की पराजय दिखाना जैनेन्द्रकुमार का परम लक्ष्य है, क्योंकि 'सुनीता' के सारे कथा-

---

१. 'सुनीता', पृष्ठ ८।

२. वही, पृष्ठ ४२-४३।

३. वही, पृष्ठ १८३।

४. वही, पृष्ठ १८७।

सूत्र यहीं आकर विलय हो जाने के लिए बुने गए हैं। अहिंसा की इस विजय के पश्चात् की कथा तो उपन्यास में मात्र-उपसंहार के लिए ही आई है और, जैसा कि सर्व-विदित है, अहिंसा की विजय की समस्या प्रेम के माध्यम से सामने रखी गई है, जिसके मूल में पति के प्रेम तथा प्रिय अथवा प्रेमी के प्रेम का संघर्ष है। पति का प्रेम सामाजिक तथा मानसिक संस्कारवश उभरा हुआ दिखाई पड़ता है और प्रिय अथवा प्रेमी के प्रेम में स्वच्छन्द तत्त्व (रोमाण्टिक एलिमेण्ट) है, जो प्रिय अथवा प्रेमी तथा प्रेयसी अथवा प्रेमिका के दमित काम से भी बहुत-कुछ संचालित है। समाज तथा मन के संस्कार वाला प्रति-प्रेम ही प्रबल है, जो अहिंसा को जगाता है, इस प्रकार संस्कारगत प्रेम ही विष भर दिखाया गया है। स्वच्छन्द तत्त्व वाला प्रेम शेष में दबता ही है, यद्यपि उसका लोभ वा मोह बना ही रहता है। ऐसी हालत में इन दोनों प्रेमों में दो-टूक निर्णय न लाकर उपन्यासकार ने अहिंसा की समस्या का साफ हल हमारे सामने नहीं रखा है, समस्या उलझी और धुँधली ही रह गई है। जो भी हो, संस्कारगत तथा स्वच्छन्द प्रेम को अहिंसा की समस्या—चाहे यह समस्या समस्या ही रह गई हो, उसका हल साफ न निकला हो—के माध्यम से सामने रखने के कारण ही 'सुनीता' का महत्त्व हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में स्थापित हुआ है और यह उपन्यास अपनी कोटि का अकेला हो गया है। इसलिए मैंने आरम्भ में ही कहा है कि अनेक विशिष्ट उपन्यासों की हिन्दी-साहित्य में रचना के बाद भी 'सुनीता' 'सुनीता' ही है।

यदुपति सहाय

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास—३

संन्यासी

ह्रास के इस युग पर परदा डालने में लेखक की शायद सबसे बड़ी सहायता उसके अवचेतन-प्रवेश ने की है। वर्तमान युग में वीरता और शौर्य का स्रोत सूख गया है। पुराने युगों की जो विराट् ऐतिहासिकता थी, वह यथेष्ट कथावस्तु के अभाव में समाप्त होती जा रही थी। यह ठीक है कि कल्पना सदा से ही यथार्थ की सीमा का उल्लंघन करती रही है और यथार्थ को वैभव एवं वैचित्र्यपूर्ण वस्तु में परिणत करती रही है। लेकिन ऐसे यथार्थ के बीच पड़कर जिसकी एक-मात्र विशेषता वैभव एवं वैचित्र्य-हीनता ही है, लेखक की असहाय और हताश कल्पना को केवल अपनी जादूगरी-भर का सहारा रह गया था। वंचिता कल्पना विवश हो गई कि वह अपनी जीवन-शक्ति अपने भीतर से ही ग्रहण करे या मन की उन वृत्तियों का सहारा ले जिनका प्रवेश पहले के सृजनात्मक साहित्य में परोक्ष रूप में ही होता रहा है। फलस्वरूप एक ओर तो हमें रूप के अन्धाधुन्ध प्रयोगों अथवा शिल्पगत विलक्षणता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर काव्य, नाटक अथवा उपन्यासों में नैतिक, सामाजिक एवं दार्शनिक पूर्वग्रहों के। दोनों ही लेखक के असामर्थ्य की उपज है: आज न तो वह घटनाओं को अतिरंजना द्वारा रोमाञ्चकारी बना सकता है और न उसके पास इतनी मजबूत बल्लियाँ ही हैं जिनके सहारे उसकी घटनाओं और क्रिया-शीलता के संसार का पिंजर खड़ा हो सके। और तब मनोविश्लेषण का अवतरण हुआ, जैसे लेखक की मौन प्रार्थनाओं पर वरदान मिल गया हो। परदा उठा और सामने एक समूचा संसार दिखलाई पड़ने लगा। खोई हुई 'क्रियाओं' का क्षति-पूर्ति ग्रन्थियों और आश्चर्यजनक 'प्रति-क्रियाओं' के अन्वेषण ने कर दी। महाकाव्यों की विशालता लौट आई—लेकिन उलटी होकर—और युद्धों और साहसिक चमत्कारों, राक्षसों और दैत्यों के स्थान पर मनोग्रन्थियाँ, कुण्ठाएँ, दमित वासनाएँ, उन्माद आदि की कथाएँ प्रारम्भ हुईं। जेम्स ज्वायस ने नई ओडेसी लिख डाली—डबलिन के एक छोटे-से भाग के परिवेश में—और चौबीस घण्टे की 'घटनाओं' को ७०० पृष्ठों में फैलाकर रख दिया।

स्वाभाविक था कि विश्लेषण की यह नई रीति उपन्यासकार के लिए विशेषतः मूल्यवान सिद्ध होती। नाटक के विपरीत, उपन्यास एक अप्रत्यक्ष दिग्दर्शन है, जिसमें लेखक का अन्तर्यामी मानस बराबर घटनाओं और क्रियाओं पर मँडराता रहता है। पहले यह अन्तर्यामी दृष्टि केवल परदे के पीछे घटने वाली घटनाओं अथवा चरित्रों के सचेत विचारों के कुछ संकेतों तक सीमित थी, भावचेतन और उसको बेचने की पद्धति के आविष्कार के उपरान्त, उपन्यासकार की भ्रमण-शीलता के अवसर हजार गुने हो गए। यथार्थवादी उपन्यास, इस नई अन्तर्वृत्ति को पाकर बाह्य

उपादानों और तथ्य के बन्धनों से अधिकतर मुक्त हो गया और लेखकों तथा पाठकों दोनों के लिए भौतिकता से पलायन का क्षेत्र प्राप्त हो गया। फिर भी, इस अन्तर्मुखी यथार्थवाद ने यथार्थवादी की व्यथा, विषाद और मलिनता की उलझन को और गहरा ही किया। क्योंकि फेफड़ों के लिए अवचेतन की हवा बहुत पौष्टिक नहीं होती : वह एक तहखाना है जिसमें घुटन है और बहुत-से कंकाल बन्द हैं। यह शंका अनुचित न होगी कि मनोविश्लेषण का व्यापक प्रकार उसके आन्तरिक वैज्ञानिक मूल्य के कारण उतना नहीं है जितना इस कारण कि वह हमारी 'परदाफ़ाश' करने की प्रवृत्ति और नैतिक अनास्था से मेल खाता है। अपने नियतिवाद के द्वारा मनोविश्लेषण ने हमें उतना आशंकित नहीं किया, जितना उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाने के लिए अवसर प्रस्तुत किया।

कलात्मक दृष्टि से मनोविश्लेषण उतना अनुपयोगी नहीं है, जितना नैतिक दृष्टि से। कला और साहित्य में सदा ही एक आत्मलीनता, अन्तर्वृत्ति—कुछ ऐसी वस्तु जिस पर सपने बुने जाते हैं—वर्तमान रही है। इस धुँधले संसार का कुछ गहरा परिचय निश्चय ही कृतिकार और आलोचक दोनों के लिए मूल्यवान होगा। फिर भी हमें यह बात विशेषकर ध्यान में रखनी होगी, कि अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों की भाँति मनोविश्लेषण भी सौन्दर्य-तत्त्व को सशक्त-भर कर सकता है, उसकी जगह नहीं ले सकता। अवचेतन की भरपूर और तिल-तिल खोज-बीन कर देने से ही उपन्यास नहीं बन जाता। हम चाहें या न चाहें, उपन्यास-सम्बन्धी बहुत-से सिद्धान्त, जो इस नये मनोविज्ञान के पहले ही बन गए, अब तक संगत और सत्य हैं। उपन्यास के लिए आवश्यक है कि उसमें कथा हो, प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, कथानक का विकास और कुतूहल हो, सौन्दर्यात्मक निखार हो, एकता और समुचित वातावरण हो। आज भी अधिकांश पाठक उपन्यास-कार से यही आशा रखते हैं कि वह कहानी सुनाये और जमकर सुनाए। निस्सन्देह 'कहानी' का तात्पर्य न तो मात्र घटना-क्रम है; और न केवल असहायावस्था में 'विचारों के स्वच्छन्द प्रवाह' में बहते जाना ही। सार्थक तारतम्य न केवल इतिवृत्ति बल्कि सौन्दर्य के लिए भी आवश्यक है। मनोविश्लेषक कृतिकार के साथ अनर्गलता का खतरा विशेष है। चेतन-मानस को भेदने के लिए न केवल नीति बल्कि तर्क और बुद्धि की अर्गलाएँ भी गड्ड-मड्ड अम्बार बनकर रह गईं। लगता है कि सार्थकता, तारतम्य, तर्क आदि तो सचेत मस्तिष्क की वर्जनाएँ हैं, जैसे व्याकरण, विराम-चिह्न या शिष्टाचार! अवचेतन में तो कोई भी वस्तु अनर्गल नहीं होती।

ठीक है, परन्तु उपन्यास में अनर्गलता सम्भव है, उस उपन्यास में भी जिसकी विषय-वस्तु अवचेतन मस्तिष्क हो। यदि उपन्यास का मूल्य सौन्दर्य के स्थान पर रोगी का इतिहास प्रस्तुत करने में हो तो बात दूसरी है, अन्यथा उसमें अपनी 'आन्तरिक-अनिवार्यता' से अधिक भी कुछ होना होगा। सिर्फ़ इतना कह देने से कि "यह कृति एक अनिवार्य परिणति है, लेखक की कुण्ठाओं की चमत्कारपूर्ण साक्षी है," इस कथन का उत्तर नहीं हो जाता कि "यह उपन्यास कड़ा है।"

× × ×

मनोविश्लेषण-शैली की इस भूमिका को ध्यान में रखते हुए, प्रश्न उठता है कि 'संन्यासी' जैसे उपन्यास का मूल्यांकन किन धारणाओं के अनुसार किया जाय। इस शैली के सभी कृतिकारों को यह उचित भय रहा है कि उनकी पुस्तकों का उपयुक्त एवं पर्याप्त मूल्यांकन शायद न हो

सके। सम्भवतः जोशीजी की भी यही धारणा हो। यह सत्य है कि जिन लोगों ने बड़ी आसानी से प्रेमचन्द या शरच्चन्द्र की महत्ता स्वीकार कर ली। या जो लोग रोचक घटनाओं के सीधे-सादे वर्णन-मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं, उन्हें इस पुस्तक की श्रेष्ठता को समझने के लिए अपनी साहित्यिक मान्यताओं में हेर-फेर करना पड़ेगा। वस्तुतः हर कृतिकार, जिसमें कुछ भी विशेषता है, हमारे साहित्यिक मानदण्डों में थोड़े-बहुत परिवर्तन की माँग करता है। क्योंकि हर कृति में एक अनोखापन होता है। यह परिवर्तन कुछ और मौलिक हो जाता है जब हमारे सामने न केवल एक नई कृति बल्कि एक नये प्रकार की कृति आ जाती है।

देखने में इतना तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास का रस लेने के लिए मनोविज्ञान की कुछ जानकारी आवश्यक ही है। लेकिन यदि हम इस पर कुछ अधिक मनन करें तो लगेगा कि बात न केवल अयथेष्ट है बल्कि भ्रामक भी। अयथेष्ट, क्योंकि उपन्यास मनोविज्ञान के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ होता है और भ्रामक? क्योंकि यदि लेखक की दृष्टि सचमुच मनोवैज्ञानिक ही है तो हर कृति उपन्यासकार की मनोविश्लेषणात्मक आत्म-कथा बनकर ही रह जायगी, यह स्थिति न लेखक के लिए श्रेयस्कर होगी न पाठक के लिए ही, क्योंकि फ्रायड के अनुसार तो न केवल साहित्य-सृजन बल्कि साहित्यिक रसिकता का भी मूल स्रोत 'कामना-पूर्ति' में ही निहित है। उसका कथन है कि कलाकार असम्भव, प्रभुत्व, ऐश्वर्य, ख्याति और स्त्रियों के प्रेम का अभिलाषी होता है। इन वस्तुओं को यथार्थ जीवन में न पाकर, वह वञ्चना करता है कि वे उसे प्राप्त हो गई हैं। यहाँ तक तो वह हममें से अधिकांश से भिन्न नहीं है। जो वस्तु उसे कलाकार बनाती है वह उसकी अद्भुत प्रतिज्ञा है जिसके बल पर "वह अपने दिवा-स्वप्नों को इस प्रकार विस्तार देता है कि उसका व्यक्तिगत स्वर, जो बाहरी कानों को खटकता है, लुप्त हो जाता है और वे स्वप्न दूसरों के लिए आनन्ददायक बन जाते हैं।" स्वप्न-सृष्टि-मात्र कृतित्व का ही स्रोत नहीं है; कृति को हम पढ़ते भी स्वप्न-सृष्टि—'कामना-पूर्ति'—के ही रूप में है। लेखक और पाठक के लिए बात और भी बेचैनी की हो जाती है जब हमारे चरित्र की लगभग हर प्रवृत्ति की व्याख्या प्रयास किसी-न-किसी यौन-ईर्ष्या अथवा दमित वासना के आधार पर होने लगता है, यहाँ तक कि किसी उद्यान का वर्णन करना या पढ़ना, बिना नारी शरीर को याद दिलाए, असम्भव हो जाता है।

फ्रायड की इन कठोर किन्तु असंदिग्ध स्थापनाओं के परिवेश में, यदि हम स्वयं कृति का ही मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने बैठ जायँ, तो इसमें कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी और 'संन्यासी' का लेखक हमसे इसकी अपेक्षा भी नहीं करता। हमें अपने मनोविश्लेषण को नन्दकिशोर तक ही सीमित रखना है। उसी प्रकार पाठक को भी प्रशंसा करने में हिचकिचाहट होगी यदि उसकी प्रशंसा के फलस्वरूप उसे नायक से एकाकार किया जाय—वह भी नायक की वेदना नहीं, बल्कि उसकी वेदना के स्रोतों से, जो बहुत दार्शनिक या आध्यात्मिक नहीं हैं। क्योंकि अपनी ऊब, थकान, उदारता, आदर्शवाद आदि के पीछे नन्दकिशोर 'यौन वर्जनाओं' का एक और रोगी ही है। पीड़ा, गलतफहमी, पथविभ्रम और भावुकता की इस विषादपूर्ण कथा का आरम्भ, जो शेक्सपीयर-जैसी विनाश (waste) की भावना में डूबी हुई है, जयन्ती के प्रति नन्दकिशोर के कुण्ठित आकर्षण के उसी क्षण में होता है जिसका अनुभव उसे आगरा जाने पर होता है। उसकी अहम्मन्यता और आत्म-रति बराबर उसके और दूसरों के, विशेषतः स्त्रियों

के, सम्बन्धों के बीच दीवारें खड़ी करता है। किन्तु इससे उसकी वह पीड़ा कम नहीं होती जिसका जन्म उसके प्रति उनके शंकालु व्यवहारों में होता है। नन्दकिशोर उन व्यक्तियों का साधारण प्रतीक है जो वर्जनाओं से उत्पन्न अपने संकोच को नैतिक व्यवधानों अथवा पीड़ित आदर्शवाद की चादर में ढँक लेने का प्रयास करते रहते हैं। जिस ढंग से वह जयन्ती के आकर्षण को देखता और वर्णन करता है, जिस प्रकार जयन्ती की अभिलाष्य किन्तु साथ ही प्रतिरोधात्मक छवि उसकी कल्पना को चीर देती है उससे ही उसका यौन-आकर्षण स्पष्ट हो जाता है। किन्तु उसके मन में जयन्ती की एकान्तवृत्ति का आतंक भी है। उस अवसर पर और अन्य अवसरों पर भी, चिरन्तन नारी-रहस्य-सम्बन्धी उसके विचार-वितर्क, उसकी विफल कुण्ठा के लिए अशक्त आश्वासन-मात्र बनकर रह जाते हैं। आगरा की उस यात्रा के पश्चात् नन्दकिशोर कथा के समस्त घात-प्रतिघात में, यौन-कुण्ठा की निर्मम लहरों पर, बेबस बहता जाता है।

"कुछ दिनों से जिस घोर अवसाद का भाव मेरी छाती को जकड़े था, उसकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।"

उसकी मानसिक विकृति, बौद्धिक यन्त्रणा, उसके संशय और सन्देह, ईर्ष्या, कड़वाहट, विक्षिप्तता, मतिभ्रम, पर-पीड़न अथवा आत्म-पीड़न की तत्परता, परिताप अथवा करुणा, कभी उदासी और कभी थकान—तुक और बेतुक की इस समूची भागदौड़ में उसी एक प्रेत की छाया है, वही डूबा हुआ प्राथमिक कारण, जयन्ती के प्रति उसकी भग्न कामना है, जिससे वह किसी तरह बच नहीं पाता। वही वस्तु है जिसका उदात्तीकरण कभी सहज भावुकता और कभी दार्शनिक विद्वत्ता से नन्दकिशोर विराट् नियतिवाद के रूप में करता रहता है।

फिर भी, चरित्र का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पुस्तक के साहित्यिक मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं है, उसी तरह जैसे इस समस्त कथा-स्रोत लेखक के अवचेतन की काम-वासना में खोजने का प्रयास वृथा है। साहित्यिक आलोचना के लिए मौलिक प्रश्न फिर भी बना रहता है: यह नहीं कि चरित्र जैसा है वैसा कैसे हुआ, बल्कि उसका चित्रण कैसे किया गया है, उसका समन्वय सारी कथा के साथ किस प्रकार हुआ है? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नायक अथवा लेखक के मनोविज्ञान का अन्वेषण ही काफी नहीं है, आवश्यकता है उस कला का परीक्षण करने की जिसने उसे चित्रित किया है और यह समझने की कि कल्पना की पैठ और अभिव्यंजना-शक्ति, इन दोनों को किस प्रकार समन्वित किया गया है। अर्थात् यह कि इस पुस्तक की समीक्षा किसी अन्य उपन्यास के समान ही—कथा, चरित्र-चित्रण और जीवन की व्याख्या के आधार पर—होनी चाहिए।

केवल दो ही ऐसी रीतियाँ हैं। जिनके द्वारा हम किसी कला-कृति की संवेदना को व्यक्त कर सकते हैं। मनोविज्ञान उसे स्वप्न-सर्जना (Phantasy) द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करेगा, जिससे लेखक व पाठक दोनों को ही कामना-पूर्ति की उपलब्धि होती है। इस दृष्टिकोण की एकांगिता स्वयं फ्रायड ने उस स्थल पर स्वीकार की है, जब यह कहने के उपरान्त कि उन गीतों की भी मनोवैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की जा सकती हैं, जिन्हें हम अनजाने ही गुनगुनाया करते हैं, वह यह भी जोड़ देता है कि "मैं एक अपवाद भी स्वीकार करता हूँ: यह कि मेरा मत उन लोगों पर लागू नहीं किया जा सकता, जो वस्तुतः संगीतकार हैं।" फ्रायड के कल्पना-सम्बन्धी सिद्धान्त को विकसित करने के लिए इस छूट को मानना आवश्यक है। ट्रोलोप (Trollope)

का कथन है कि उसके उपन्यासों का उदय 'हवाई-किलों' (Castle-building) से हुआ और "निःसन्देह मैं स्वयं अपना नायक था।" किन्तु वह यह भी कहता है कि "कालान्तर में मैंने अपने पूर्ववर्ती स्वप्नों के नायक का परित्याग कर दिया और अपने व्यक्तित्व को कृति से पृथक् करने में सफल हो सका।" इस 'नायक के परित्याग' को फ्रायड उस 'विस्तार'(Elaboration) की संज्ञा देंगे, जो 'खटकने वाले व्यक्तिगत स्वर' को तिरोहित कर देता है। मेरा मत है—मनोवैज्ञानिक भी इससे उपसहमत न होंगे कि किसी कृति का उद्भव चाहे आत्मनिष्ठ मानसिक तरंगों (Self-regarding reverie) में ही क्यों न हुआ हो वह अपने पूर्व-स्वरूप को छोड़कर ही कला का परिधान पहनती है। जिस मूल से उस स्वप्न की उत्पत्ति हुई थी, उसे वहाँ से उखाड़कर एक नई धरती पर आरोपित कर दिया जाता है। इसके पूर्व कि कला के रूप में उद्भव हो। स्वप्न (Fantasy) के रूप में उसका अवसान हो जाता है। 'विकास' की इसी प्रक्रिया के द्वारा 'आत्मगत' (Self regarding) कल्पना की परिणति वस्तुगत (Other-regarding) कल्पना में हो जाती है। यह'विकास' की प्रक्रिया अपेक्षा करती है कि असंगतियों को दूर किया जाय, संस्कारहीनता को हटाया जाय, व्यक्तिगत मूल्यों एवं सम्बन्धों का परिहार करके उनके स्थान पर अनुपात 'अवकाश' (relief) एवं संयम का सन्निवेश किया जाय।

इस प्रकार सौन्दर्यगत प्रेषणीयता के अनुशासन को स्वीकार करके कल्पना मुक्त हो जाती है, अर्थात् लेखक के निजी स्वप्नों और प्रयोजनों से उसे छुटकारा मिल जाता है। इस क्रम में किसी कृति की प्रभावोत्पादकता की व्याख्या करने की दूसरी रीति यह है कि पाठक कल्पना की इस 'मुक्त' हो जाने की प्रक्रिया में भाग ले सके। जब हम यह कहते हैं कि कलात्मक प्रसार के पीछे फैंटेसी (Fantasy) का तत्त्व विद्यमान है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि सौन्दर्यजन्य रस आत्मतुष्टि का केवल छद्म रूप है। क्योंकि साहित्यिक समीक्षा के अन्तर्गत यह सम्भव ही नहीं, आवश्यक भी है कि कथानक, वर्णन, विवरण, चित्र, आलंकारिक भाषा अथवा अभिव्यक्ति के अन्य तत्त्वों का उनकी अपनी और सौन्दर्यात्मक विशेषता के आधार पर मूल्यांकन किया जाय, न कि उन्हें केवल अवचेतन-मीमांसा के प्रतीकों और संकेतों के रूप में स्वीकार किया जाय।

जब इस बात पर आग्रह किया जाता है कि 'संन्यासी'-जैसी कला-कृति का मूल्यांकन एक बिलकुल नये दृष्टिकोण की अपेक्षा करता है, तो आलोचना से यह माँग की जाती है कि वह एक तथाकथित वैज्ञानिक अध्ययन के पक्ष में हथियार डालकर अलग हो जाय। किन्तु आलोचना को बराबर ऐसे प्रश्न पूछने का अधिकार है, जो मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, हो सकता है कि नन्दकिशोर मनोवैज्ञानिकों का मनोवांछित एक आत्मकेन्द्रित व्यक्ति (Introvert) हो। उसकी प्रतिक्रियाएँ, स्मृतियाँ, कामनाएँ, आशंकाएँ; उसकी उच्छल उत्फुल्लता और तोड़ देने वाली निराशा रोचक हो सकती है और है भी। किन्तु पाठक को फिर भी लगता है कि इस प्रकार के चरित्र में 'विकास' नहीं होता। एकाग्रता का यह उद्देश्य नहीं है कि गति ही समाप्त हो जाय और न नियतिवाद के निर्धारित भविष्य का ही यह तात्पर्य है कि स्वतन्त्रता का एक अंश भी न रह जाय। जोशीजी के शैलीगत प्रवाह और कल्पनात्मक प्रतिभा द्वारा नायक के इस आत्मसंकोच (Introvertion) का सौन्दर्यात्मक दृष्टि से आंशिक परिहार ही हो पाता है। मेरे विचार में 'संन्यासी' के वे स्थल सर्वोत्कृष्ट हैं जहाँ मूर्त कल्पनाओं के बहुरंगी तानों-बानों से नायक की मनोवृत्ति का सजीव और सप्राण

चित्रण किया गया है; जहाँ भावनाओं की अभिव्यंजना हुई है न कि केवल उनका वर्णन। वे स्थल अपेक्षाकृत शिथिल हैं जहाँ नन्दकिशोर स्वयं अपने से वाद-विवाद करने लगता है। उन अंशों में एक तरह की बौद्धिक औपचारिकता है जिसका चरित्र-चित्रण से सीधा सम्बन्ध नहीं है। ये तर्क-वितर्क—कुछ अपनों से कुछ दूसरों से—रोचक और विवेकपूर्ण हैं, किन्तु सार्थक तारतम्य और प्रभावपूर्ण समन्वय की दृष्टि से चिन्त्य हैं। लगता है कि नन्दकिशोर तर्क-वितर्क और मानसिक प्रतिक्रिया की जानी-पहचानी गलियों में आसानी से भटक जाने के लिए सदैव तत्पर है। शायद इसी कारण उसके चरित्र में 'विकास' के अभाव का अनुभव होता है। नन्दकिशोर की सारी छटपटाहट और जटिल दीखने वाली मानसिक प्रक्रिया के पीछे एक तरह की स्थिरता है जिसे मनोवैज्ञानिक नियतिवाद कह सकते हैं; किन्तु कलात्मक दृष्टि से यह स्थिरता खटकती है।

'संन्यासी' के सशक्त और दुर्बल स्थलों का अन्वेषण करने पर यह कहना सम्भव है कि जोशीजी की प्रतिभा मूलतः कवि-प्रतिभा ही है। घटनाओं अथवा स्थितियों के वर्णन को छोड़-कर जब जोशी जी दृश्यों अथवा भावनाओं का चित्रण आरम्भ करते हैं तब उनकी शैली की शक्ति और प्रवाह का दर्शन हमें होता है। उनकी कल्पना को जैसे आत्मीयता प्राप्त हो जाती है और कवि-सुलभ सरलता एवं व्यञ्जना से वह हमें मुग्ध कर लेते हैं। इस शक्ति का परिचय हमें प्राकृतिक दृश्यों, स्थानों अथवा मनोभावों, सभी के चित्रण में मिलता है, जहाँ कवि-कल्पना के मुखर होने का थोड़ा भी अवसर प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए सत्रहवें परिच्छेद में गंगा-तट के चित्रण में हमें अपूर्व तन्मयता एवं मुक्त प्रवाह की उपलब्धि होती है। ऐसे स्थलों पर जोशीजी की शैली स्वभावतः ओजपूर्ण, वेगवती और उदात्त हो जाती है। अन्य स्थलों पर भी लगता है कि जोशी जी की सौन्दर्यात्मक अनुभूति के पीछे एक विराट् तत्त्व का आभास है। जीवन की अँधेरी, कर्दमपूर्ण और नीरस गलियों में भटकते-भटकते जहाँ कहीं भी जोशी जी को उस विराट् का आंशिक प्रकाश भी मिल जाता है, चाहे वह मानवीय भावनाओं में हो अथवा प्राकृतिक दृश्यों में, वहाँ वह औपन्यासिक धुन्ध के सारे वातावरण को चीरकर अपनी आत्मा के पूरे वेग के साथ उस प्रकाश का साक्षात्कार करते हैं। जहाँ इस प्रत्यक्ष साक्षात्कार में असफलता मिलती है, वहाँ वे अपने साथ हमें भी प्रभावहीन विचार-वितर्कों में उलझा देते हैं। जोशीजी की शैली अपनी शक्ति को चलती हुई, मुहावरेदार और लचकीली भाषा में व्यक्त नहीं करती। इसके पहले कि वह अपने शिल्प की जादूगरी से हमें मुग्ध कर सकें, यह आवश्यक होता है कि विषय-वस्तु का स्तर कुछ ऊँचा उठाया जाय, उसे एक स्वप्निल उदात्तता प्रदान कर दी जाय। फिर भी, कहीं-कहीं इस उदात्तता के साथ भी, उनकी शैलीगत तन्मयता छूट जाती है जैसे कल्पना की इस कवि-सुलभ उड़ान के बीच उन्हें फिर वही कर्दमपूर्ण यथार्थ याद आ गया हो, और तब शैली की एकता भंग हो जाती है। इसका परिणाम, कभी-कभी एक विचित्र भावनात्मक स्खलन होता है, जो अखर जाता है। उदाहरणतः, अत्यन्त गम्भीर और विषादपूर्ण स्थिति में भी जोशीजी अपने को लिखने से रोक नहीं पाते : "लाचार कफ़ू की तरह मुँह बनाकर वहीं बैठ गया।" या उसी प्रकार का एक दूसरा अत्यन्त गम्भीर और जबरदस्त भावनात्मक तनाव का स्थल वह है जब नन्दकिशोर के बड़े भाई सहसा प्रयाग आ जाते हैं और उसकी समस्त प्रेम-लीला को छिन्न-भिन्न करके उसे घर चलने का आदेश देते हैं। सम्भवतः यह स्थल उपन्यास का चरमो-त्कर्ष भी है। जोशीजी की लेखनी अपने पूरे प्रवाह और शक्ति के साथ स्थिति का चित्रण करती

है। तभी सहसा हमें मिलता है "भैया की इस बात से मेरी चिन्ता का जो तार बज रहा था वह टूट गया और एक नया तार 'पिन्न-पिन्न' करने लगा।" शैलीगत स्खलन के इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जो पाठक के मन में खीझ से अधिक कुछ भी नहीं उत्पन्न करते।

इसके विपरीत, उन स्थलों में जहाँ साधारण घटनाओं का वर्णन-मात्र अभीष्ट है, जोशी-जी की शैली श्लथ, अवरुद्ध और स्फूर्तिहीन हो जाती है। हमें उनमें यथार्थवादी की वह शक्ति नहीं मिलती जो जीवन की छोटी-छोटी, नीरस और शृङ्खलाबद्ध घटनाओं को जीवन्त, प्रखर और मूर्त बनाकर हमारे सामने खड़ा कर दे। इस प्रकार के उपन्यास में बाहरी घटनाओं और व्यापार-शृङ्खला का स्थान गौण ही होता है; लेखक का मुख्य अभीष्ट चरित्रों के चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क पर उनके प्रभाव का दिग्दर्शन ही होता है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि दोनों में एक संयोजन एवं समन्वय हो, एक संसार से दूसरे संसार में गति सहज और अनवरुद्ध हो। 'संन्यासी' में कथा के इन दोनों स्तरों में न केवल शिल्पगत असमानता है बल्कि ज़रा भी इशारा पाते ही बाह्य संसार से भागकर अन्तर्मन में सहसा भाग जाने की आतुरता भी लक्षित होती है। लगता है जैसे किसी स्थिति का वर्णन करते-करते लेखक व्याकुल है कि कब मानसिक प्रक्रिया की ओर लौट जाय। या तो इसका कारण जोशीजी का औपन्यासिक उद्देश्य हो सकता है, कि कारणों से अधिक उनके मानसिक प्रभावों का दिग्दर्शन कराया जाय। या यह कि सम्भवतः उन्हें अपनी विश्लेषणात्मक प्रतिभा पर अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा से अधिक विश्वास है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

विराट् तत्त्व की काव्यात्मक अनुभूति के इस आग्रह का प्रभाव 'संन्यासी' के कथोपकथन में भी परिलक्षित होता है। सजीव और सम्मोहक कथोपकथन मूलतः जीवन के साधारण, नगण्य एवं महत्त्वहीन व्यापारों से ही उत्पन्न होता है। फलतः कथोपकथन—विशेषतः गद्य-उपन्यास के कथोपकथन में तत्त्वतः इस विराट् तत्त्व का निषेध उपस्थित रहता है। सफल उपन्यासकारों के सामने यह समस्या बराबर रही है और उसका निराकरण सम्भवतः इसी आधार पर हुआ है कि कथोपकथन को विचार-प्रक्षेप या चिन्तन की उत्तेजना का वाहक न बनाकर केवल भावना एवं मूर्त सजीवता के लिए ही प्रयुक्त किया जाय। स्पष्टतः इसका अर्थ है, कवि-कल्पना का अपकर्ष। इस तात्त्विक समस्या ने ही 'संन्यासी' के कथोपकथन में वह विरोधाभास उत्पन्न कर दिया है, जिसे हम लेखक की सफलता का प्रमाण नहीं कह सकते।

'संन्यासी' के कथोपकथन में एक अजब-सी निर्जीवता है और स्वाभाविक प्रवाह का अभाव है। साधारण बातचीत में भी व्याख्यान बन जाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। अनावश्यक विस्तार, वाक्यों की जटिलता, विचारों में द्वन्द्व-चमत्कार, अथवा सन्तुलन, या बोझिल शब्द-चयन, कुल मिलाकर अधिकांश कथोपकथन अत्यन्त औपचारिक और श्रमसाध्य लगते हैं।

यही नीरस श्रमसाध्यता जोशीजी के कथोपकथन में बराबर मिलती है। विषय चाहे कम्युनिज़्म हो या भाग्य हो, प्रेम हो अथवा इधर-उधर की छुटपुट निरर्थक बातचीत ही हो। इस दृष्टि से शैली में परिवर्तनशीलता, औचित्य और स्वाभाविकता का अभाव है। जिनमें भावनात्मक तनाव या चरम तीव्रता बराबर बनी रहती है ऐसे उपन्यासों एवं नाटकों में भी, कथोपकथन ही एक मुख्य माध्यम होता है जिससे पाठक को कुछ राहत या अवकाश मिल पाता है। लेकिन 'संन्यासी' में मनोवैज्ञानिक अथवा भावनात्मक आवेगों के बीच इस 'राहत' की प्राप्ति नहीं

होती। और जैसे ही पाठक अवचेतन की अन्धी गुफाओं से निकलकर ऊपर आता है, चेतन मस्तिष्क की परिश्रमपूर्ण प्रक्रियाओं में जकड़ जाता है।

एक विशिष्ट वर्ग के पाठक को उपन्यास में सिर्फ निराशा, अन्धकार और अवसाद ही दीखेगा। किन्तु इससे इन्कार करना कठिन है कि 'संन्यासी' अपने शिल्प के सन्दिग्ध स्थलों, अपनी भूलों, काव्य-जागरूक शैली के बावजूद भी मन पर जबरदस्त प्रभाव डालता है और यह प्रभाव अनिवार्य रूप से न तो रोगग्रस्त है और न भावावेश-मात्र ही। हाँ, शायद रोगग्रस्त अथवा भावावेशपूर्ण पाठक इस उपन्यास का शंकाओं के साथ रसास्वादन करेंगे। यदि हम मार्क्स-वादियों की भाँति इस उपन्यास का मूल्यांकन करें तो दो शब्दों में क्षयग्रस्त कहकर इस कृति को बहिष्कृत कर सकते हैं। मार्क्सवादियों के लिए यह उपन्यास निराशा और कुण्ठा को वैभवपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास-मात्र ही सिद्ध होगा। परन्तु मैंने इस उपन्यास का कलात्मक विहंगावलोकन करने की चेष्टा की है; न मनोविज्ञान को ही त्रुटियों के लिए उचित क्षति-पूात समझा है और न मार्क्सवाद को ही आलोचनात्मक मानों का आगार माना है। मैं मानता हूँ कि 'संन्यासी' की दुनिया अन्धकार से भरी है, जिसमें स्त्री-पुरुष तीव्र यन्त्रणाओं के शिकार होते हैं, जिसमें मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक असंगतियों की व्यापक प्रेत-छाया है। यह दुनिया धुन्ध और भावनात्मक तनाव से भरी हुई है। उसमें डूबना-उतराना कमजोरी होगी परन्तु उसकी शक्ति और सचाई का अनुभव करना स्वस्थ मानस और तनाव-रहित समाज के प्रति हमारी स्वाभाविक आकांक्षा के विरुद्ध नहीं पड़ता।

बच्चनसिंह

मध्यवर्गीय वस्तु-तत्त्व का विकास

उपन्यास और मध्य वर्ग : एक समानान्तरता

पाश्चात्य देशों तथा भारतवर्ष के उपन्यासों के आविर्भाव और मध्य वर्ग के उदय में एक नैसर्गिक समानान्तरता दिखाई पड़ती है। अठारहवीं शताब्दी के यूरोप में जिस नवीन मध्य वर्ग का उदय हुआ उसके वैषम्यपूर्ण, संघर्षमूलक तथा अनिश्चित जीवन से महाकाव्यों के सुनिर्दिष्ट उदात्त आदर्शों का मेल कभी सम्भव न था। विषय तथा रूप-विन्यास दोनों दृष्टियों से उपन्यास इस वर्ग के सर्वथा अनुकूल था। मध्यवर्गीय बौद्धिकता, तार्किकता और जीवन की जटिलता काव्य की भावनामूलक परिधि में नहीं अँट सकती थीं, उन्हें किसी ऐसे रचना-प्रकार की आवश्यकता थी जो काल्पनिक होते हुए भी यथार्थता के अधिक निकट हो। इसी रचना-प्रकार को उपन्यास की अभिधा मिली।

भारतवर्ष में मध्य वर्ग का उदय १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। इस देश के सामन्तीय ढाँचे पर, जो यूरोपीय सामन्तीय ढाँचे से बहुत-कुछ भिन्न था, अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सांघातिक प्रहार किया। उसका ढाँचा बुरी तरह छिन्न-भिन्न होकर भू-लुण्ठित हो गया। विदेशियों के भयंकर-से-भयंकर आक्रमण, गृह-युद्ध की सर्वग्रासी लपटें, दुर्निवार दुर्भिक्ष, निर्मम लूट-खसोट आदि अनेक भौतिक बाधाएँ भारत के जिस रूढ़ आर्थिक ढाँचे को बदल न सकीं उसे ब्रिटिश साम्राज्यवादी संघातों ने आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया।[1] इस विध्वन्स के मूल में अंग्रेजों की दृष्टि कभी भी निर्माणात्मक नहीं रही। लेकिन अंग्रेजों के न चाहने पर भी इतिहास की गत्यात्मक प्रवृत्ति ने निर्माण का कार्य अपने-आप प्रारम्भ कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में भारतीय पूँजीपतियों ने प्रवेश किया। इस शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में व्यावसायिक वर्ग की एक रूप-रेखा बन चुकी थी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नींव को सुदृढ़ करने के लिए खोले गए स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों ने एक शिक्षित मध्य वर्ग (वकील, डॉक्टर, अध्यापक, राजकीय शासक) को पैदा किया। ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज और थियोसॉफी का सांस्कृतिक आन्दोलन मध्यवर्गीय चिन्तन के फलस्वरूप ही देश को नई दिशा दे सका। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इसी समय हुई। यह आन्दोलन भी मध्यवर्गीय आन्दोलन ही है। यद्यपि अभी मध्यवर्ग निर्मित हो रहा था फिर भी उसमें वह ज्योति उत्पन्न हो चुकी थी जो आगे चलकर

---

१. Marx, The British Rule in India, New york Tribune June, 28, 1853,

सारे देश को आलोकित कर सकी।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) के आविर्भाव और मध्य वर्ग के उदय में उपरिनिर्दिष्ट समानान्तरता दीख पड़ती है। अभी तक यह वर्ग एक अनिर्दिष्ट अवस्था में था, किन्तु व्यापारी और साहूकार-वर्ग की स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी। 'परीक्षा गुरु' का लेखक स्वयं एक श्रीमन्त परिवार में पैदा हुआ था। इस उपन्यास का नायक लाला मदनमोहन, दिल्ली का एक सेठ है जो मध्यवर्गीय झूठी प्रतिष्ठा और सम्मान में उलझकर ऋण के गहरे गर्त में गिर चुका था। एक सच्चे मित्र की सहायता से उसका उद्धार हुआ।

मध्य वर्ग की एक बहुत बड़ी कमजोरी है—अपनी स्थिति से बढ़कर अपने को प्रदर्शित करने की स्पृहा। लालाजी इसी मरज़ के मरीज़ हैं। मास्टर शिम्भूदयाल का कहना है—"देखिए जब से लालाजी यह और चाल भी चलने लगे हैं लोगों में इनकी इज्ज़त कितनी बढ़ती जाती है।"

इस समय का मध्य वर्ग एक राष्ट्रीय चेतना का भी अनुभव करने लगा था, लेकिन विदेशी सत्ता को चुनौती देने की क्षमता उसमें नहीं थी। वह ब्रिटिश शासन को अपना मित्र मानता था। भारत की अधोगति का कारण यहाँ के निवासियों का अज्ञान और असावधानता है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए 'परीक्षा गुरु' के मध्यवर्गीय पात्र नये स्कूल-कॉलेजों की स्थापना करते हैं। भारत के प्राकृतिक साधनों को उपयोग में ले आने की चिन्ता करते हैं। आज का स्वतन्त्र भारत जिन प्राकृतिक साधनों के आधार पर देश को धन-धान्यपूर्ण बनाने की चेष्टा कर रहा है, उसका स्वप्न उस समय का मध्य वर्ग देख चुका था—"हिन्दुस्तान की भूमि में ईश्वर की कृपा से उन्नति करने के लायक सब सामान बहुतायत से मौजूद हैं केवल नदियों के पानी ही से बहुत तरह की कलें चल सकती हैं····।"

किशोरीलाल गोस्वामी ने भी अपने पात्रों का चुनाव मध्य वर्ग से ही किया, किन्तु उनका चित्रण रोमांटिक प्रेम-पद्धति पर हुआ है। उनके उपन्यासों पर रीतिकाल के नायक-नायिका-भेद की गहरी छाप है। यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण है कि मध्य वर्ग के उदय के पश्चात् देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, व्रजनन्दन सहाय, गोपालराम गहमरी आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं का अंकन नहीं किया? क्या उपन्यास और मध्य वर्ग के युगपत् अभ्युदय का सिद्धान्त असंगत है?

इस प्रकार की असंगतियों का भ्रम इसलिए उत्पन्न होता है कि हम साहित्यिक ऐतिहासिक काल-विभागों को अलग-अलग इकाई मान लेते हैं। एक पीढ़ी की विचार-धारा दूसरी पीढ़ी की विचार-धारा से सर्वदा भिन्न नहीं होती—हो नहीं सकती। एक काल दूसरे काल में प्रच्छन्न रूप से समाहित रहता है। इसलिए साहित्य के विकास को एक अविच्छिन्न परम्परा के रूप में देखना अधिक वैज्ञानिक और संगत है। इस नये युग में रीतिकाल की विचार-धारा सूख नहीं पाई थी। काव्य के माध्यम से ही नहीं उपन्यास के माध्यम से भी इसका बहुत-कुछ पोषण हो रहा था। तिलिस्मी उपन्यासों पर सामन्ती लदाव स्पष्ट देखा जा सकता था। मध्य वर्ग की अनिर्णीत अवस्था के कारण भी उपन्यासों को कोई सुनिश्चित रूप नहीं मिल पा रहा था।

पहले ही कहा जा चुका है कि १९वीं शती के अन्तिम दशक तक मध्य वर्ग के विभिन्न स्तरों का निर्माण नहीं हो पाया था। कांग्रेस के इतिहास का अनुशीलन इस तथ्य की पुष्टि करता है।

लेकिन १६१४ तक मध्यवर्ग अपने सम्पूर्ण अवयवों में पुष्ट हो चुका था। १६०७-८ में कांग्रेस जिस उच्च मध्यवर्ग के हाथ में रही वह प्रतिक्रियावादी हो चुका था। इस समय आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग कई स्तरों में विभाजित था। उच्च-मध्यवर्ग की नीति बहुसंख्यक व्यक्तियों की नीति के विरुद्ध पड़ती थी। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है—'Socially speaking, the revival of indian Nationalism in 1970 was definitely reactionary'. १६१४ तक के विकसित मध्य वर्ग की अनेक समस्याओं को प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' में अंकित किया है।

कुल-मर्यादा

१६१४ के पूर्व तथा इसके पश्चात् भी कई वर्षों तक मध्य वर्ग की मर्यादा उसकी कुल-प्रतिष्ठा तक सीमित दिखाई पड़ती है। शताब्दियों प्राचीन जातीय श्रेष्ठता द्विजातियों के रक्त में मिल गई थी, इसे सहसा उनसे अलग नहीं किया जा सकता था। यह कुल-प्रतिष्ठा अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं रखती, सामाजिक सम्बन्धों में ही इसका रूप निरूपित होता है और सामाजिक सम्बन्धों का मूल्यांकन पैसों में किया जाता है। सच पूछिए तो मध्य वर्ग (उच्चमध्य, मध्य और निम्नमध्य) सर्वहारा की भाँति स्वयं में पूर्ण इकाई नहीं है। इस वर्ग की विस्तृत सीमा में कई आर्थिक स्तर के व्यक्ति सम्मिलित हैं। आर्थिक एकरूपता के अभाव में इनके स्वार्थों में पर्याप्त संघर्ष दिखाई पड़ता है। आर्थिक भिन्नता के फलस्वरूप इनकी मर्यादा के घेरे भी अलग-अलग हैं, यद्यपि प्रकाश्य रूप से वे इसे स्वीकार नहीं करते। कौटुम्बिक और सामाजिक मर्यादा तथा आर्थिक अनिश्चितता की चक्की के दो पाटों के बीच यह वर्ग बराबर पिसता रहता है। कौटुम्बिक तथा सामाजिक मर्यादा चक्की का ऊपरी पाट है तो आर्थिक असन्तुलन चक्की का निचला पाट। इन समस्त प्रवृत्तियों का अंकन 'सेवा सदन' (१६१४) में अच्छी तरह हुआ है।

'सेवा सदन' का प्रतिपाद्य क्या है? क्या इसमें वेश्या-जीवन की समस्या उठाई गई है? क्या इसे हम भारतीय नारी की समस्या कह सकते हैं? 'सेवा सदन' की परिसमाप्ति के आधार पर जो लोग इसमें वेश्या-जीवन की समस्या देखते हैं अथवा नारी की अनेक दयनीय स्थितियों के आधार पर नारी-जीवन की समस्या देखते हैं वे समग्र रूप से 'सेवा सदन' का आकलन नहीं कर पाते। वास्तव में 'सेवा सदन' में नारी-जीवन की वह व्यथापूर्ण कथा है जो उपरिलिखित दो पाटों के बीच पिस रही है। मध्य वर्ग की पूरी परिधि, जिसमें निम्न-मध्य वर्ग, मध्य वर्ग और उच्च-मध्य वर्ग तीनों का सन्निवेश देखा जाता है, 'सेवा सदन' में अंकित की गई है।

मध्य वर्ग की नैतिकता और मर्यादा भीतर-भीतर चाहे जितनी सड़ गई हो, उसकी चिन्ता किसी को नहीं रहती। हाँ, उसे बाहर नहीं प्रकट होना चाहिए। 'सदन' इसका प्रतिनिधि उदाहरण है। सुमन ने मध्य वर्ग की इस प्रवृत्ति का पर्दाफाश करते हुए 'सदन' को खूब आड़े हाथों लिया है····
"और तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इसलिए किया कि मैं उसकी बहन हूँ। जिसके पैरों पर तुमने वर्षों नाक रगड़ी है।···उस समय भी तो तुम वही उच्च-कुल के ब्राह्मण थे या और कोई थे? तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक न कटती थी।····अँधेरे में जूठा खाने पर तैयार, पर उजाले में निमन्त्रण भी स्वीकार नहीं।···"

पद्मसिंह मध्य वर्ग के उन व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो पुराने संस्कारों और नवीन विचारों

के द्वन्द्व में उलझे हुए हैं। उनके नवीन विचार पुराने संस्कारों के सामने बराबर पराजित होते जाते हैं। इसके फलस्वरूप उसके आदर्श और व्यवहार में गहरी असंगति दिखाई पड़ती है। फिर भी सब मिलाकर उस समय के लिए उसके कार्य सर्वथा प्रगतिशील हैं।

'निर्मला' में मध्य वर्ग की केवल स्थूल समस्याएँ—दहेज-प्रथा और अनमेल विवाह—ही नहीं ली गई हैं, बल्कि पारिवारिक सम्बन्धों की गहरी झाँकी भी प्रस्तुत की गई है। मध्य-वर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों का जो सूक्ष्म और भावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है उसका महत्त्व स्थूल सामाजिक समस्याओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर है। तोताराम का सारा परिवार आर्थिक दृष्टि से उनका आश्रित है अतः परिवार के किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्र भावना का कोई मूल्य नहीं है। पत्नी और पुत्र दोनों को वे अपने पैसों का गुलाम समझते हैं। इसलिए उनके लिए जरूरी है कि वे तोताराम के अंगुलि-निर्देश का अर्थ समझें। ऐसा न समझने के कारण उन्हें अपने जीवन की बलि चढ़ानी पड़ी।

प्रेमचन्द का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास, जिसमें मध्य वर्ग की दो प्रमुख कमजोरियाँ—कुल-मर्यादा और आत्म-प्रतिष्ठा का आकलन हुआ है, 'गबन' है, रमानाथ टिपिकल मध्यवर्गीय पात्र है। आर्थिक दृष्टि से वह सर्वहारा के अधिक निकट है किन्तु कौलीन्य की दृष्टि से उच्चमध्य-वर्ग के। पूँजीवादी उत्पादन की एक विशेष आर्थिक स्थिति ने ही उसे यह प्रतिष्ठा प्रदान को है। ऊपर-ऊपर से वह इस प्रतिष्ठा को जितना ही कायम करना चाहता है भीतर-भीतर से यह उतनी ही उसकी पहुँच के बाहर होती जाती है।

सेवा सदन (१६१४) और 'गबन' (१६३०) के प्रकाशन के बीच १६ वर्षों का लम्बा समय बीत चुका था। अतः दोनों उपन्यासों के पात्रों में कुछ स्पष्ट पार्थक्य दिखाई पड़ता है। 'सेवा सदन' के पात्र अभी तक साहसपूर्ण निर्णयात्मक कदम नहीं उठा सकते थे। सिद्धान्त-रूप से सामाजिक बुराइयों को दूर करने का विस्तार रखते हुए भी सामाजिक अप्रतिष्ठा के डर से वे द्वन्द्वात्मक स्थिति में दिखाई पड़ते हैं। 'सेवा सदन' में पुरुष-वर्ग तो क्रियाशील परिलक्षित होता है किन्तु स्त्रियों में अपने-आप परदे से बाहर निकलकर काम करने की शक्ति नहीं है। 'गबन' की जालपा और रतन अपनी वास्तविक स्थिति पहचानकर आत्म प्रतिष्ठा और दम्भपूर्ण कौलीन्य का चोगा उतार फेंकती हैं। 'सेवा सदन' में पारिवारिक एकता को बनाए रखने के लिए पद्मसिंह, मदन और सदन पुनः एकसूत्र में पिरो दिए जाते हैं, किन्तु 'गबन' में यह धारणा चूर-चूर हो जाती है। 'गबन' की रतन डंके की चोट से कहती है—"बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा।....परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटों की शय्या है; तुम्हारा पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जन्तु है।"

विवाह की प्रथा का आविष्कार परिवार को अस्तित्व देने के लिए ही हुआ था। बाद में इस पर धार्मिकता का ऐसा लेप चढ़ता गया कि यह एक रूढ़ि में परिवर्तित हो गया। नारी के साथ समस्त सहानुभूति रखते हुए भी प्रेमचन्द ने इस रूढ़ि को कोई झटका नहीं दिया है। रतन अपने वृद्ध पति के साथ सन्तुष्ट है यद्यपि प्रेमचन्द ने उसकी प्रकृत भावनाओं को कुरेदा जरूर है। निर्मला मूक भाव से समस्त अत्याचारों को सहते हुए भी इस घुटनपूर्ण वातावरण में दम तोड़

देती है। शान्ता—उपेक्षित शान्ता पाश्चात्य विवाह-पद्धति पर व्यंग करती हुई भारतीय विवाह-प्रणाली का अनुमोदन करती है। प्रेमचन्द की इस परम्परा का निर्वाह प्रसाद, कौशिक, भगवती-प्रसाद वाजपेयी, 'उग्र' आदि ने भी किया है।

भारतीय परम्परा अनुभयनिष्ठ प्रेम को सर्वदा हेय मानती रही है। रस-शास्त्र में इसलिए इस प्रकार के प्रेम को रसाभास माना गया है। इस देश में रोमाण्टिक प्रेम की कमी नहीं रही है, किन्तु उसकी चरम परिणति विवाह में दिखाई पड़ती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने इसका अनुमोदन करते हुए लिखा है—"स्त्री-पुरुष में प्रेम हो जाना स्वाभाविक क्रिया है, लेकिन जिस प्रेम का अन्त विवाह हो नहीं, केवल वासना हो, वह कलुषित है, उसकी निन्दा होती है।" 'प्रेम-का पथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी, 'त्यागमयी', 'दो बहनें' सभी में प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। 'उग्र' की 'जीजी जी' एक दुश्चरित्र युवक से विवाहित होकर भी जीवन-पर्यन्त उसके भयंकर अत्याचारों को सहती रहती है और उफ तक नहीं करती। "जिन्दगी सुलगने के लिए है—धीरे-धीरे, फिर यह जलना वामन के साथ हो या तिरपन के।" प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' उपन्यास में भी बहुत-कुछ ये ही आदर्श दिखाई देते हैं।

कुण्ठा-ग्रस्त मध्य वर्ग

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पढ़े-लिखे व्यक्तियों का एक अलग वर्ग ही खड़ा हो गया। आर्थिक दृष्टि से शिक्षितों का यह दल मध्य वर्ग के ही अन्तर्गत आता है। नये ज्ञान-विज्ञान ने भी इनके बौद्धिक संस्कारों को पुष्ट करने में काफी योग-दान किया। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रचार इस युद्ध के बाद ही अधिक होने लगा। इस बौद्धिक वर्ग ने नये वैज्ञानिक विचारों का चिन्तन-मनन ही नहीं किया अपितु उन्हें अंशतः जीवन में आत्मसात् भी किया। किन्तु समाज उनकी नई मान्यताओं और नये नैतिक आदर्शों को स्वीकार नहीं कर सकता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसे अपनी नई भावनाओं और नूतन विचारों को बहुत-कुछ दमित करना पड़ा। ये दमित भाव कुण्ठाओं को जन्म देने में समर्थ हुए।

समाज में इस वर्ग की स्थिति ऐसी नहीं रहती कि यह उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण कर सके, निम्न वर्ग के साथ वैसा करने पर इनकी स्थिति स्वयं खतरे में पड़ जाती है। ऐसी स्थिति में यह वर्ग वैयक्तिक स्वतन्त्रता के भ्रम की सर्जना स्वयं करता है। उसे ऐसा आभास होता है कि मूल प्रवृत्तियों और सामाजिक सम्बन्धों में कहीं संघर्ष हैं। वह सामाजिक सम्बन्धों तथा तत्सम्बन्धी चेतना को झुठलाने लगता है। उत्पादन के साधनों पर पूर्ण अधिकार होने के कारण पूँजीवादी वर्ग प्रायः कुण्ठायुक्त होता है। निम्न वर्ग का कोई ऐसा आर्थिक स्तर नहीं होता कि वह इस प्रकार की कुण्ठा का शिकार हो। पूँजीवादी समाज पैसे के बल पर अपनी आकांक्षाओं को तृप्त करने में पूर्ण योग्य है, निम्न वर्ग में प्रायः सभी लोगों का आर्थिक स्तर समान होता है, फलस्वरूप वहाँ पर अनपेक्षित आकांक्षाएँ नहीं उत्पन्न होतीं। मध्य वर्ग के विभिन्न आर्थिक तबके के लोग एक-दूसरे के यों ही विरोधी होते हैं और अर्थाभाव के कारण भी उनको आकांक्षाएँ बहुत-कुछ अतृप्त रह जाती हैं। इसका सारा दोष समाज के मत्थे मढ़कर मध्यवर्गीय व्यक्ति बुद्धि के विरोध में मूल प्रवृत्तियों की स्वतन्त्रता (Freedom of instinct) का पक्ष प्रतिपादित करने लगता है अथवा मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा मन की गुत्थियों को सुलझाने में संलग्न दिखाई

देता है। उसकी एक और स्थिति होती है—वह है आत्यन्तिक वैयक्तिकता। प्रेमचन्द के उपन्यासों की स्वस्थ परम्परा यहाँ पर प्रायः लुप्त हो जाती है और हिन्दी-उपन्यास एक नया मोड़ लेता है।

(क) बुद्धि का विरोध

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्र बुद्धि का विरोध करते हुए पदार्पण करते हैं। 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय' नामक निबन्ध में जैनेन्द्र ने लिखा है—"यहाँ याद आता है कि मैंने एक बार स्वर्गीय प्रेमचन्द से पूछा था कि बताइए कि अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है? उन्होंने बिना देर लगाए उत्तर दिया : धन की दुश्मनी। मैं अपने से वही पूछूँ तो उत्तर मिले : बुद्धि की दुश्मनी।"[1]

यदि जैनेन्द्र का तात्पर्य कुण्ठाग्रस्त मध्यवर्गीय बुद्धि के विरोध से होता तो किसी को कोई आपत्ति न होती, किन्तु यहाँ पर तो बुद्धि को जान-बूझकर बहिष्कृत किया जा रहा है। बुद्धि की अस्वीकृति का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों का समर्थन अथवा रूढ़ियों का प्रश्रय। जैनेन्द्र के प्रथम उपन्यास 'परख' में मूलतः आदिम प्रवृत्ति और बुद्धि के संघर्ष का अंकन किया गया है। 'सत्यधन' और 'कट्टो' के बीच प्रेम-व्यापार का जो सूत्रपात होता है उसके मूल में यौनाकर्षण की सहज प्रवृत्ति ही है। कट्टो अन्तस् का प्रतीक है तो सत्यधन बुद्धि का। उपन्यास में कट्टो का चरित्र उसकी एकान्तिक निष्ठा, भावुक आत्म-समर्पण, उदात्त आदर्शवाद के कारण अत्यन्त आकर्षक और मनोरम हो गया है। आलोचकों का कहना कि वितर्क-बुद्धि और आत्म-प्रवंचना से हीन यह चरित्र काफी अच्छा बन पड़ा है। इस चरित्र का अनोखापन भावुक पाठकों को चाहे जितना भी आकृष्ट कर ले किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से समाज में इसकी सत्ता कहाँ है? उपन्यास-जगत् का सत्यधन अपनी व्यावहारिक बुद्धि के कारण विफल हुआ है और बुरी तरह विफल हुआ है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में ऐसे ही चरित्र दिखाई पड़ते हैं और ऐसे चरित्रों को ही जीवन्त चरित्र कहा जा सकता है। सत्यधन की विफलता जैनेन्द्र की विफलता नहीं है (जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है) बल्कि वही उनकी सफलता है। कट्टो की आदर्शवादिता की सफलता उनकी विफलता हो सकती है।

सत्यधन और कट्टो एक ही वर्ग के दो तबकों के पात्र हैं—एक मध्यवर्गीय वातावरण में साँस लेता है तो दूसरा निम्न-मध्य वर्ग में। इनका यह पार्थक्य उनके बीच खाई का काम करता है। कट्टो से कटा-कटा रहने वाला सत्यधन उससे चालीस हजार के नोट पाकर उसके चरणों में प्रणत हो जाता है। यह कट्टो की नहीं उसके पैसों की विजय है।

'सुनीता' के हरिप्रसन्न और सुनीता दोनों कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्व हैं। अनेक प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों, आन्दोलनों और संघटनों के वात्या-चक्र में भी उनकी कुण्ठाएँ छिपी नहीं रहतीं। सुनीता की नग्नता हरिप्रसन्न की कुण्ठा को क्या और अधिक कुण्ठाग्रस्त नहीं बना देती? बुद्धि के आधार पर समस्या को आगे ठेलकर भावुकतापूर्ण आदर्शवादी परिणति न तो इसे आदर्शवादी बना पाती है और न यथार्थवादी। इस उपन्यास में न तो आदिम प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने का अवसर मिला है और न उन्हें बुद्धि के द्वारा संयमित करने की चेष्टा ही की गई है। मध्य-

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ १५।

वर्गीय लेखक के व्यक्तित्व में इस प्रकार का अनिर्णीत द्वन्द्व न होगा तो और कहाँ होगा ?

'त्याग-पत्र' की मृणाल अन्तश्चेतना के उर्मिल प्रवाह में मारी-मारी फिरती है और जीवन के अन्त तक उसे किनारा नहीं मिलता। वह हतचेत, संज्ञा-शून्य-सी परिस्थितियों को आत्म-समर्पण कर देती है। समाज में रहते हुए भी एक-एक करके उसके सामाजिक सम्बन्ध टूटते जाते हैं और फलस्वरूप वह स्वयं टूट जाती है।

अपनी व्यक्तिवादी विचार-धारा को—कुण्ठा को—जैनेन्द्र ने जो एक अस्पष्ट दार्शनिक आवरण और अनिर्दिष्ट मनोविश्लेषणात्मक आच्छादन में छिपाया था 'सुखदा' और 'विवर्त' में आकर अनावृत हो जाती है। जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों की एक ही टेक है—नारी का भावुकतापूर्ण निरीह आत्म-समर्पण। 'परख' में यह आत्म-समर्पण अव्यावहारिक होते हुए भी असामाजिक नहीं हो पाया है किन्तु उसके परवर्ती उपन्यासों में उसकी नग्नता बढ़ती गई है। 'सुनीता' में भी लेखक ने एक आदर्शवादी हल उपस्थित करके यौन-सम्बन्धी अमर्यादा को बचा लिया है, यद्यपि यह सर्वथा कृत्रिम है। इसके बाद जैनेन्द्र का कृत्रिम संयम, मिथ्या आदर्शवाद (pseudo idealism) अपना बाँध तोड़ देता है। ऐसा लगता है जैनेन्द्र की नारी दूसरों को शरीर देने के लिए ही अवतरित हुई है। ऐसा करने में उसे किसी भी प्रकार की झिझक और संकोच का अनुभव नहीं होता। इनके उपन्यासों की मध्यवर्गीय नायिकाएँ व्यक्तित्वहीन और चेतनाशून्य हैं, वे केवल वस्तु (commodity) हैं, जिनका उपभोग कोई भी कर सकता है। प्रेमचन्द्र के नारी-पात्र अनमेल वैवाहिक बन्धनों के दमघोट वातावरण को स्वीकार करते हैं, उसमें सुलग-सुलगकर दम तोड़ते दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उच्छृङ्खल यौन-प्रवृत्ति का प्रदर्शन नहीं करते। प्रेमचन्द परम्परा-मुक्त वैवाहिक संस्था में विश्वास करते थे, उसकी पवित्रता को बनाए रखने में ही कल्याण का अनुभव करते थे। प्रेमचन्द जैनेन्द्र की भाँति व्यक्तिवादी नहीं थे, वे चेतन-मन और सामाजिक शक्तियों की अवमानना में विश्वास नहीं रखते थे। फिर भी अनमेल विवाह पर जो प्रहार उन्होंने किया है वह काफी निर्मम और काफी भयावह है। जो लोग विवाह की अस्वीकृति में ही प्रगतिशीलता देखते हैं, उनकी बात न तो प्रेमचन्द को मान्य थी और न अन्य विचारकों को मान्य हो सकती है।

(ख) मनोविश्लेषणात्मक छान-बीन

मध्यवर्गीय संस्कृति अपने ह्रासोन्मुख-काल में अतिशय अन्तर्मुखी और वैयक्तिक हो जाती है। यह वर्ग अपनी संस्कृति और सभ्यता के रोगों का निदान समाज की नाड़ी देखकर नहीं करता बल्कि व्यक्ति-विशेष के अन्तर्मन के द्वारा एक्सरे अपना नुस्खा पेश करता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इसे मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली कहते हैं। जैनेन्द्र में यह प्रणाली बहुत-कुछ अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट है। इस पद्धति को औपन्यासिक चोला पहनाने का ऐतिहासिक श्रेय इलाचन्द्र जोशी को है। इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलिनता आदि किसी-न-किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते हैं। ये कुण्ठाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में अव्यक्त रूप से छिपी रहती हैं। जब कोई न्यूरोटिक चरित्र अपनी कुण्ठाओं का रहस्योद्घाटन कर लेता है तब वह रोग-मुक्त हो जाता है। जोशीजी के उपन्यासों में क्लिनिकल प्रयोग का प्रायः यही रूप दिखाई देता है। ऐसे उपन्यासों में मध्य वर्ग की कोई सामाजिक समस्या नहीं होती, उनकी

वैयक्तिकता इतनी अधिक आत्मकेन्द्रित होती है कि सामाजिक सम्बन्धों का नियमन उन कुण्ठाओं से होता है। ये कुण्ठाएँ मुख्य रूप से मध्य वर्ग में जन्म लेती हैं और मनोविश्लेषण-शास्त्र मध्यवर्गीय मनोविज्ञान है। जोशीजी के उपन्यासों की मध्यवर्गीय समस्याओं की भी ये ही सीमाएँ हैं। किन्तु जोशी जी ने इन कुण्ठाओं को मध्य वर्ग में न देखकर मनोविज्ञान की पुस्तकों में देखा है। अतः उनके उपन्यासों में—विशेष रूप से 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में—मनोविश्लेषणात्मक यान्त्रिकता आ गई है।

इनके 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में क्रम से सन्देहशीलता पूर्व अर्जित संस्कारों की प्रबलता और जन्म की कलंक-कथा से उत्पन्न ग्रन्थियों की कहानी कही गई है। 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' का निरंजन और 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ न्यूरोटिक चरित्र हैं। इनकी गाँठें खुल जाने पर इन्हें अपेक्षित मार्ग मिल जाता है। 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति इतनी अधिक उभरी हुई है कि इसके चरित्रों को व्यक्तित्व ही नहीं मिल पाया है। खेत के धोखे की भाँति अमूर्त सिद्धान्तों (abstractions) पर व्यक्तित्व का आच्छादन पहनाया गया है। मनोवैज्ञानिक उपचार के बाद जिस प्रकार कोई न्यूरोटिक स्वस्थ हो जाता है उसी प्रकार ग्रन्थि खुल जाने पर पारसनाथ भी ठीक हो जाता है। इस उपन्यास का क्लिनिकल हल किताबी मध्य वर्ग को चित्रित करने में जरूर सफल हुआ है।

जोशीजी के 'निर्वासित' उपन्यास के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार पूर्वक विचार करना होगा, क्योंकि जोशीजी के कथनानुसार इसमें मध्यवर्गीय जीवन की उथल-पुथल की कहानी है। यह उपन्यास उनके पिछले उपन्यासों से थोड़ा भिन्न होते हुए भी मूलतः उनसे भिन्न नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भिक समय से लेकर इसकी परिसमाप्ति के उपरान्त कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल की स्थापना के समय तक मध्य वर्ग के ऊपर विभिन्न परिस्थितियों की जो प्रतिक्रियाएँ हुईं उन्हीं-का चित्र अंकित करने का प्रयास इस उपन्यास में किया गया है। कम-से-कम पुस्तक की भूमिका से यही विदित होता है। खेद है कि अपनी पुरानी आदत से लाचार जोशीजी बहिरन्तर का सामंजस्य नहीं स्थापित कर सके हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह एक कुण्ठाग्रस्त निराश प्रेमी की कथा बनकर रह गई है। इस उपन्यास के नायक महीप के मन में आई० सी० एस० की उपाधि के प्रति विराग उत्पन्न हो जाता है। इस वैराग्य का कारण उपस्थित करते हुए जोशी-जी स्वयं लिखते हैं: "पर कुछ ही महीनों बाद महीप के विचारों में एक आकस्मिक विस्फोट उत्पन्न हो गया। अचानक उसके भीतर एक ऐसी अनोखी प्रेरणा जागरित हुई जिसमें वह स्वयं आश्चर्य में आ गया। उस दैवी प्रेरणा ने उसके मन में आई० सी० एस० की उपाधि के प्रति भयंकर विराग उत्पन्न कर दिया।" वास्तव में उसका सम्पूर्ण जीवन अचेतन मन के संकेतों पर भटकता फिरता है। प्रेम-सम्बन्धी उसकी चरम निराशा क्रान्तिकारी-आन्दोलन के संघटन में मूर्त होती है। क्रान्तिकारी होने के पूर्व उसके मन में विस्फोट-पर-विस्फोट और भूकम्प-पर-भूकम्प होते चले जा रहे थे।...किस शक्ति की प्रेरणा से यह सब—बिना उसके अपने किसी प्रयत्न के—हो रहा है, यह भी वह नहीं जान पाता था। इसके बाद अणु-बम के सामने क्रान्तिकारी-आन्दोलन की विफलता समझकर वह गांधीवादी हो जाता है। यदि क्रान्तिकारी-संघटन को उसके नैराश्य का उन्नयन (sublimation) भी मान लिया जाय तो उसकी अस्थिरता अपने में बड़ी दयनीय हो उठी है। महीप का अतिशय व्यक्तिवादी चरित्र समाज की घटनाओं से कहाँ प्रभावित

होता है ?—वह हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो वर्तमान जीवन को ही स्वीकार नहीं करता। मध्य वर्ग का कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति, जो वर्तमान जीवन को विकृत, अशुद्ध और संकीर्ण मानकर आत्म-केन्द्रित हो जाता है, उसके जीवन की व्यर्थता का करुण चित्र खींचा गया है। नीलिमा की ग्रन्थि भी अन्त तक नहीं खुल पाती और वह वास्तविक जीवन में कभी प्रवेश ही नहीं कर पाती। प्रतिमा और शारदा के रूप में मध्यवर्गीय नारी-जागरण को निश्चित स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उनका वातावरण बहुत-कुछ कृत्रिम और आरोपित (Projected) है। द्वितीय महासमर, '४२ की अगस्त-क्रान्ति, '४६ के कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल की स्थापना से पात्रों की जीवन-घटनाओं का कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता। भूमिका के स्पष्टीकरण ने इसे और भी अस्पष्ट कर दिया है। पेती-बुर्जुआ वर्ग भविष्य में एक क्रान्तिकारी कदम उठायगा इसमें शारदा को पूरा विश्वास है। वह मार्क्स की प्रोलितेरियत क्रान्ति में विश्वास नहीं रखती। यह प्रायः निश्चित्-सा है कि मार्क्सवाद का पौधा भारत के खाद-पानी से एक दूसरा रूप लेगा, लेकिन वह शारदा देवी की मनःकल्पना के अनुरूप नहीं होगा। सर्वहारा की आर्थिक स्थिति सुधर रही है और शारदा देवी का विश्वास है (कदाचित् जोशीजी का भी विश्वास हो) कि कुछ दिन में वह स्वयं पेती-बुर्जुआ हो जायगा। यही पेती-बुर्जुआ क्रान्ति-विधायक-वर्ग होगा। यदि यही क्रम जारी रहा तो सर्वहारा पेती-बुर्जुआ, पेती-बुर्जुआ बुर्जुआ और बुर्जुआ को पूँजीपति बनते अधिक देर नहीं लगेगी। ऐसा वर्ग-परिवर्तन होता भी है, फिर भी वर्गों का अस्तित्व तब तक बना रहता है जब तक कोई क्रान्ति की लहर वर्ग-भेद को बहा न ले जाय। शारदा देवी ने यह नहीं सोचा कि सर्वहारा और पेती-बुर्जुआ में आर्थिक-स्तर का ही नहीं बल्कि जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का भी अन्तर है। यदि पेती बुर्जुआ अपने मिथ्या दम्भ को छोड़ दे तो सर्वहारा के साथ सहयोगी बनने में उसे आपत्ति ही क्या होगी ? शारदा देवी का यह विचार उनके मस्तिष्क में ही दुबका रह जाता है। हाँ, इससे पढ़े-लिखे वर्ग की चिन्तन-शक्ति की दिशा का पता लग जाता है।

(ग) आत्यन्तिक वैयक्तिकता

'अज्ञेय' के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में विषय की दृष्टि से उच्च-मध्यवर्ग के अहं का विस्फोट तथा कला की दृष्टि से अभूतपूर्व प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। विषय और रूप-विन्यास की दोनों दृष्टियों से यह अतिशय व्यक्तिवादी रचना है। सामाजिक सम्बन्धों से कतराकर जिस प्रकार कलाकार व्यक्तिवादी हो जाता है और उसकी दृष्टि में प्रचलित सामाजिक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता उसी प्रकार परम्परायुक्त रूप-विन्यास को न अपना कर वह नये प्रयोग करता है। पुरानी परम्पराओं का तिरस्कार करके प्रौढ़-प्रयोगों की सृष्टि एक विशिष्ट प्रतिभा की माँग करती है। कहना न होगा कि 'अज्ञेय' में यह प्रतिभा मौजूद है।

'जीवनी' में शेखर का पूरा व्यक्तित्व एक विद्रोही का व्यक्तित्व है—विद्रोह उसका जीवन-दर्शन है। वह प्रत्येक वस्तु, स्थिति, व्यवस्था, संस्था सभी के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह जीवन की कल्पना करते हुए 'सोचता रहा कि जीवन ऐसा होना चाहिए शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरन्तर सचेष्ट और प्रगतिशील, घर-बार के बन्धनों से मुक्त और सदा विद्रोही...।' लेकिन समाज के बन्धन उसकी अराजक-प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं दे सकते। उसके कण्ठ से सहसा

फूट पड़ता है—

Cursed be the social wants that are against the strength of youth !

Cursed be the social lies that warp us from the living truth !

लेकिन इस विद्रोह का परिणाम ? क्या विद्रोह विद्रोह के लिए ? इस विद्रोह की विफलता क्यों ? इतने सशक्त व्यक्तित्व का इतना करुण अन्त क्यों ? शेखर उच्च मध्यवर्गीय संस्कृति के प्रति विद्रोह करते हुए भी उसके बन्धनों से स्वयं मुक्त नहीं हो पाता। यह बन्धन उसका व्यक्तिगत विद्रोह है। उसकी धारणाएँ मध्यवर्गीय स्वतन्त्रता के भ्रम पर आधारित हैं। मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र पैदा होता है—उसकी मूल प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्र होती हैं। सामाजिक सम्बन्धों में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इस भ्रममूलक विश्वास के आधार पर वह सामाजिक सम्बन्धों को ही अस्वीकार करता है।

वह बनाना क्या चाहता है, इसका पता नहीं। वह केवल बिगाड़ना जानता है। ध्वंस करना जानता है, क्योंकि संघर्ष से उसे सहज प्रेम है। शेखर को बुजुआ संस्कृति की समस्त बौद्धिक उपलब्धियाँ मिली हैं। किन्तु डी० एच० लारेंस की भाँति वह इन्हीं बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों को उन्हींके विघटन का उपकरण बनाता है।

शेखर के जीवन में नारियाँ आती हैं—सरस्वती, शारदा, शशि। सरस्वती को वह कुछ समय तक मात्र-स्त्री जानता रहा, बाद में उसे बताया गया उसे बहन कहना चाहिए। प्रेम के प्रति एक हल्का विद्रोह प्रदर्शित करके वह उसमें स्वयं बँध जाता है। आदिम उन्मुक्तता में विश्वास करते हुए भी वह शारदा, शशि यहाँ तक कि 'कुमार' (पुरुष) को अपनाना चाहता है—उन पर अपना कब्जा चाहता है। शारदा और कुमार पर वह अधिकार नहीं कर सका, किन्तु शशि को उसका आत्म केन्द्रित अहं अपने यहाँ तक खींच ही लाया। एक ओर उन्मुक्तता का स्वर मुखर करना, आदिम स्वच्छन्दता का समर्थन करना और दूसरी ओर अधिकार की भावना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सम्भव है शेखर का अत्यन्त सशक्त व्यक्तित्व, जो अब तक नकारात्मक विद्रोह में उलझा रहा, शशि की बलि से, आवश्यक सम्बल ग्रहण करके, जीवन और जगत् को नया आलोक दे सके। इसके सम्बन्ध में हम अभी निराश कैसे हों ? इसके लिए तीसरे खण्ड की प्रतीक्षा करनी होगी।

'अज्ञेय' के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' के पात्र—भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा, गौरा—उच्च शिक्षा-प्राप्त, बौद्धिक और लारेंस, टी० एस० इलियट, रवीन्द्र, कालिदास आदि को प्रसंगात् और अप्रसंगात् उद्धृत करने वाले हैं। ये सभी मध्यवर्गीय पात्र हैं और थोड़ा-बहुत उसकी समस्याओं को उपस्थित करने वाले। कुछ आलोचकों ने भुवन में शेखर को और रेखा में शशि को देखा है। निस्सन्देह ये पात्र आपस में मिलते-जुलते हैं। लेकिन शेखर को भुवन और शशि को रेखा मान लेना एक भ्रान्ति है। शेखर और भुवन में अन्तर है; शेखर शेखर है, भुवन भुवन। शशि रेखा में भी समानता होते हुए विषमता है। शेखर का सशक्त और प्रखर व्यक्तित्व भुवन में बुझ गया है। भविष्य में विश्वास न करते हुए भी शेखर में सम्भावनाएँ हैं। किन्तु भुवन का व्यक्तित्व रेखा और गौरा में सीमित होकर अत्यन्त संकीर्ण हो गया है। शशि शेखर के व्यक्तित्व-के निर्माण में टूट जाती है, केवल टूट जाती है, रेखा भुवन के व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने के

लिए कालकूट पीकर भी जीती रहती है, टूटकर भी नहीं टूटती।

भुवन शेखर की भाँति अराजकतावादी नहीं है। वह भारतीय नारी के केरीयर—गृहस्थी में विश्वास करता है। उसने गौरा को लिखा था—"जब तक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो विवाह सहज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की स्वाभाविक सीढ़ी' लेकिन इसके लिए दूसरों पर वह भरोसा नहीं करता, इसके निर्णय का अन्तिम दायित्व व्यक्ति पर है—व्यक्ति के आन्तरिक आलोक पर। यह आन्तरिक आलोक मध्यवर्गीय आदर्शवाद है। यह परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल नहीं पाता, बल्कि सामाजिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं को अपने अनुसार ढालना चाहता है। समाज से कटकर यह आन्तरिक आलोक अपनी ही सीमाओं के आगे नहीं जा पाता। वैयक्तिक आलोक अपने में स्वयं एक असंगति है। आन्तरिक आलोक को पूरा अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उसे सामाजिक परिस्थितियों के सम्बन्धों में देखना होगा। इस आन्तरिक आलोक के कारण ही रेखा को टूटना पड़ा। सिद्धान्ततः भुवन को स्वीकार है—'व्यक्ति की जड़ें घरों में नहीं होतीं–समाज-जीवन में होती हैं' लेकिन भुवन का समाज? वह तो रेखा और गौरा के दो बिन्दुओं में समाहित है। उसके सिद्धान्तों को मूर्त रूप नहीं मिल पाया।

चन्द्रमाधव एक 'मिडियाकर' मध्यवर्गीय चरित्र है। वह जीवन में सनसनी और रोमांस चाहता है। गृहस्थी के लिए रोमांस की नहीं उत्तरदायित्व की आवश्यकता होती है। वह उत्तर-दायित्व से भागता है। कम्युनिस्टों के रटे-रटाए 'कोड' में वह कहता है—"भद्रवर्गीय खोल सड़ गया है—सड़ जाने दो, सड़कर वह झर जायगा और मुक्त मैं बाहर निकल आऊँगा।···वह अपने जीवन के साथ समझौता करने की मेरी आखिरी कोशिश थी। कामयाबी नहीं हुई और अब जानता हूँ कि कोशिश ही गलत थी, क्योंकि वह जीवन ही मेरा जीवन नहीं है। मैं क्यों इस बुर्जुआ ढाँचे के साथ समझौता करना चाहूँ···" आगे चलकर वह पुनः कहता है—"गरस्ती का आइडिया ही असल में झूठ है, एक काल-विपर्यय है; उस वर्ग का जीवन प्रतीक है जो वर्ग आज मर रहा है।" भुवन ने स्वयं इसे उत्तरदायित्व से भागना कहा है। लेकिन क्या हम इसे आन्तरिक आलोक नहीं कह सकते? आन्तरिक जीवन की संज्ञा नहीं दे सकते? जो हो, चन्द्रमाधव मध्यवर्गीय चरित्रों की असंगति को अत्यन्त जीवन्त ढंग से उपस्थित करता है।

ध्वंसोन्मुख आदर्श

प्रेमचन्द तथा उस परम्परा के उपन्यासकारों ने यौन-प्रवृत्ति (sexual instinct) के ऊपर विवाह-बन्धन की पवित्रता को सर्वदा प्रधानता दी। अनमेल विवाहों की नाटकीय यन्त्रणा को प्रसन्नतापूर्वक झेलती हुई उनकी नारियों ने अपनी आत्मा की आहुति तक दे दी; लेकिन इसके लिए कोई शिकायत नहीं की। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व पढ़ा-लिखा मध्यवर्गीय समाज विवाह की संस्था में विश्वास करते हुए भी इसमें माता-पिता की इच्छा को विशेष मूल्य प्रदान करने को तैयार नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण वह रोमांटिक (आप चाहें तो इसे काव्यात्मक कह सकते हैं) प्रेम की चरम परिणति विवाह में ही देखना चाहता था। लेकिन समाज की विषम सामाजिक परिस्थितियाँ इसके इस आदर्शवाद के मार्ग में बराबर व्यवधान उपस्थित करती थीं। वयः सन्धि (adolescent period) की अवस्था में प्रेम-सम्बन्धी रोमांटिक भावना

और आदर्शवाद अपनी चरम सीमा पर रहता है। आर्थिक वैषम्य के कारण असफल प्रेम-चित्रों का स्फुट निर्देश तो कई उपन्यासों में मिलता है, किन्तु इसका संश्लिष्ट चित्रण भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' में पहली बार दिखाई पड़ा।

'तीन वर्ष' का नायक रमेश एक आदर्शवादी भावुक विद्यार्थी है। अजित के सम्पर्क में आने से वह अपने को गलत समझने लगा—अपनी स्थिति (आर्थिक) से कहीं ऊपर। उसकी प्रेमिका प्रभा उच्च-मध्यवर्ग की सुशिक्षित महिला है जब कि रमेश निम्न मध्यवर्ग का विद्यार्थी। केवल शिक्षा ने दोनों को समान स्तर पर ला खड़ा किया है। दोनों में पारस्परिक प्रेम भी दिखाई पड़ता है। दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। प्रभा विवाह और प्रेम को एक नहीं मानती। प्रेम के नाम पर वह कोर्टशिप और फ्लर्टेशन के आगे नहीं जा सकती। रमेश प्रेम के लिए प्राण दे सकता है, उसके लिए प्रेम का अन्त विवाह है। प्रभा से यह सुनकर कि 'विवाह को मैं स्त्री और पुरुष के बीच में आर्थिक सम्बन्ध के रूप में मानती हूँ' उसके आदर्शवादी सपनों का महल ढह जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति और भी गिर गई। इस महायुद्ध का सबसे अधिक भयानक प्रभाव इसी वर्ग पर पड़ा—विशेष रूप से मध्यवर्ग और निम्नवर्ग पर। पूँजीपतियों के लिए युद्ध वरदान के रूप में आता है—लूट-खसोट, शोषण और नफाखोरी के लिए उन्हें खुला मैदान मिलता है। निम्नवर्ग लिए भी यह समय अनुकूल ही पड़ता है। अपने श्रम के आधार पर इनकी आर्थिक स्थिति सामान्य स्तर से कुछ ऊँची ही उठ जाती है। किन्तु निम्नमध्यवर्ग अपनी असहाय स्थिति में घुट-घुटकर मरता दिखाई पड़ता है। पूँजीपतियों की भाँति न तो वह लूट-खसोट कर पाता है और न श्रम से उत्पादन में ही अपने को निर्भ्रान्ति रूप से लय कर सकता है। उसकी सारी कोशिश, जी-तोड़ परिश्रम सभी कुछ एक हार, लाचारी और घुटनपूर्ण समझौते में बदल जाते हैं। 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' में एक इसी प्रकार के निम्नमध्यवर्गीय व्यक्ति का चरित्र उपस्थित किया गया है।

'गिरती दीवारें' निम्नमध्यवर्ग के उन अनेक परिवेशों का चित्र उपस्थित करता है जिनकी रूढ़ियों, वैषम्य और शोषण के कारण इस वर्ग को अपने आदर्शों, आशा और आकांक्षाओं तथा सुनहले सपनों को दफना देना पड़ता है। वह अपनी लाचारी और विवशता में सिसकता हुआ सारी सामाजिक व्यवस्था को उच्छिन्न करने का संकेत करता है, केवल संकेत करता है क्योंकि स्वयं अपनी वर्गीय मनोवृत्तियों में बँधे रहने के कारण उसे बदलने में सक्रिय योग नहीं दे सकता। यों ऊपर-ऊपर से देखने में इस उपन्यास की समस्या अनमेल विवाह से उत्पन्न समस्या है, किन्तु प्रकारान्तर से निम्नमध्यवर्ग की अन्य विद्रूप समस्याओं को भी उसके साथ गूँथ दिया गया है मध्यवर्गीय प्रवृत्ति के अनुसार चेतन अपने व्यक्तित्व को स्वयं में एक बड़ी चीज मानता है। उसके शिक्षा-सम्बन्धी संस्कारों ने उसे सिखाया है—"इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती-बढ़ती फसल को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना सभ्य समाज के अनुकूल नहीं है। किन्तु वास्तविक जीवन में वह ठीक इसके विपरीत आचरण करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसका व्यक्तित्व, उसका आदर्श पूँजीवादी व्यवस्था की एक हल्की ठोकर से ध्वस्त हो जाता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण को भी पूँजीवादी व्यवस्था ने कहाँ पनपने दिया? समाचार-पत्र और प्रकाशन सभी पर उनका

निर्बाध स्वत्व है, इसके बीच अथवा इससे हटकर अलग राह बनाना इस वर्ग के लेखक के लिए असम्भवप्राय है। धूर्त रामदासों और समाचार-पत्र के दफ्तरों के बीच मध्यवर्गीय आदर्शवाद का पौधा नहीं लग सकता। आर्थिक परिस्थितियों से निरन्तर जूझता हुआ चेतन अपने आदर्शों की समाधि बना बैठता है। सब-कुछ होते हुए भी चेतन की सेक्स-चेतना इतनी अधिक उभरी हुई दिखाई देती है कि वह एक मनोवैज्ञानिक 'केस' हो जाता है। फिर भी मध्यवर्गीय दीवारों को तोड़ डालने की एक जबरदस्त प्रेरणा इस उपन्यास से मिलती है।

डॉ० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में मध्यवर्गों के ध्वंसोन्मुख आदर्शों का संयत, मनोवैज्ञानिक तथा कलापूर्ण चित्र उरेहा गया है। इस उपन्यास में 'गिरती दीवारें' की बेबसी, हार, लाचारी तथा विकृत यौन-ग्रन्थियाँ नहीं हैं, वहाँ का मात्र ध्वंस भी नहीं है, ध्वंस है लेकिन ध्वंस या नाश में सृजन की एक प्रेरणा है। यदि इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन-दर्शन की मूल भावना 'व्यक्तिवाद' का ही आकलन किया गया होता तो यह भी अपने में जड़, स्थिर और अगतिमान होता, किन्तु इसमें वह 'व्यक्तिगत प्रश्नों की चेतना से अपने वर्ग की समस्याओं की चेतना की ओर और फिर उस विराट् क्लिष्ट मानवता की' ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस अर्थ में यह पूरा गत्यात्मक भी है। मध्यवर्गीय उपन्यास के नायक स्वीकृत सामाजिक मूल्यों तथा नवीन जीवन-दृष्टियों से सामञ्जस्य न स्थापित करने के कारण टूटते हुए दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इस उपन्यास का नायक यथार्थ की कठोरता से टकराकर नया दृष्टिकोण अपनाने की ओर अग्रसर होता है।

चन्द्रनाथ, जो एक मध्यवित्त परिवार का व्यक्ति है, अपने जीवन और साहित्य में समान रूप से आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है। कला, जीवन, सुशीला, साधना सभी के सम्बन्ध में उसके निश्चित आदर्श हैं। आर्थिक भार से टूटते हुए संयुक्त परिवार तथा मध्यवर्गीय उदारता को भी यथास्थान इसमें सन्निविष्ट किया गया है। कला की श्रेष्ठता की माप वह नैतिक निष्कर्षों की श्रेष्ठता से नहीं करता; उसकी दृष्टि में सुशीला (उसकी पत्नी) के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसके भाव-जगत् के आधार पर किया जाना चाहिए, धोती और कपड़े के आधार पर नहीं। साधना के प्रति उसका प्रेम बहुत-कुछ प्लेटोनिक आदर्श से अनुप्राणित है। धीरे-धीरे उसके आदर्श के किले अणु बम से भी अधिक शक्तिशाली यथार्थ से टकराकर ढहने लगे। पूँजीवादी प्रकाशक लेखकों का शोषण ही नहीं करते, उन्हें दिशा-निर्देश भी देते हैं। सुशीला बार-बार उसे सामाजिक मानों की ओर ध्यान देने को बाध्य करती थी। नागरिक और शैक्षणिक संस्कारों से हीन सुशीला के जड़ सम्बन्ध का वह साझी नहीं होना चाहता। उसका व्यक्तिवाद लोकाचारों को सर्वथा अस्वीकृत करता है। साधना का प्रेम उसके जीवन की चरम साधना है। वह वासना और आध्यात्मिकता के झीने तारों से बुना हुआ है जो चेतना के प्रकाश में छिप नहीं पाता। रह-रहकर उसे यह भी लगता है कि "क्या मानव-जीवन के सारे मूल्य आर्थिक सम्बन्धों का 'बाई प्रोडक्ट' है।" जीवन के यथार्थ में कतराते-कतराते उसे यह भान होने लगा कि कर्मठता ही—संघर्ष ही जीवन है। साधना की उपेक्षा उसके आदर्श को अन्तिम समाधि दे देती है। उसके आदर्शों के खण्डहर पर नये जीवन की नींव पड़ती है। मध्यवर्गीय आदर्श, जीवन और व्यक्तिवाद के खोखलेपन का रहस्योद्घाटन करते हुए युगानुरूप नये भौतिक आदर्शों की ओर जो एक प्रच्छन्न संकेत किया गया है, वह भी इस उपन्यास की एक विशेषता है। मध्य वर्ग के ध्वंसोन्मुख आदर्शों को इतने कला-

त्मक किन्तु यथार्थवादी ढंग से उपस्थित करने में यह उपन्यास अकेला है।

धर्मवीर भारती के दो उपन्यास—'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'—ध्वंसोन्मुख मध्यवर्गीय आदर्शों का ही चित्र उपस्थित करते हैं। 'गुनाहों का देवता' का मुख्य पात्र चन्दर एक पवित्रतावादी आदर्श में विश्वास करता है। सुधा को पास ले आकर भी उसे दूर रखा, क्योंकि वह देवता है। वह सुधा के प्लेटोनिक प्रेम के सहारे ऊँचा उठना चाहता है—उसे खोकर भी स्वस्थ और सामर्थ्यवान् बना रहना चाहता है, लेकिन उसका अन्तर्मन इसके प्रति विद्रोह कर बैठता है। मूल प्रवृत्तियों को बहुत देर तक झुठलाया नहीं जा सकता। सुधा के प्रति सात्विक या आध्यात्मिक प्रेम की प्रतिक्रिया पत्नी के प्रति उसके मन में वासनामूलक प्रेम पैदा करती है। उसके मन की कुण्ठाएँ उसे विक्षिप्त कर देती हैं। उसका अहं और व्यक्तिवाद उसे स्वयं पराजित करता है। अपने अहं की परितृप्ति के लिए वह गुनाह-पर-गुनाह करता जाता है। यद्यपि लेखक ने इस पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि यह एक प्रेम-कहानी है फिर भी चन्दर के व्यक्तिवाद को सामाजिक सम्बन्धों से कहीं टकराने का अवसर नहीं दिया है। प्रेम का सारा व्यापार केवल मानसिक स्तर पर चलता रहता है, इसकी जड़ें समाज की उन रूढ़िबद्ध मान्यताओं तक नहीं पहुँचतीं जो मध्यवर्गीय युवक को अस्वस्थ और पंगु बना देती हैं। उसकी आदर्श आराधना उसकी वर्गीय नैतिकता है, जो भीतर-भीतर से सड़ चुकी है। सुधा का भावुकता-पूर्ण आत्म-समर्पण अत्यन्त करुण हो उठा है। सुधा, जैनेन्द्र की कट्टो, 'अज्ञेय' की शशि, रेखा की परम्परा में आती है। सब-के-सब अव्यावहारिक आदर्शवाद में विश्वास करती हैं और अपने प्रेमी के निर्माण में टूट जाती हैं—मानो इनके जीवन में अन्य किसी बात के लिए स्थान ही नहीं है।

भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' टेक्नीक की दृष्टि से ही नया प्रयोग नहीं है बल्कि निम्न-मध्यवर्ग को अनेक कोणों से देखने की दृष्टि से भी अपना महत्त्व रखता है। इस उपन्यास में कई प्रेम-कहानियाँ हैं, जो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व-सूत्र में गुँथी हुई हैं। प्रेम को वैयक्तिक और समाज-निरपेक्ष न मानकर उसे आर्थिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमियों में देखा गया है। निम्न-मध्यवर्ग की आर्थिक अवस्था, रूढ़ियाँ, सड़ी हुई मर्यादाएँ उसे इस तरह जड़ और यान्त्रिक बना देती हैं कि इसका प्रत्येक व्यक्ति बड़ी मशीन का पुर्जा हो जाता है। तन्ना, यमुना अपने वर्ग की रूढ़ियों और थोथी मर्यादाओं की वेदियों पर बलि चढ़ गए। माणिक मुल्ला की दो अन्य प्रेम-कहानियों द्वारा रोमानी प्रेम की व्यर्थता तथा मनोवैज्ञानिक कुण्ठा को यथार्थवादी ढंग पर चित्रित किया गया है। मध्यवर्गीय अनाचारों, कुरूपताओं तथा कुण्ठाओं को उघाड़ने के लिए भारती ने व्यंग का प्रयोग एक पैने नश्तर के रूप में किया है। इस उपन्यास के व्यंग-विधान को मैं भारती की सबसे बड़ी शक्ति मानता हूँ। विशेष मतवाद के घेरे के बाहर जाकर जो लोग जीवन को खुली दृष्टि से देखने के अभ्यासी नहीं हैं, उन्हें ये व्यंग कटुतापूर्ण और तीखे लग सकते हैं। किन्तु जो लोग जीवन में व्यंग-विनोद को स्वस्थ ढंग से ग्रहण करते हैं उन्हें इससे प्रसन्नता और स्फूर्ति ही मिलेगी। बच्चों की पीढ़ी में एक अटूट आस्था और अडिग विश्वास से इस ध्वंसोन्मुख पीढ़ी में भी एक अव्यर्थ आशा का संचार होता है।

'बया का घोंसला और साँप' की इधर काफी चर्चा हुई है। इस उपन्यास की सुभागी निम्न-मध्यवर्ग की 'टाइप' है। धर्म, ईश्वर, भाग्य, ईमान आदि में उसे अचूक विश्वास है।

उसकी असहायावस्था से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा, पुरैना और सिकन्दरपुर के निवासी तथा रामनगर के तहसीलदार सभी करते हैं। किन्तु उसकी अद्भुत दृढ़ता और पतिपरायणता उसे पथभ्रष्ट होने से बचा लेती है। अपना सर्वस्व खोकर भी वह सर्वाधिक मूल्यवान् पदार्थ नारीत्व की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ होती है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की स्वस्थ परम्परा में पड़ता है। उस परम्परा का सुन्दर ढंग से निर्वाह भी करता है। किन्तु इससे प्रेमचन्द की परम्परा आगे नहीं बढ़ती। आज के नये युग में प्रेमचन्द के आदर्शों को उपस्थित करना एक पुनरुत्थानवादी दृष्टि है, जो इतिहास के गत्यात्मक पक्ष को नहीं देख पाती। केवल सात्विक और मूक प्रतिरोध न तो समाज के विषधर व्यक्तियों को बदलने में समर्थ हैं और न समाज की विकृत व्यवस्था को। ऐसी स्थिति में इसे प्रेमचन्द के आदर्शों का अवशिष्ट कहा जायगा।

राधाकृष्ण के 'फुट-पाथ', भिक्खु कृष्णचन्द्र शर्मा के 'संक्रान्ति', कमल जोशी के 'बहता तिनका' उपन्यास में भी मध्यवर्गीय समस्याएँ ली गई हैं। 'संक्रान्ति' में मध्य वर्ग के भीतर बुद्धि-जन्य विद्रोह भरने की चेष्टा की गई है जो हृदय के संयोग के अभाव में व्यर्थ सिद्ध होता है। किन्तु बुद्धि और हृदय का स्थूल और मानसिक समन्वय मध्यवर्गीय समस्याओं को हल नहीं कर सकता। इस उपन्यास में सच पूछिए तो बुद्धिवाद की विफलता नहीं है बल्कि आत्मकेन्द्रित भावुकतापूर्ण बुद्धिवाद की विफलता है। 'बहता तिनका' में वेश्या की एक कन्या के उन संघर्षों का चित्र खींचा गया है जो उसे पवित्र जीवन व्यतीत करने के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं। लाख हाथ-पाँव मारने पर, जीवन में पग-पग पर आर्थिक और सामाजिक रूढ़ियों से जूझने पर भी इस क्रूर समाज के विषाक्त जबड़ों से उसकी रक्षा नहीं हो पाती। इस तरह इधर के उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज को बदलने की इच्छा दिन-पर-दिन दृढ़तर होती जा रही है। कुछ उपन्यास-कारों को परिवर्तन की राह दिखाई पड़ रही है और कुछ को एक विचित्र भूल-भुलैयाँ भटकाये हुए है।

हिन्दी-उपन्यास की मध्यवर्गीय प्रवृत्ति का पर्यालोचन मुख्य रूप से दो बातों की सूचना देता है—एक तो यह कि मध्यवर्ग के आविर्भाव ने हिन्दी-उपन्यास को रूप ही नहीं दिया बल्कि अपने विकास के साथ-साथ उसके ढाँचे को भी परिवर्तित करता रहा; दूसरी यह कि इस वर्ग के जीवन-मूल्यों में भी एक सुनिश्चित विकास-क्रम देखा जा सकता है। लाला श्रीनिवासदास का 'अनगढ़ प्रयोग', प्रेमचन्द का सुनिश्चित ढाँचा, 'अज्ञेय' का जीवनीपरक निर्बन्ध रूप-विधान, भारती की नई टेक्नीक सभी मध्यवर्गीय समाज की विशेष स्थितियों के प्रतीक हैं। प्रवृत्तियों की दृष्टि से मध्यवर्ग की तीन स्पष्ट अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं—समझौता, सामाजिक बन्धनों की अस्वीकृति और वैयक्तिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ की टकराहट। मध्यवर्गीय समस्याओं को चित्रित करने वाले उपन्यास प्रथम दो अवस्थाओं से गुजर चुके हैं। वे अब तीसरी अवस्था को पार करने की आखिरी मंजिल पर हैं, लेकिन उनका द्वन्द्व अभी मिट नहीं पाया है। यथार्थ की नग्न कठोरताओं को सम्यक् आत्मसात् करते हुए जब तक वह अपने वैयक्तिक आदर्शों को नये सामाजिक सम्बन्धों से नहीं जोड़ता तब तक वह वहीं कहीं भटकता रहेगा। परन्तु हाल में प्रकाशित कुछ नये उपन्यासों में आशा और जीवन की जो क्षीण किन्तु स्पष्ट किरणें दिखाई पड़ी हैं उनसे हिन्दी-उपन्यास का नया सवेरा झाँकता प्रतीत होता है।

डॉक्टर रामखेलावन पाण्डेय

पात्रों का निर्माण और विकास : होरी, बलचनमा और भुवन

There is a rebel in everyman ; men will revolt and demand again their freedom.

—W. Macneile Dixon (Gifford Lectures)

: १ :

जीवन संग्राम है, इस कथन की स्वीकृति में मात्रा और रूप का जो अन्तर रहा हो, कोई महत्त्वपूर्ण विवाद नहीं रहा है तथा जिन्होंने इसे 'खेल का मैदान' माना है, उनकी दृष्टि में संघर्ष की अस्वीकृति नहीं थी बल्कि परिणाम के प्रति तटस्थ उदासीनता, क्रिया-व्यापार में मनोरंजकता का आग्रह एवं उल्लासोत्साह की मान्यताएँ ही मुख्य थीं। जीवन में मनोरंजन है, उससे मनोरंजन होता भी है, किन्तु जीवन का आग्रह मनोरंजकता में ही नहीं; उसी प्रकार उपन्यासों द्वारा मनोरंजन होता है। वे मनोरंजक होते भी हैं किन्तु न तो मनोरंजकता ही उसका चरम रूप है और न मनोरंजन ही परमोपलब्धि।[१] उपन्यासों में मानव-जीवन अपनी विविधता, विषमता और उलझनों के साथ अभिचित्रित है, मनोरंजकता का तत्त्व वह दृष्टि-विस्तार और रागात्मक संस्पर्श देता है जिससे अभिव्यक्ति जाग्रत, शक्त और जीवित हो जाती है। उपन्यासकार जीवन के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक काल्पनिक संश्लेष उपस्थित करता है और उसकी दृष्टि इस स्थान में रासायनिक की है। संघर्षप्रवण तत्त्वों का संश्लेष समग्रता की इकाई के रूप में प्रकट होता है।

मानव-व्यापारों का उत्तरदायित्व व्यापार-कर्ता की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और तत्प्रेरित कार्य-क्षमता पर निर्भर है; चेतना की अन्यथा वृत्ति उसे उत्तरदायित्व से मुक्त कर देती है। नियतिवाद भावी कर्म-फल की प्रेरणा और वर्तमान फल-हीनताजन्य निराशा से मुक्ति का दर्शन है : प्रस्तुत जीवन की निराशाओं के निराकरण के साथ भावी जीवन की उत्प्रेरणा इसे समृद्ध बनाती है। पूर्व-निश्चिततावाद जीवन को परिवेष्टन एवं परिवृत्ति में सीमित, संकुचित और

१. रसेल ने Behaviourism and Values शीर्षक निबन्ध में कला के उद्देश्य-रूप में आनन्द (Delight) को स्वीकृत किया है। मनोरंजन और आनन्द (Entertainment and Delight) एक ही वस्तु नहीं हैं। मनोरंजन की बाह्यता को आनन्द की गम्भीरता उपलब्ध नहीं।

प्रभावित मानने के साथ-ही-साथ जीवन-विकास-क्रम को पूर्वनिश्चित अर्थात् भौतिक नियमों के आधार पर पूर्व संकेतात्मक predictable मानता है। परिवृत्ति-विशेष में जीवन का कोई और विकास नहीं होता, हो भी नहीं सकता। नैतिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की मान्यताओं में दोष है क्योंकि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ऐसी सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ कार्यों और व्यापारों के उत्तरदायित्व से मुक्ति मिल जाती है।

मानव सामाजिक जीव है, कला सामाजिक प्रक्रिया है, समाज-सम्बद्ध तो निश्चित रूप में है। प्रेरणा और स्फूर्ति की विभिन्न-स्वरूपता के कारण व्यक्तित्व-निरूपक वृत्तियों का संस्कार, विकास और प्रतिफलन होता है। रस-शास्त्री की दृष्टि में ये स्थायी भाव[२] हैं, इनके मूल में वृत्ति की एकरूपता, समकक्षता और परिधिगत समता है।

: २ :

सामाजिक संघटना और संस्थाएँ परम्परागत धारणाओं की कोष और उनकी स्वीकृति की मूलभूत आधार हैं और वे अपने नियमन और अनुशासन द्वारा परम्परागत धारणाओं को जीवन देती हैं और इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन इनका संस्कार उपस्थित करता है। सामाजिक व्यक्तित्व इन धारणाओं और परम्पराओं के संरक्षण में निहित और नियुक्त है और वैयक्तिक व्यक्तित्व इनसे संघर्ष करने और नूतन मूल्य के प्रतिष्ठापन में। समाजीकृत व्यक्तित्व वैयक्तिकता की उस अस्वीकृति में अन्तर्लीन है जो संघर्ष की चेतना में निहित है। प्रत्येक व्यवस्था, संघटना और संस्था अपने और केवल अपने संरक्षण का आग्रह और मोह पालती है। व्यक्ति इनके प्रतिनिधि-रूप में इनके संरक्षण की चेष्टा करता है; समग्रता के आग्रह के कारण परस्पर-विरोधी और संघर्षशील अनुज्ञाओं में सन्तुलन और सामञ्जस्य का प्रयास भी। व्यक्तित्व-निर्माण में व्यक्तिगत वृत्ति और संस्थागत धारणा एवं परम्परा का ही संघर्ष नहीं है बल्कि संघर्षशील संस्थाओं की व्यवस्थाओं के सामूहिक संघर्ष में भी है। जीवन-रूप के विकास और संस्थाओं की परम्परा में व्यवधान उपस्थित होते रहने के कारण संघर्ष तीव्र, मर्मस्पर्शी और गम्भीर होता है। वैज्ञानिक उन्नतिजन्य जीवन-साधनों का विकास सांस्थिक परम्पराओं एवं बौद्धिकता को समकक्ष विकास देने में असमर्थ रहा, अतः आधुनिक संक्रान्ति-काल में संघर्ष का स्वरूप अधिक स्पष्ट और तीव्र हुआ। व्यक्ति की आकांक्षा और वृत्ति की निर्बाध सन्तुष्टि पर अतः संस्थागत संघर्षशील व्यवस्थाओं के सामूहिक और एकैक संघर्ष का नियन्त्रण है। उदाहरण-स्वरूप भोजन की आकांक्षा, बुभुक्षा की सन्तुष्टि-अपेक्षा आर्थिक व्यवस्था से टकराती है एवं मूल आकांक्षा संग्रह-वृत्ति और संरक्षण की प्रक्रिया को जन्म देती है। संरक्षण की प्रक्रिया की व्यवस्था शासन-व्यवस्था का आधार है : धर्म और नीति इस व्यवस्था को दृढ़ करते हैं। धार्मिक वृत्ति अर्थ-व्यवस्था के परिणामभूत दर्शन[३] से क्रमशः मुक्त होती हुई अपना स्वतन्त्र नियमन उपस्थित करती है। इस प्रकार संस्थाएँ

१. (क) विकारो मानसो भावः।
(ख) रसानुकूलो भावो विकारः।
(ग) बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलायते स स्थायीभावः।

२. मृद्दव्य–ईश० ११११

और व्यवस्थाएँ विशेषाधिकार का स्वरूप ग्रहण करने लगती हैं। व्यावसायिक संस्थाएँ, पारिवारिक मान्यताएँ और रूढ़ियाँ, सामाजिक परम्पराएँ, नैतिक और कभी-कभी सौन्दर्यमूलक धारणाएँ संघर्ष करती हैं। काम-तुष्टि के मार्ग में सर्वाधिक बाधाएँ उपस्थित होती हैं और संस्थाएँ इस प्रबलतम वृत्ति की सन्तुष्टि में प्रबलतम अवरोध उपस्थित करती हैं। इस क्षेत्र के विरोध और संघर्ष का सुदीर्घकालीन इतिहास और परम्पराएँ हैं। प्रबलतम वासना-वृत्ति की सन्तुष्टि में तीव्रता, क्षिप्रता और शक्तिमत्ता है, अतः उन्हें उतना ही अधिक सीमित और अधिकृत करने की चेष्टाएँ संस्थाओं द्वारा होती आई हैं और उनकी रूपान्तरित स्फूर्ति को अपने प्रभाव-विस्तार और शक्ति का आधार और साधन बनाने का प्रयास करती आई हैं। युवक-युवती के प्रेम की परिणयात्मक परिणति के मार्ग की विरोधिनी बनती है आर्थिक स्थिति की विषमता; नैतिकता इस मार्ग में रोड़े अटकाती है, पारिवारिक धारणाएँ अपनी सत्ता-रक्षा के लिए संघर्ष करती हैं; सामाजिक संस्थाएँ अड़ंगा लगाती हैं, एवं धर्म अपने सुदृढ़ पूर्व-विधान का बन्धन उपस्थित करता है। जाति, धर्म, परिवार, नीति, सामाजिक आचार-विचार, धर्म-विधान और शासन-व्यवस्था जीवन के विभिन्न पक्षों का नियन्त्रण करने को उत्सुक—उद्यत रहती हैं और इनके नियन्त्रण की सीमाओं में मानव-जीवन आकुल-उद्वेलित, व्यथित-संकुचित रहता है। इन विषमताओं एवं विवशताओं की संकुचित सीमाओं को अतिक्रमण करने की इच्छा मनुष्य में रहती है। वैयक्तिक व्यक्तित्व इनके विरोध और इनके पारस्परिक और सामूहिक संघर्ष को निराकृत करने में है।

व्यक्तित्व-निर्माण की इस प्रक्रिया में काल्पनिक अथवा यथार्थ स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की स्फूर्ति, सामाजिक एवं सांस्थिक नियन्त्रण और संरक्षण में अन्तर्भुक्त संघर्ष से संघर्ष करने की दीप्तिमयी आकांक्षा एवं तज्जन्य स्फूर्ति तथा चेतना, अतः गतिमूलकता है। आत्म-निर्णय की आस्था और अवसर, स्वतन्त्र चेतनाजन्य गतिमत्ता और गतिमूलकता इसके अपेक्षित उपकरण हैं किन्तु इनकी सामाजिक और सांस्थिक पीठिका है, इसका विस्मरण नहीं किया जा सकता। व्यक्ति समाज नहीं, समाज ही व्यक्ति नहीं : व्यक्तित्वपूर्ण, वैयक्तिक मानवों की सामञ्जस्यपूर्ण अन्विति है, सामाजिकता का निजी एकत्व है केवल निर्वैयक्तिक व्यक्तियों का भौतिक संघटन नहीं बल्कि वैयक्तिक व्यक्तियों का रासायनिक संश्लेष। परिपार्श्व-सम्बन्धी सजगता व्यक्तित्व को स्पष्टता देती है। व्यक्तित्व का निर्धारण कुछ हो जाने मात्र अथवा उपभोग में नहीं बल्कि कुछ बनने में है जिसमें कुछ मिटाना पड़ता है और कुछ सँवारना भी।

: ३ :

इस स्थल पर कलाकार और उसके पात्रों के सम्बन्ध का निर्धारण और संकेत अपेक्षित होगा। सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध की अनुरूपता उपन्यासकार और उसके द्वारा निर्मित कल्पित चरित्र में नहीं। कलाकार के व्यक्तित्व-विकास का जो क्रम है वही क्रम उसके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में है। परिपार्श्वजन्य निजी विवशता को वृत्त्यानुरूपता एवं आत्मीयता देने का प्रयास लेखक करता है। औपन्यासिक पात्रों के विकास की यही स्थिति है, तो क्या उपन्यासकार के पात्र अथवा पात्रों का एक वर्ग उसके प्रतिरूप हैं? आत्माभिव्यक्ति क्या अपने साँचे में ढले और लेखक की अनुकृति लगने वाले पात्रों की सृष्टि में है? आत्माभिव्यक्ति का जो महत्त्व है, उसमें घटना की अनुरूपता तथा परिवेश-परिवेष्टन एवं स्थिति की एकरूपता से अधिक आत्म-

चेतना की अभिव्यक्ति का प्रश्न है : घटना-वैविध्य एवं पात्र-बाहुल्य द्वारा लेखक आत्मानुभूति, आत्म-चेतना एवं स्फूर्ति को परिवेश देता है। लेखक के व्यक्तित्व का स्वल्पांश ही उसके पात्रों को उपलब्ध होता है, यद्यपि किसी एक पात्र और उसके वर्ग को लेखक की गहरी सहानुभूति और गम्भीर तादात्म्य उपलब्ध हो जाता है। किसी एक पात्र में ही लेखक के व्यक्तित्व का पूर्ण तादात्म्य नहीं मिलेगा; उसके विभिन्न उपन्यासों के मुख्य पात्रों की एकसूत्रता में उसके व्यक्तित्व के संकेत ही मिलेंगे। किसी एक उपन्यास में तो वह अपने अनुभव के जीवन का 'क्रॉस सेक्सन' ही दे पाता है। लेखक के व्यक्तिगत जीवन के संस्कार, अनुभव और घटनाएँ कथा-सूत्र, पात्रता, विचार-धारणा और माध्यम को नियोजित-नियन्त्रित करते हैं। लेखक पात्र को अपनी स्थिति में डालकर यदि स्वयं पात्र बन जाता है तो तटस्थता का निर्वाह नहीं हो सकता। अतः पात्र के वैशिष्ट्य, पात्र-तत्त्वता एवं वैयक्तिक पात्रों के परस्पर-सम्बन्ध, प्रेरणा और परिवेश-सम्पृक्तता का तटस्थ अध्ययन-विश्लेषण नहीं हो पाता। सजीवता का आग्रह है कि लेखक पात्रों की तथ्यता को निजत्व देकर अनुभूतिगत सत्य का स्वरूप दे। लेखक अतः पात्रों की पात्रता में सन्निहित भी है और उनसे पृथक् भी। पृथकता तटस्थ विश्लेषण का आधार एवं वैयक्तिकता और व्यक्तित्व देती है और सन्निहित्य सजीवता और सजग स्फूर्ति। प्रेमचन्द की सम्यता न तो 'रंगभूमि' के 'सूरदास' में मिलेगी और न 'गोदान' के 'होरी' में। 'शेखर : एक जीवनी' में 'अज्ञेय' 'शेखर' भी नहीं और 'नदी के द्वीप' में भुवन भी नहीं। दास्तावेस्की Myshkin (The Idiot), Stavrogin (The Possessed), Alyosha (The Brothers Karamaxov) अथवा Soidrigailov (Crime and Punishment) नहीं यद्यपि इनमें एकतत्त्वता धारित वैभिन्न्य के दर्शन किये जा सकते हैं। दास्तावेस्की के पात्र उससे अधिक भिन्न हैं और उसमें अपने प्रवक्ताओं को पृथकत्व और स्वतन्त्र व्यक्तित्व देने की विचित्र क्षमता है। श्रीकान्त और 'सव्यसाची' (पथेरदावी), परस्पर-भिन्न होकर भी शरच्चन्द्र से अभिन्न भी हैं और भिन्न भी। 'श्रीकान्त' की रोमांचक वृत्ति 'सव्यसाची' की निष्ठा बन जाती है। मध्यवित्त बंगाली समाज और उसके संस्कारों के प्रतिनिधि शरच्चन्द्र के पात्र उस सांस्कारिक परिवेश में कुण्ठित-आकुञ्चित होते हुए भी उनकी वृत्तियों के स्वतन्त्र प्रकाशन हैं। उपन्यास-लेखक में अनुभव की व्यापकता, दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकने की क्षमता, घटनाओं और वृत्तियों के विश्लेषण द्वारा एक नये संश्लेष की शक्तिमत्ता जितनी अधिक होगी, उसी मात्रा में उसके पात्रों में विविधता मिलेगी। उपन्यासों में पात्रों की पात्रता ही एक-मात्र और प्रधान तत्त्व नहीं; आज के बुद्धिजीवी युग में बौद्धिकता की प्रधानता और वैज्ञानिक युग की विविध समस्यामूलकता एवं उनके समाधान की विविधता के कारण पात्रों की पात्रता का नियोजन प्रवक्ता के रूप में अधिक होता है, किन्तु इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार क्षुण्ण नहीं होता। कलात्मक मूल्यांकन के वैयक्तिक संस्कार और मूल्य-रूप का पूर्वग्रह स्वीकार करते हुए भी उपन्यास-विशेष से उभरने वाली प्रतिक्रियाओं के वैविध्य को मैं कृति-विशेष की सजीवता का प्रमाण मान रहा हूँ।

आधारों की भिन्नता के कारण पात्र-स्वरूपता की भिन्नता उपस्थित होगी, अतः इनमें सार्वभौमता न तो सम्भव है और न काम्य ही। औपन्यासिक पात्रों का वर्गीकरण आधारों की इस भिन्नता का ही प्रतिफलन होगा। लेखक-सम्बन्ध की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाय तो पात्रों का एक वर्ग अपने स्रष्टा का प्रतिनिधि है, उसके भावों और विचारों का वाहक। ऐसे पात्रों की

सजीवता, सजगता का आधार है कलाकार में निहित सजीवता और सजगता। इन पात्रों में वैयक्तिकता तो रहती है किन्तु व्यक्तित्व नहीं। कथाकार उन्हें अपने साँचे में ढाल देता है वे ढल जाते हैं; यह उनकी विवशता है। कथाकार पात्रों का वेश धारण करके स्वयं रंगमंच पर उपस्थित हो जाता है; अपने स्नेह-पात्र पात्रों पर अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण करता है एवं लेखक के व्यक्तित्व से भिन्न इनकी सत्ता नहीं। ऐसा निर्देश करते समय भी यह विस्मरण नहीं किया गया है कि उपन्यास आत्म-चरित्र नहीं, आत्म-चरितात्मक उपन्यासों में भी लेखक निजत्व के संस्कार का अभिलाषी है। 'जीन क्रिस्टो' रोलाँ नहीं, बल्कि रोलाँ से अभिन्न किन्तु उसका संस्कारक है और 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर भी वैसा ही है। लेखक-सम्बन्ध और संस्पर्शिता की मात्रा और स्वरूप के कारण पात्रों की पात्रता प्रक्षिप्तात्मक, प्रातिनिधिक और प्रतीकात्मक होगी एवं इस संस्पर्शिता की प्रगाढ़ता अथवा विच्छिन्नता की मात्रा के आधार पर पात्रों की वैयक्तिकता, गति और इच्छा-शक्ति निर्भर करती है। ऐसे पात्र लेखक के भावों और विचारों के मात्र-वाहक होंगे और इनका महत्त्व इसी आधार के कारण है, स्वतन्त्र और निजी व्यक्तित्व के कारण नहीं। सामाजिक आधार के कारण पात्र टाइप, वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि अथवा असामाजिक होते हैं ऐसे पात्रों की पात्रता की आधारशिला है सामाजिक चेतना-वृत्ति। मूल्य की धारणा के आधार पर पात्रता के वर्ग हैं पूर्व-मूल्यों के स्थापक और विस्तारक तथा नव-मूल्य निर्धारक और प्रतिष्ठापक।

वैयक्तिकता के स्वरूप के कारण संघर्षशील अतः चारित्रिक अथवा पलानक एवं चरित्रहीन पात्र होंगे; चरित्रहीन संज्ञा का प्रयोग यहाँ प्रचलित अर्थ में न होकर चारित्रिकता की अभावात्मकता के रूप में हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख कहा जायगा यद्यपि इन छोरों पर टिकने वाले पात्रों से अधिक इनकी अन्तर्मुक्त कोटियाँ मिलेंगी। कामवृत्ति की सन्तुष्टि की दृष्टि से पात्रों में चरितार्थता अथवा उन्नयन-वृत्ति मिलेगी। इस वृत्ति की अबाध अभिव्यक्ति-सन्तुष्टि के साथ-ही-साथ रूपान्तरकरण, दमन अथवा उन्नयन के दर्शन होते हैं। आदर्श और यथार्थ के आधार पर आदर्श-प्रतिष्ठापक एवं यथार्थोन्मुखी वर्गों की स्थापना होगी यद्यपि इनकी सीमा-रेखाएँ सदा स्पष्ट नहीं रह सकतीं और इनके पारस्परिक निबन्धन और समन्वयन के आधार पर पात्रता का वर्गीकरण अनिर्दिष्ट और वैविध्यपूर्ण रहेगा। आदर्शात्मक निबन्धन की शक्ति भी यथार्थोन्मुखता की प्रतिष्ठा में है। आदर्श पात्रों के साथ सामान्य पात्रों की परिकल्पना अपेक्षित है। आदर्श की चरमता देवत्व की प्रतिष्ठापिका है; ऐसे पात्रों की औपन्यासिक परिकल्पना युक्ति-संगत नहीं और मानव-चरित्रों की विविधता उपन्यासों को जीवित, जागरित और स्फुरित करती है। मानव और मानवता की विविध धारणाओं के आधार पर मानवीय, मानव-कल्याणवादी और मानववादी पात्रों का स्वरूप-निर्माण होता है, यद्यपि भावुक मानववादी पात्रों के ही दर्शन अधिक होंगे; वैज्ञानिक युग के बौद्धिक मानववादी पात्र स्पष्टतापूर्वक हिन्दी-उपन्यासों में नहीं नियोजित हो सके हैं। प्रेरणा को आधार मानने पर प्रेरित पात्रों की की धारणा पुष्ट होगी और वृत्तियों के जागरण और चरितार्थता के आधार पर पात्रों की जीवन-तत्त्वता एवं अन्यथा वृत्ति का निरूपण सम्भव होगा।

पात्रों का एक ऐसा वर्ग भी होता है जिसमें पात्रता के आवश्यक एवं अपेक्षित तत्त्व प्रारम्भ से ही वर्तमान रहते हैं; परिस्थितियाँ प्रकाशन की केवल माध्यम हैं, उनके निर्माण में

क्रम नहीं। दूसरे वर्ग के पात्रों में वृत्तियों का स्थायित्व—सहजानुभूतिगम्य-स्वरूप परिस्थितियों के कारण स्पष्ट, अभिव्यक्ति, पुष्ट, विकसित और निर्धारित होता है। ऐसे आधार के आधार पर पात्रों को विकास-हीन और क्रमिक विकासशील, विकास-विमुख अथवा विकासोन्मुख के वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकेगा। व्यक्तित्व के आधार के कारण वैयक्तिक, व्यक्तिक और निर्वैयक्तिक, निर्व्यक्तिक वर्गों की कल्पना होगी। औपन्यासिक स्थापत्य के कारण पात्रता को भिन्नरूपता मिलेगी एवं संयोजक-वियोजक वर्गों की निर्धारणा होगी।

पात्रता के वर्गीकरण के आधारों की भिन्नताओं का अन्तर्भाव और अन्तरावलम्बन सम्भव है, अतः एक ही पात्र की विभिन्न वर्गों में स्थापना होगी। व्यक्तित्व के उपादान विभिन्न मार्गों से उपलब्ध और अभिव्यक्ति होते हैं और पात्रों की पात्रता पर विचार करते समय इन तत्त्वों और आधारों का निरूपण-विवेचन अपेक्षित होगा। शुक्लजी ने जिसे शील-निरूपण कहा है उसमें पात्र-जीवन की विभिन्न स्थितियों में अपने को रखकर कलाकार को तदनुरूप अनुभव करने की अपेक्षा ही नहीं होगी बल्कि पात्रों में अन्तर्निहित कलाकार की अनुभूति, चिन्ता-धारा और भावना के अनुरूप स्थिति का नियोजन भी अपेक्षित होगा। अतः प्रसिद्ध कथाओं में जहाँ कथा-शोध होगा वहाँ कल्पित कथानक में वृत्यानुरूप घटना-संश्लेष और घटना-सम्बद्ध वृत्ति-निरूपण को महत्त्व मिलेगा। औपन्यासिक पात्रों की पात्रता का अतः आधार है अपने वृत्त और सीमा में सजगता, सजीवता, विकासोन्मुखता, गति और कुछ बनने और बन पाने की सायास प्रक्रिया।

: ४ :

पात्रता और व्यक्तित्व-निर्माण की इस सैद्धान्तिक चर्चा की प्रयोगात्मक परीक्षा-समीक्षा के लिए कुछ पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण अपेक्षित है। 'गोदान' के 'होरी महतो' की परिधि है सामाजिक परिवृत्त, आर्थिक पैटर्न, सांस्कारिक अन्ध-वृत्ति और प्रेरणाधार है स्वार्थ अर्थात् सामाजिक स्तर में सम्मानीय स्थान पाने की अतृप्त आकांक्षा और वृत्ति। 'गाय' इस अतृप्त वृत्ति का प्रतीक है जिसकी प्रतीकात्मक सन्तुष्टि उसके जीवन की ट्रेजेडी का संकेतक है। होरी के लिए "गऊ केवल भक्ति और श्रद्धा की वस्तु नहीं; सजीव सम्पत्ति भी थी। वह उससे अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था।" 'मरजाद' और 'इज्ज़त' की रक्षा का प्रश्न इसी सम्मान-लालसा की भिन्न प्रतीति है। सम्पत्ति और उसका संग्रह मर्यादा के प्रतिष्ठापक हैं, ऐसा होरी जानता-मानता है : होरी किसान है, औसत भारतीय किसान जो प्रेमचन्द के ही शब्दों में "पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घण्टों चिरौरी करता है। जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता।" उसके अन्तर में प्रतिष्ठित सम्मान-लालसा चारों ओर की परिस्थितियों से टकराती है और वे हैं सामाजिक रूढ़ियाँ, आर्थिक पैटर्न अर्थात् व्यवस्था तथा सबसे बड़े घेरे हैं अन्तर के संस्कार और रूढ़ि-बोध। सम्मान-लालसा उसे धरती से बाँध रखती है, मजदूरी में पैसे हैं किन्तु किसान होने की स्निग्ध सम्मान-लालसा को वह छोड़ नहीं पाता। संकट की चीज लेकर जन्म-जन्मान्तर से आत्मा का अंश बनने वाले संस्कार का वह त्याग नहीं कर सकता।

होरी के जीवन-संघर्ष के दोनों स्तर स्पष्ट हैं—पारिवारिक और सामाजिक। पारिवारिक विघटन से वह क्षुब्ध है और अवसर उपस्थित होते ही अविच्छिन्नता के प्रकाशन द्वारा आत्म-सम्मान को तुष्टि और परितोष देता है और आत्म-सम्मान के सामाजिक प्रतिफलन के लिए रायसाहब की खुशामद करता है, पंचों का अन्यायपूर्ण न्याय सहन करता है। रायसाहब के साथ इसकी तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की वृत्तियाँ सम्मान-लालसा से विवश हैं : सामाजिक स्तर और सांस्कृतिक चैतन्य की विभिन्नता के कारण अभिव्यक्ति और प्रतिफलन में अन्तर अवश्य है। प्रचलित सामाजिक संगठन के अन्तर्गत वह सम्माननीय बनने का प्रयास करता है, वह असफल होता है, किन्तु उसकी असफलता चरित्र की दुर्बलता और अक्षमता के कारण नहीं बल्कि परिवेष्टनजन्य विवशताओं के कारण है। रायसाहब इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं किन्तु इसके संरक्षण की चेष्टा में सतत प्रयत्नशील हैं। होरी के समक्ष प्राप्त सुविधाओं के संरक्षण की समस्या नहीं, यह समस्या तो रायसाहब के वर्ग की है, यद्यपि इस स्थिति के निराकरण की आकांक्षा उनमें है। विकासवादी अस्तित्व के लिए संघर्ष एवं उस संघर्ष में सबल की रक्षा के सिद्धान्त के आधार पर होरी के संघर्ष का विवेचन नहीं किया जा सकता।

होरी का संघर्ष सामाजिक व्यक्तित्व के साथ वैयक्तिक व्यक्तित्व का नहीं है बल्कि सामाजिक व्यक्तित्व का समाज-व्यवस्था के साथ है जिसमें जमींदार एक है तो साहूकार तीन-तीन; एवं शासन-व्यवस्था जिनके संरक्षण के लिए इनकी ही नीति अपनाती है। होरी सामाजिक भावनाओं और विचारों की सैद्धान्तिकता का व्यावहारिक पक्ष नहीं और न उसमें व्यक्तिगत भावों और विचारों को सामाजिक परिणति देने की क्षमता ही है। सम्मान-लालसा उसे अव्यावहारिक बनाती है, जिससे धनिया और गोबर का विरोध है। धनिया का अन्तर विरोध करता है और गोबर का विरोध विद्रोह का रूप धारण करके उभरता है। संघर्ष का पारिवारिक रूप उस नये युग में अधिक स्पष्ट हो जाता है। होरी सामान्य किसान जो है, तो किसानों की धूर्त्तता के साथ उनकी काल्पनिक सामान्य सरलता व्यावहारिकता के रूप में उसमें प्रतिफलित होती हुई दीख पड़ती है, यद्यपि सम्मान-लालसा उसे अव्यावहारिक बनाती है। उसमें न तो गाढ़ रागात्मक उन्मेष और प्रेरणा है और न विचार-शक्ति की प्रौढ़ता ही। सम्पत्ति-लालसा धूर्त्तता के जिन सोपानों को अपनी सिद्धि का साधन बनाती है उन्हें वह स्वीकार नहीं कर पाता; क्योंकि उसके रूढ़िगत संस्कार इनके विरुद्ध पड़ते हैं। सहनशीलता और धैर्य जो होरी में हैं वे उसके शील के संकेतक नहीं बल्कि परम्परा और रूढ़ियों की निर्वैयक्तिक सत्ता की स्वीकृति के परिणाम। इस आर्थिक गठन के आधार पर निर्धारित पारिवारिक जीवन के लिए भोला की उक्तियाँ अधिक सटीक हैं—"यह गृहस्थी जी का जंजाल है, सोने की हँसिया जिसे न उगलते बनता है, न निगलते।" 'गोदान' के पात्र सामाजिक-पारिवारिक परिचक्र में अभियान करते हैं और आर्थिक जकड़ की कर्कशता में शिथिल और चेष्टागत निश्चेष्ट। होरी "कितना चाहता है कि किसी से एक पैसा भी कर्ज न ले, जिसका आता है, उसका पाई-पाई चुका दे; लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता।" गला छूटने की कौन कहे छुड़ाने की चिन्ता में वह और फँसता जाता है। वह एकाकी संघर्ष करता है किन्तु समानधर्मा व्यक्तियों में एका स्थापित करके कम्युनिस्ट लीडर नहीं बन पाता, बन भी नहीं सकता, क्योंकि वह धरती से रागात्मक सम्बन्ध में बँधा है और कम्युनिस्ट-नेतृत्व किसान के लिए नहीं, सर्वहारा के लिए है।

जीवन-संग्राम में उसकी सदा हार हुई, वह उस हार को ही विजय-पर्व मानता रहा; इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि होरी संघर्ष करता है। इस संघर्ष के क्रम में उसकी निर्बलताएँ स्पष्ट होकर उभरीं किन्तु सामान्य व्यक्तित्व में भी उदात्तता का रूप स्पष्ट हो जाता है, प्राकृतिक जीवन में भी महानता है इसके दर्शन हो जाते हैं। हार्डी और वर्डस्वर्थ के साथ इस दृष्टि से प्रेमचन्द की समता स्थापित हो जाती है। प्रेमचन्द में भी हार्डी की ही भाँति वृत्ति, चरित्र अथवा प्रेरणा का गम्भीर और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं। होरी की मानसिकता में लालसा का वृत्त विस्तृत होता है किन्तु गम्भीर नहीं हो पाता, यह वृत्ति उसे मजदूर बनाती है किन्तु बना नहीं पाती, मजदूरी उसकी अन्तर्वृत्ति के साथ मेल नहीं खाती। होरी का जीवन परिवृत्त ही नहीं बल्कि पूर्व-निश्चित और नियन्त्रित भी है; क्योंकि सामाजिक संस्थाएँ, धार्मिक रूढ़ियाँ, आर्थिक संघटन और राजनीतिक व्यवस्था उसे सीमित-संकुचित करती हुई रूप देती हैं। होरी का व्यक्तित्व देवताओं के स्वार्थ से नहीं टकराता, अन्य व्यक्तियों के स्वार्थों से टकराता है अवश्य किन्तु दैविक शक्ति के समक्ष वह विवश नहीं और न अन्य व्यक्तियों का स्वार्थ ही उसे पूर्णतया अवश करता है। उसकी इस बाह्य विवशता के लिए अपने संस्कारों की भी विवशतापूर्ण सीमाएँ हैं। होरी के समक्ष किसान के जीवन और मजदूरी में चुनाव करने की समस्या नहीं, उसकी वृत्ति किसान की ही रहती है। गोबर के समक्ष यह प्रश्न अवश्य आता है किन्तु उस चुनाव में भी उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, चयन करने की सुविधा अथवा चेतन-द्विधा का अभाव है। 'अंडर द ग्रीन उड ट्री' (हार्डी) की 'फैन्सी डे'-जैसा नागर-जीवन का प्रलोभन गोबर में नहीं किन्तु पुरानी परम्पराएँ नष्ट हो रही हैं, जीवन-क्रम परिवर्तित हो रहा है और होरी के स्रष्टा को उसके लिए समवेदना है। इस परिवर्तन में होरी उन मानों और मान्यताओं की स्थापना करना चाहता है, जिनके कारण पूर्ण-जीवन की महत्ता स्थिर थी। होरी की ट्रेजेडी में सामाजिक अरक्षण-मात्र नहीं बल्कि सम्मान और प्रतिष्ठा को उच्चस्तरीय बनाने की अक्षमता है। रायसाहब की संरक्षणीयता होरी में उच्चस्तरता से नियोजन और उन्नयन की प्रक्रिया बनकर आई है। उसका धरती से चिपका रहना, उस वृत्ति का संकेतक है जो परम्परा और रूढ़ि से मुक्त होना नहीं चाहती। एक उदात्त आकांक्षा की अपूर्ति भी होरी की ट्रेजेडी का पूर्ण स्वरूप-नियोजक नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक सम्पूर्ति सहानुभूति को और गहरी कर देती है। होरी अन्तर में जीता नहीं; बाह्य ही उसके लिए तथ्य और सत्य दोनों हैं। होरी का महत्त्व, उसके संघर्ष और उस संघर्ष की चेतना, वैयक्तिकता की निर्बाध चरमता अथवा नव-मूल्य-स्थापक धारणाओं में नहीं बल्कि सहानुभूति जगाने की उस क्षमता में है जो सामान्य उन्नति की आकांक्षा और उसकी अपूर्ति में है। होरी को साधारणीकृत करने की अपेक्षा नहीं हुई, सामान्य होरी का विशेषीकरण[1] ही साधारणीकरण का स्वरूप हो गया।

सामाजिक व्यक्तित्व की व्याप्ति का जो रूप प्रेमचन्द के होरी में मिलता है, उसके दूसरे पहलू के दर्शन 'नागार्जुन' के 'बलचनमा' में होते हैं। नागार्जुन में प्रेमचन्द की निश्छल, सरल

---

१. Momentous to himself, as I to me,
Hath each man been that ever woman bore;
Once in a lightning flash of sympathy,
I felt this truth, an instant and no more.

होरी के जीवन-संघर्ष के दोनों स्तर स्पष्ट हैं—पारिवारिक और सामाजिक। पारिवारिक विघटन से वह क्षुब्ध है और अवसर उपस्थित होते ही अविच्छिन्नता के प्रकाशन द्वारा आत्म-सम्मान को तुष्टि और परितोष देता है और आत्म-सम्मान के सामाजिक प्रतिफलन के लिए रायसाहब की खुशामद करता है, पंचों का अन्यायपूर्ण न्याय सहन करता है। रायसाहब के साथ इसकी तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की वृत्तियाँ सम्मान-लालसा से विवश हैं : सामाजिक स्तर और सांस्कृतिक चैतन्य की विभिन्नता के कारण अभिव्यक्ति और प्रतिफलन में अन्तर अवश्य है। प्रचलित सामाजिक संगठन के अन्तर्गत वह सम्माननीय बनने का प्रयास करता है, वह असफल होता है, किन्तु उसकी असफलता चरित्र की दुर्बलता और अक्षमता के कारण नहीं बल्कि परिवेष्टनजन्य विवशताओं के कारण है। रायसाहब इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं किन्तु इसके संरक्षण की चेष्टा में सतत प्रयत्नशील हैं। होरी के समक्ष प्राप्त सुविधाओं के संरक्षण की समस्या नहीं, यह समस्या तो रायसाहब के वर्ग की है, यद्यपि इस स्थिति के निराकरण की आकांक्षा उनमें है। विकासवादी अस्तित्व के लिए संघर्ष एवं उस संघर्ष में सबल की रक्षा के सिद्धान्त के आधार पर होरी के संघर्ष का विवेचन नहीं किया जा सकता।

होरी का संघर्ष सामाजिक व्यक्तित्व के साथ वैयक्तिक व्यक्तित्व का नहीं है बल्कि सामाजिक व्यक्तित्व का समाज-व्यवस्था के साथ है जिसमें जमींदार एक है तो साहूकार तीन-तीन; एवं शासन-व्यवस्था जिनके संरक्षण के लिए इनकी ही नीति अपनाती है। होरी सामाजिक भावनाओं और विचारों की सैद्धान्तिकता का व्यावहारिक पक्ष नहीं और न उसमें व्यक्तिगत भावों और विचारों को सामाजिक परिणति देने की क्षमता ही है। सम्मान-लालसा उसे अव्यावहारिक बनाती है, जिससे धनिया और गोबर का विरोध है। धनिया का अन्तर विरोध करता है और गोबर का विरोध विद्रोह का रूप धारण करके उभरता है। संघर्ष का पारिवारिक रूप उस नये युग में अधिक स्पष्ट हो जाता है। होरी सामान्य किसान जो है, तो किसानों की धूर्तता के साथ उनकी काल्पनिक सामान्य सरलता व्यावहारिकता के रूप में उसमें प्रतिफलित होती हुई दीख पड़ती है, यद्यपि सम्मान-लालसा उसे अव्यावहारिक बनाती है। उसमें न तो गाढ़ रागात्मक उन्मेष और प्रेरणा है और न विचार-शक्ति की प्रौढ़ता ही। सम्पत्ति-लालसा धूर्तता के जिन सोपानों को अपनी सिद्धि का साधन बनाती है उन्हें वह स्वीकार नहीं कर पाता; क्योंकि उसके रूढ़िगत संस्कार इनके विरुद्ध पड़ते हैं। सहनशीलता और धैर्य जो होरी में हैं वे उसके शील के संकेतक नहीं बल्कि परम्परा और रूढ़ियों की निर्वैयक्तिक सत्ता की स्वीकृति के परिणाम। इस आर्थिक गठन के आधार पर निर्धारित पारिवारिक जीवन के लिए भोला की उक्तियाँ अधिक सटीक हैं—"यह गृहस्थी जी का जंजाल है, सोने की हँसिया जिसे न उगलते बनता है, न निगलते।" 'गोदान' के पात्र सामाजिक-पारिवारिक परिचक्र में अभियान करते हैं और आर्थिक जकड़ की कर्कशता में शिथिल और चेष्टागत निश्चेष्ट। होरी "कितना चाहता है कि किसी से एक पैसा भी कर्ज न ले, जिसका आता है, उसका पाई-पाई चुका दे; लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता।" गला छूटने की कौन कहे छुड़ाने की चिन्ता में वह और फँसता जाता है। वह एकाकी संघर्ष करता है किन्तु समानधर्मा व्यक्तियों में एका स्थापित करके कम्युनिस्ट लीडर नहीं बन पाता, बन भी नहीं सकता, क्योंकि वह धरती से रागात्मक सम्बन्ध में बँधा है और कम्युनिस्ट-नेतृत्व किसान के लिए नहीं, सर्वहारा के लिए है।

जीवन-संग्राम में उसकी सदा हार हुई, वह उस हार को ही विजय-पर्व मानता रहा; इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि होरी संघर्ष करता है। इस संघर्ष के क्रम में उसकी निर्बलताएँ स्पष्ट होकर उभरीं किन्तु सामान्य व्यक्तित्व में भी उदात्तता का रूप स्पष्ट हो जाता है, प्राकृतिक जीवन में भी महानता है इसके दर्शन हो जाते हैं। हार्डी और वर्ड्स्वर्थ के साथ इस दृष्टि से प्रेमचन्द की समता स्थापित हो जाती है। प्रेमचन्द में भी हार्डी की ही भाँति वृत्ति, चरित्र अथवा प्रेरणा का गम्भीर और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं। होरी की मानसिकता में लालसा का वृत्त विस्तृत होता है किन्तु गम्भीर नहीं हो पाता, यह वृत्ति उसे मजदूर बनाती है किन्तु बना नहीं पाती, मजदूरी उसकी अन्तर्वृत्ति के साथ मेल नहीं खाती। होरी का जीवन परिवृत्त ही नहीं बल्कि पूर्व-निश्चित और नियन्त्रित भी है; क्योंकि सामाजिक संस्थाएँ, धार्मिक रूढ़ियाँ, आर्थिक संघटन और राजनीतिक व्यवस्था उसे सीमित-संकुचित करती हुई रूप देती हैं। होरी का व्यक्तित्व देवताओं के स्वार्थ से नहीं टकराता, अन्य व्यक्तियों के स्वार्थों से टकराता है अवश्य किन्तु दैविक शक्ति के समक्ष वह विवश नहीं और न अन्य व्यक्तियों का स्वार्थ ही उसे पूर्णतया अवश करता है। उसकी इस बाह्य विवशता के लिए अपने संस्कारों की भी विवशतापूर्ण सीमाएँ हैं। होरी के समक्ष किसान के जीवन और मजदूरी में चुनाव करने की समस्या नहीं, उसकी वृत्ति किसान की ही रहती है। गोबर के समक्ष यह प्रश्न अवश्य आता है किन्तु उस चुनाव में भी उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, चयन करने की सुविधा अथवा चेतन-द्विधा का अभाव है। 'अंडर द ग्रीन उड ट्री' (हार्डी) की 'फैन्सी डे'-जैसा नागर-जीवन का प्रलोभन गोबर में नहीं किन्तु पुरानी परम्पराएँ नष्ट हो रही हैं, जीवन-क्रम परिवर्तित हो रहा है और होरी के स्रष्टा को उसके लिए समवेदना है। इस परिवर्तन में होरी उन मानों और मान्यताओं की स्थापना करना चाहता है, जिनके कारण पूर्ण-जीवन की महत्ता स्थिर थी। होरी की ट्रेजेडी में सामाजिक अरक्षण-मात्र नहीं बल्कि सम्मान और प्रतिष्ठा को उच्चस्तरीय बनाने की अक्षमता है। रायसाहब की संरक्षणीयता होरी में उच्चस्तरता से नियोजन और उन्नयन की प्रक्रिया बनकर आई है। उसका धरती से चिपका रहना, उस वृत्ति का संकेतक है जो परम्परा और रूढ़ि से मुक्त होना नहीं चाहती। एक उदात्त आकांक्षा की अपूर्ति भी होरी की ट्रेजेडी का पूर्ण स्वरूप-नियोजक नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक सम्पूर्ति सहानुभूति को और गहरी कर देती है। होरी अन्तर में जीता नहीं; बाह्य ही उसके लिए तथ्य और सत्य दोनों हैं। होरी का महत्त्व, उसके संघर्ष और उस संघर्ष की चेतना, वैयक्तिकता की निर्बाध चरमता अथवा नव-मूल्य-स्थापक धारणाओं में नहीं बल्कि सहानुभूति जगाने की उस क्षमता में है जो सामान्य उन्नति की आकांक्षा और उपकी अपूर्ति में है। होरी को साधारणीकृत करने की अपेक्षा नहीं हुई, सामान्य होरी का विशेषीकरण[१] ही साधारणीकरण का स्वरूप हो गया।

सामाजिक व्यक्तित्व की व्याप्ति का जो रूप प्रेमचन्द के होरी में मिलता है, उसके दूसरे पहलू के दर्शन 'नागार्जुन' के 'बलचनमा' में होते हैं। नागार्जुन में प्रेमचन्द की निश्छल, सरल

---

१. Momentous to himself, as I to me,
Hath each man been that ever woman bore;
Once in a lightning flash of sympathy,
I felt this truth, an instant and no more.

पात्रता का निर्माण भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। यौन-वृत्ति की चरितार्थता और सन्तुष्टि की सीमाएँ हैं—सामाजिक-धार्मिक संस्थाएँ, पारिवारिक संघटन, आर्थिक व्यवस्था एवं रूढ़ियाँ और परम्पराएँ। संस्थाएँ व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशालिनी सिद्ध होने की चेष्टाएँ करती हैं और व्यक्ति अपनी निजता और स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा करके इन पर विजय प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। होरी की महत्त्वाकांक्षा से इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा में स्पष्ट अन्तर है। व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक संस्कारों के नियन्त्रणों द्वारा नियमित होता है। 'गोदान' का गोबर महतो भोला ग्वाले की विधवा लड़की झुनिया से भीख मिलने की आशा में दिन-भर और रात-भर दाता के द्वार पर खड़े रहने की इच्छा प्रकट करता है तो ब्राह्मण मातादीन सिलिया चमारिन की झोंपड़ी को अपनी देवी का मन्दिर बनाता है। बूढ़े भोला की चटपटी दूसरी पत्नी नोखरी नोखेराम को उँगलियों पर नचाती है तो युवक मथुरा युवती पत्नी के रहते सिल्लो से छेड़खानी करने से नहीं चूकता। यौन-वृत्ति के इन प्रकाशनों में सांस्थिक आग्रहों के टूटने का स्पष्ट क्रम है और यह पूर्णतया परिलक्षित होने लगता है कि नवीन युगमान की नूतन अभिव्यक्ति के सजग आकलनकर्ता प्रेमचन्द हैं। डॉ० मालती फिलासफर मेहता के प्रति आकृष्ट है और प्रोफेसर मेहता का आकर्षण-केन्द्र है वन्यबाला का सहज, प्राकृत जीवन। आज के उपन्यासकार फिलासफर टाइप हैं अतः औपन्यासिक नारियों का आकर्षण फिलासफर टाइप पात्रों के लिए सुरक्षित है। 'नये मोड़' का प्राणनाथ वकील होकर भी फिलासफी बघारता है और 'नदी के द्वीप' का डॉ० भुवन भौतिक विज्ञान का पी-एच० डी० होकर भी प्रोफेसर मेहता (गोदान) से अधिक बौद्धिक और दर्शनीकरण में पटु है। जैनेन्द्र में जो-जो वक्रतापूर्ण दर्शनीकरण का आयास है उसके प्रभाव से उनके पात्र आक्रान्त हैं। सामाजिक परिपार्श्व की भूमिका में सुनीता की समस्या सेक्स की है। ऐसे पात्रों की वास्तविकता में सन्देह करने का कारण वास्तविक जीवन में ऐसे पात्रों का अभाव नहीं बल्कि हमारे कल्पित, रूढ़ एवं आदर्शात्मक आदर्शों के साथ इनकी टकराहट है। इन पात्रों की यौन-वृत्ति-सन्तुष्टि-जन्य समस्याएँ विच्छिन्न तो नहीं किन्तु पूर्णतया सम्पृक्त भी नहीं। यही समस्या 'नदी के द्वीप' के डॉ० भुवन की है। डॉ० भुवन की पात्रता के विश्लेषण के लिए उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण करना पड़ेगा जो उसे स्वरूप और निर्दिष्टता देते हैं।

डॉ० भुवन में शेखर के निर्दिष्ट और स्पष्ट चिह्न हैं यद्यपि दोनों की भिन्नता भी यथार्थ है। शेखर जहाँ सूत्रों को छोड़ देता है, वहाँ से भुवन प्रारम्भ करता है। रोमांचक वृत्ति और बौद्धिकता का जो आरोपमय चित्रण शेखर में उपलब्ध है उसका विकास भुवन में होता है, जो बुद्धिवादी होने का मोह जगाता है। भुवन वैज्ञानिक है, विज्ञान का अध्यापक भी ; वैज्ञानिक शिक्षा प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा वैविध्य तथा अनेकता में एकसूत्रता के स्थापित करने की चेष्टा करती है और अपेक्षित तटस्थता द्वारा परिणाम और निष्कर्ष के प्रति उदासीनता व्यक्त करती है। डॉ० भुवन की वैज्ञानिक शिक्षा व्यर्थ-सी होती है कारण सार्वभौमीकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया के उसमें दर्शन तो होते हैं किन्तु वैज्ञानिक वृत्ति उसमें जग नहीं पाती। डॉ० भुवन की उपलब्धियाँ उसकी आन्तरिक प्रेरणा और शक्तिमत्ता के कारण नहीं बल्कि हीनता की ग्रन्थियों की उच्चमार्गीय परिणति है। गौरा के प्रति जो उसका प्राथमिक स्फुरण था, वह सामाजिक स्तरों की भिन्नता के कारण उभर न सका था और सामाजिक स्तर की उस हीनता के निराकरण के लिए भुवन की चेष्टाएँ पी-एच० डी० पी० की उपाधि की ओर अग्रसर करती हैं। बौद्धिकता और ज्ञान के

और निर्बाध शैली का प्रवाह और कला-चेतना के प्रकीर्ण रूप की धारा नहीं; चित्रण-कौशल को काव्यात्मक माधुर्य देने एवं वातावरण-सृष्टि की कुशलता भी नागार्जुन में नहीं; किन्तु व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया अधिक उभरकर आई है। राजनीतिक चेतना और सामाजिक संघटन के स्पष्ट प्रभाव के कारण यह रूप अधिक स्पष्ट हो सका। होरी किसान था, धरती से बँधा हुआ। परिस्थिति-क्रम से संक्रमित होने वाले समाज के कारण गोबर शहर में जाकर मजदूर बना था; मजदूरों की हड़ताल में उसने भाग लिया था और समदुःखता ने उसे बन्धुत्व का आधार भी दिया था। किन्तु, वह भी धरती से उच्छिन्न नहीं। बलचनमा किसान नहीं, नाम-मात्र की ही उसकी किसानी थी। वह धरती से बँधा न था, उसके संस्कार भी अतः बँधे न थे। वह विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं के सम्पर्क में आता है, उनकी भाषा और दलीलें सीखता है, उनके दोषों और अक्षमताओं का निरीक्षण-परीक्षण करता है। आर्थिक ढाँचे और सामाजिक व्यवस्था के स्पष्ट नियन्त्रण इस पर हैं किन्तु पूर्व-निश्चितता की धारणा को पुष्टि नहीं मिलती, वैसा होना समाज-व्यवस्था के परिवर्तन के दर्शन को ध्वस्त कर देता। 'बलचनमा' निम्नस्तरीय है किन्तु उनके संस्कारों से बँधा नहीं, ग्वाला होकर भी जूठा जो खाता है। उसकी वृत्तियाँ भी कुण्ठित, अप्रस्फुटित अथवा निर्जीव चेतन नहीं। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की दृष्टि ही इस चरित्र में प्रदीप्त है। होरी सोचता-समझता है, उसमें कभी-कभी विद्रोह की भावना भी जग जाती है किन्तु वह 'बलचनमा' की भाँति सजग और सचेत नहीं। होरी और बलचनमा निम्नतम वर्ग-चेतना के दो विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधि और प्रतीक हैं, गाँवों के वातावरण से सम्बद्ध और उसकी सामाजिक संघटन-प्रक्रिया से आबद्ध किन्तु 'बलचनमा' मध्यवर्गीय चेतना की निम्नस्तरीय स्फूर्ति है। वैयक्तिक समस्याओं के सामाजिक परिवेष्टन में अभिव्यक्ति के स्थान में सामाजिक समस्याओं की व्यक्तिगत परिणति 'बलचनमा' में मिलती है। यह प्रतीकात्मक निर्वैयक्तिकता होरी की भाँति सहानुभूति उभारने में क्षम नहीं। 'बलचनमा' पाठक की संवेदना सजग नहीं करता, वैयक्तिक संस्पर्शिता नहीं जगाता, कारण वह व्यक्ति नहीं समाज का प्रवक्ता है और प्रत्येक प्रवक्ता की भाँति अधिकाधिक रञ्जित करने वाला।

अपने वर्ग-संस्कार से मुक्ति और नूतन मूल्यों की रागात्मक स्वीकृति की अपेक्षा की कठिनाइयों के कारण मध्यवर्गीय पात्र की सामाजिक व्यक्तित्व में परिणति अपेक्षाकृत कठिन है। 'नये मोड़' का प्राणनाथ मध्यवर्गीय व्यक्तिक व्यक्ति है जिसमें नूतन मूल्यों की स्थापना का आग्रह है। वह विद्वान् है, उसके सिद्धान्तों में पुस्तकीय परिश्रम की अनुकृति है, वह उन सिद्धान्तों में जीवित और जागरित नहीं। उसका समग्र जीवन उस स्फूर्ति का प्रतीक नहीं; वह फिलासफर नहीं; आज के अर्थों में विद्वान् है, पण्डित है। 'प्रेत बोलते हैं' का शिरीष भी 'प्राणनाथ' की भाँति ही साम्यवादी मानवतावाद की वकालत करता है, उसका व्याख्याता है एवं वकालत में तर्क-संगति के आग्रह से अधिक स्वपक्ष का पक्षपातपूर्ण सबल समर्थन रहता है। वकील और जर्नलिस्ट पात्रों की साम्यवादी परिणति इन वर्गों की चेतना का फल नहीं, व्यावहारिक बुद्धि का परिणाम है। 'नदी के द्वीप' के चन्द्रमाधव की कम्युनिस्ट परिणति इस वर्ग के पात्रों पर गहरा व्यंग्य है।

: ५ :

काम-विकार और सेक्स की समस्या को केन्द्र बनाकर विकसित होने वाले पात्रों की

पात्रता का निर्माण भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। यौन-वृत्ति की चरितार्थता और सन्तुष्टि की सीमाएँ हैं—सामाजिक-धार्मिक संस्थाएँ, पारिवारिक संघटन, आर्थिक व्यवस्था एवं रूढ़ियाँ और परम्पराएँ। संस्थाएँ व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशालिनी सिद्ध होने की चेष्टाएँ करती हैं और व्यक्ति अपनी निजता और स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा करके इन पर विजय प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। होरी की महत्त्वाकांक्षा से इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा में स्पष्ट अन्तर है। व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक संस्कारों के नियन्त्रणों द्वारा नियमित होता है। 'गोदान' का गोबर महतो भोला ग्वाले की विधवा लड़की झुनिया से भीख मिलने की आशा में दिन-भर और रात-भर दाता के द्वार पर खड़े रहने की इच्छा प्रकट करता है तो ब्राह्मण मातादीन सिलिया चमारिन की झोंपड़ी को अपनी देवी का मन्दिर बनाता है। बूढ़े भोला की चटपटी दूसरी पत्नी नोखरी नोखेराम को उँगलियों पर नचाती है तो युवक मथुरा युवती पत्नी के रहते सिल्लो से छेड़खानी करने से नहीं चूकता। यौन-वृत्ति के इन प्रकाशनों में सांस्थिक आग्रहों के टूटने का स्पष्ट क्रम है और यह पूर्णतया परिलक्षित होने लगता है कि नवीन युगमान की नूतन अभिव्यक्ति के सजग आकलनकर्ता प्रेमचन्द हैं। डॉ० मालती फिलासफर मेहता के प्रति आकृष्ट है और प्रोफेसर मेहता का आकर्षण-केन्द्र है वन्यबाला का सहज, प्राकृत जीवन। आज के उपन्यासकार फिलासफर टाइप हैं अतः औपन्यासिक नारियों का आकर्षण फिलासफर टाइप पात्रों के लिए सुरक्षित है। 'नये मोड़' का प्राणनाथ वकील होकर भी फिलासफी बघारता है और 'नदी के द्वीप' का डॉ० भुवन भौतिक विज्ञान का पी-एच० डी० होकर भी प्रोफेसर मेहता (गोदान) से अधिक बौद्धिक और दर्शनीकरण में पटु है। जैनेन्द्र में जो-जो वक्रतापूर्ण दर्शनीकरण का आयास है उसके प्रभाव से उनके पात्र आक्रान्त हैं। सामाजिक परिपार्श्व की भूमिका में सुनीता की समस्या सेक्स की है। ऐसे पात्रों की वास्तविकता में सन्देह करने का कारण वास्तविक जीवन में ऐसे पात्रों का अभाव नहीं बल्कि हमारे कल्पित, रूढ़ एवं आदर्शात्मक आदर्शों के साथ इनकी टकराहट है। इन पात्रों की यौन-वृत्ति-सन्तुष्टि-जन्य समस्याएँ विच्छिन्न तो नहीं किन्तु पूर्णतया सम्पृक्त भी नहीं। यही समस्या 'नदी के द्वीप' के डॉ० भुवन की है। डॉ० भुवन की पात्रता के विश्लेषण के लिए उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण करना पड़ेगा जो उसे स्वरूप और निर्दिष्टता देते हैं।

डॉ० भुवन में शेखर के निर्दिष्ट और स्पष्ट चिह्न हैं यद्यपि दोनों की भिन्नता भी यथार्थ है। शेखर जहाँ सूत्रों को छोड़ देता है, वहाँ से भुवन प्रारम्भ करता है। रोमांचक वृत्ति और बौद्धिकता का जो आरोपमय चित्रण शेखर में उपलब्ध है उसका विकास भुवन में होता है, जो बुद्धिवादी होने का मोह जगाता है। भुवन वैज्ञानिक है, विज्ञान का अध्यापक भी ; वैज्ञानिक शिक्षा प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा वैविध्य तथा अनेकता में एकसूत्रता के स्थापित करने की चेष्टा करती है और अपेक्षित तटस्थता द्वारा परिणाम और निष्कर्ष के प्रति उदासीनता व्यक्त करती है। डॉ० भुवन की वैज्ञानिक शिक्षा व्यर्थ-सी होती है कारण सार्वभौमीकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया के उसमें दर्शन तो होते हैं किन्तु वैज्ञानिक वृत्ति उसमें जग नहीं पाती। डॉ० भुवन की उपलब्धियाँ उसकी आन्तरिक प्रेरणा और शक्तिमत्ता के कारण नहीं बल्कि हीनता की ग्रन्थियों की उच्चमार्गीय परिणति है। गौरा के प्रति जो उसका प्राथमिक स्फुरण था, वह सामाजिक स्तरों की भिन्नता के कारण उभर न सका था और सामाजिक स्तर की उस हीनता के निराकरण के लिए भुवन की चेष्टाएँ पी-एच० डी० पी० की उपाधि की ओर अग्रसर करती हैं। बौद्धिकता और ज्ञान के

सहजानुभूतिजन्य आधार की स्पष्ट रेखाएँ इस चरित्र में मिलती हैं। डॉ० भुवन मानव के उस विकास का संकेत देता है जिसमें "बुद्धि मानो तीव्र संवेदना के साथ गुँथी हुई है"; भुवन में इस विकास का अभाव ही रह गया; क्योंकि बौद्धिकता की वाग्धारा उसे अतिरोमांचक बनने से बचा नहीं पाती। इस अभाव की सम्पूर्त्ति उसे रेखा के व्यक्तित्व में मिलती है जिसमें रूप भी है और बुद्धि भी। रूप में बौद्धिक अभाव 'शॉ' देखता था, उससे विपरीत रूप और बुद्धि का तीव्र आवेग रेखा में नियोजित हुआ है। प्रथम स्फुरण की अवमानतना ने भुवन को जो आत्मस्थ बना दिया था उसकी निराकृति के लिए 'रेखा'-जैसी नारी की अपेक्षा थी जो रूप-बुद्धि-सम्पन्न ही नहीं बल्कि वात्सल्य-जैसी करुणामिश्रित भावना से विगलित है। समदुःख से समवय व्यथित व्यक्तियों का यह सम्मिलन-मात्र नहीं। रेखा की अधिकार-लिप्सा भुवन को थोड़े क्षणों के लिए ही सही पूर्णतया अपना बनाकर सन्तुष्ट होती है; हेमेन्द्र पर उसका अधिकार हो न सका था, उसकी सम्पूर्ति यहाँ होनी है। होरी की अधिकार-लिप्सा से भिन्नता यहाँ स्पष्ट है, उसके अधिकार की सीमा है परिवार और यहाँ रेखा परिवार-विच्छिन्न व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार करके सन्तुष्ट होती है। उसका 'फुलफिलमेंट' कुण्ठित वासना की सन्तुष्टि के कारण ही नहीं बल्कि भुवन को पूर्णतया अधिकृत करने की सम्पूर्त्ति में है। भुवन में बौद्धिकता और रोमांचकता के दो भिन्न पहलू जान पड़ते हैं, वे यौन-वृत्ति की चरितार्थता के ही परस्पर-सम्बद्ध और सम्पृक्त रूप हैं, बौद्धिकता अन्य आकर्षण के अभाव में रोमांचकता का आधार बनती है।

भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा और गौरा की समस्याएँ सेक्स और विवाह में केन्द्रित हैं किन्तु पारिवारिक-सामाजिक संश्लेष अत्यन्त क्षीण है। भुवन अविवाहित है और उसका बुद्धिजीवी विकास विवाह को सामाजिक बन्धन के रूप में स्वीकार नहीं करता; विवाह को वह व्यक्तिगत सम्बन्ध-निश्चय समझता है। चन्द्रमाधव पति और पिता दोनों होकर भी परिवार से अलग रहता है। रेखा का पति अलग गृहस्थी बसा चुका है और गौरा अविवाहिता है और अपेक्षाकृत सबसे वय में कम। सभी आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हैं—भुवन कॉलेज का अध्यापक है, अपनी अभावपूर्ण पूर्णता में सन्तुष्ट और चन्द्रमाधव जर्नलिस्ट है। रेखा स्वतन्त्र रूप से जीविकोपार्जन में समर्थ है, यद्यपि चन्द्रमाधव की सहायता कभी-कभी अपेक्षित रहती है और धनी पिता गौरा के सम्बल हैं एवं स्वतन्त्रता के उपयुक्त साधन जुटाने में समर्थ और सहृदय भी। 'शेष प्रश्न' (शरच्चन्द्र) की नायिका की दीप्ति और ओजस्विता रेखा में नहीं और न उसके संस्कार ही हैं और न 'किरण कुमारी' (चरित्रहीन) की परिणति ही उसमें है। अतः यौन-वृत्ति की सन्तुष्टि ही 'नदी के द्वीप' की समस्या है, सांस्थिक संस्कारों से विच्छिन्न एवं पारिवारिक-सामाजिक परिवेश से अपेक्षाकृत मुक्त। इसमें उभारने वाला संघर्ष व्यक्तियों की टकराहट है, व्यक्ति और समाज की नहीं। यह समस्या निर्व्यक्तिक व्यक्तियों की नहीं, सामाजिक व्यक्तित्व की वैयक्तिक अभिव्यक्ति से पूर्ण व्यक्तित्व की भी नहीं, बल्कि विशिष्ट, पूर्णतया व्यक्तिक और वैयक्तिक तथा अपेक्षाकृत स्वतन्त्र-वृत्ति व्यक्तियों की है, सामाजिक परिवृत्त जिन्हें क्षीण-रूप में प्रभावित तो करता है किन्तु नियन्त्रित और नियमित नहीं। 'नदी के द्वीप' की प्रतीकात्मकता इसे पुष्ट कर रही है,—"हम अधिक से-अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी; भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सदा असहाय भी।"

'नदी के द्वीप' के पात्र अनुभूति और वृत्तियों के आनुरूप्य के ही कारण काव्य को महत्त्व-

पूर्ण नहीं मानते बल्कि वे काव्य में जीवित हैं, उसकी अनुरूपता पढ़ाने को सचेष्ट अतः काव्य उनके जीवन का आवश्यक तत्व बन जाता है। वैज्ञानिक भुवन को इतनी कविताएँ स्मरण हैं जितनी किसी साहित्य के अध्यापक को साधारणतया नहीं स्मरण रहतीं। भुवन का प्रथम-प्रथम स्फुरण गौरा के माध्यम से सजग होता है किन्तु निर्धन भुवन सम्पत्तिशालिनी गौरा के स्फुरण को आत्मसात् करता हुआ वैसा बन गया जिसके कारण चन्द्रमाधव को उसे गऊ, शान्त, गम्भीर, सूफ़ीयाना और मनहूस समझने का अवसर मिल गया। गौरा का स्फुरण भुवन के लिए असीम श्रद्धा का कवच बन गया। बौद्धिकता ने रोमांचकता पर जो दुर्भेद्य आवरण डाल रखा था, उसे रेखा के सजीव व्यक्तित्व ने सहसा हटा दिया। भुवन की बौद्धिकता का विकास अतृप्त वासना से ही उद्दीप्त है अतः प्रथम परिचय में ही रेखा ने उसे वह दिया जो अपेक्षाकृत निर्धनता की गोद में पली बौद्धिकता का संकोच बन गया था। भुवन की बुद्धि 'अपने जीवन से बड़े एक संयुक्त, व्यापक, समष्टिगत जीवन की बात' सोचती अवश्य है और उसीसे एक होने की धारणा का मोह भी पालती है किन्तु उसकी रोमांचक वृत्ति निजी जीवन को इकाई के रूप में ही जानती-मानती है। यौन-वृत्ति का जो स्फुरण गौरा से होता है और जिसकी परिणति गौरा से ही होती है, उसकी दीक्षा प्रौढ़ा रेखा से मिलती है और दीक्षित भुवन रेखा की ओर आकृष्ट होता है, उसके पास लौटने को विवश भी। वैज्ञानिक होने के नाते निर्व्यक्तिक व्यक्तित्व और वृत्ति-तुष्टि के नाते रोमांचक वैयक्तिकता का संघर्ष आन्तरिक से अधिक बाह्य ही है। भुवन के अन्तर से उस मनुष्य के रूप निखरने की सम्भावना थी जिसमें भावना भी बौद्धिकता से समग्रता स्थापित कर लेती है, बौद्धिकता भी जहाँ भावात्मक आवेश का रूप ग्रहण कर लेती है, किन्तु यह सम्भावना परिणति बनने में असफल ही रही; भुवन के व्यक्तित्व-निर्माण में विकास की सम्भावनाएँ शिथिल हो उठी हैं, वह विकसित होता है किन्तु आवेश की वे स्पष्ट रेखाएँ नहीं जो गौरा के विकास की आधार हैं। नैतिकता की समस्या इन व्यक्तियों को सताती नहीं यद्यपि औचित्य की सामान्य धारणाएँ इनमें हैं। जो सहज, स्वाभाविक और किसी कारण से आवश्यक हो, वह इन पात्रों की दृष्टि में अनैतिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु इसकी चिन्ता भी इन्हें नहीं सताती। भुवन ऊर्जस्फीत नहीं, वह मात्र-अन्तर्लीन ही नहीं बल्कि वृत्तियों के विश्लेषण में तत्पर है। यह तत्परता जहाँ उसकी सजगता और चेतनता की सूचना देती है, वहाँ उसके रागात्मक अवरोध का संकेत भी। भुवन सचेत तो है, किन्तु सजीव नहीं; पाठक में सम-वृत्ति जागरित करने वाली सजीवता का उसमें अभाव ही है। भुवन में Raskolmikov का अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक ऊहापोह और भावात्मक संघटन नहीं। भुवन का अहं प्रबल न हो सका और बौद्धिकता के कारण श्रीकान्त-जैसी ढुलमुल रागात्मिका वृत्ति भी स्फुरित न हो पाई। रेखा भुवन की जीवन-रेखाओं को बनाती-बिगाड़ती नहीं, उनको स्पष्टता देती है; उस ग्रन्थि को मुक्त कर देती है जिसके कारण वृत्तियों के तन्तु उलझ गए थे। रेखा की व्यावहारिक बुद्धि ने स्पष्ट कर रखा था कि जीवन चिरव्यापिनी एकेस्टेसी नहीं और विवाह द्वारा क्षणमूला एकेस्टेसी को मृत्युञ्जय नहीं बनाया जा सकता। रेखा का 'मध्यरंग' (interlude) भुवन को आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से ग्राह्य और भावात्मक दृष्टि से गौरा को समतोल बनाने के लिए है और इस समीकरण की प्रक्रिया में वैवाहिक बन्धन की स्वीकृति है। चन्द्रमाधव की ट्रेजेडी की भूमिका में भुवन के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। भुवन की तुष्टि का व्यवधान समाज और परिवार से अधिक उसके ही जैसे व्यक्तियों का समाज है।

इन दो विरोधी वर्गों से भिन्न वह चारित्रिक वर्ग है जो निर्व्यक्तिक समाज को वैयक्तिकता-पूर्ण व्यक्तित्व से परिचालित करता है, 'रंगभूमि' का सूरदास वैसा ही पात्र है। उसकी सांस्थिक सीमाएँ होती हैं किन्तु सामाजिक सीमाओं को भावात्मक रूप देकर वह वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार औपन्यासिक पात्रों की पात्रता के क्रम-विकास का अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि मूल वृत्तियों को सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक परिवेश के कारण संकोच, विस्तार, विकास और सीमा मिलती है। मौलिक समस्याओं के परिवृत्त में चक्कर काटने वाला व्यक्तित्व विविध रूपाकृति धारण करके सम्मुख उपस्थित होता है। जीवन-क्रम में वृत्तियों के सीमित विकास के कारण उपन्यासों में और विशेषकर किसी एक ही उपन्यासकार की रचनाओं में विभिन्न रूपान्तरों के साथ मौलिक अन्तर की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। लेखक की समग्रता ही औपन्यासिक पात्रों की पूर्णता नहीं है; उनके विकास की परिसीमाओं में ही उनकी समग्रता मिल सकेगी। अपने पात्रों में लेखक है, लेखक की उक्तियाँ ही पात्रों की उक्तियाँ हैं किन्तु पात्र लेखक की अनुकृति-मात्र नहीं। औपन्यासिक पात्रों के विश्वकर्मा का महत्त्व पात्रता के उपयुक्त परिवेश और मूल-वृत्ति का आधार नियोजित करने में है। रूपकों के पात्रों की भाँति औपन्यासिक पात्रों में कर्त्तृत्व की अपेक्षा नहीं क्योंकि औपन्यासिक पात्रों की अपेक्षा उनका संघर्ष अधिक तीव्र और निश्चित-परिणामी होता है। सजग कलाकार अपने पात्रों में अपना प्रतिबिम्ब सायास प्रतिफलित नहीं कराता; उनका विकास उनके परिपार्श्व में कराता है, उनकी सजीवता, चरित्र-हीनता अथवा कुण्ठाओं के मनोवैज्ञानिक और सांस्कारिक आधारों का स्पष्ट संकेत देता है, उनके बन्धनों और मोक्ष के प्रयासों को अभिव्यक्ति देता है जिससे सदा यह कहने की स्थिति में रहा जा सके कि उन पात्रों का विकास उनका ही विकास है और केवल उनका ही निजी विकास-मात्र और कुछ नहीं एवं इससे अन्यथा भी कुछ नहीं—

'Tis good to know, 'tis pleasant to impart,
These turns and movements of the Human heart.

डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल

हिन्दी-उपन्यास-शिल्प का विकास

कला की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का प्रथम वेग अनेक धाराओं में फूटकर प्रवाहित हुआ, ठीक उस तरह, जैसे किसी विशाल पर्वत की चोटियों से अनेक जल-रेखाएँ फूटकर आपस में एक ऐसी विराट् धारा को जन्म देती हैं, जो असंख्य पथरीली परतों को तोड़कर, ऊँची-नीची घाटियों, द्वीपों, पठारों और मैदानों से अपना अतल-स्पर्शी पथ बना लेती हैं।

हिन्दी-उपन्यास की वे आदि-साहित्यिक धाराएँ तीन थीं—'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' के आधार से देवकीनन्दन खत्री की तिलिस्मी और ऐयारी धारा; 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी' और 'लवंग लता' के आधार से किशोरीलाल गोस्वामी की सामाजिक एवं ऐतिहासिक—प्रेम, रोमांस-धारा; और 'जासूस' के आधार से गोपालराम गहमरी की जासूस-धारा।

तिलिस्मी कार्य और ऐयारी घटनाएँ ही प्रथम धारा की मेरुदण्ड हैं। इनके संयोग-वैचित्र्य में ही उपन्यास की सम्पूर्णता और पाठकों के सतही मनोरंजन की सिद्धि है। लेकिन यह कथा-विधान उपन्यासकार की असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। असंख्य कथा-सूत्र, तिलिस्मी घटनाओं तथा अनेक जटिलताओं के बीच से उपन्यासकार ने कथावस्तु की एकसूत्रता का ऐसा निर्वाह किया है कि हम उसकी बुद्धि का लोहा मानते हैं। वीरेन्द्रसिंह और राजकुमारी चन्द्रकान्ता इन दो प्रेमियों के आधार पर घटनाओं, संयोगों, तिलिस्मी करिश्मों और ऐयारी हथकण्डों का एक विशाल महल खड़ा किया गया है जो अपने स्थान पर अपूर्व है। पर इसके अतिरिक्त इस धारा में हम अन्य तत्त्व, जैसे चरित्र-संगठन, स्वाभाविकता, पात्रों की सम्पूर्णता, आदि नहीं पाते। वस्तुतः इसमें चमत्कार-प्रदर्शन और कुतूहल-वर्द्धन, यही जैसे दो मूल उद्देश्य थे। दूसरी धारा में स्वाभाविकता और सामाजिकता की ओर जाने की सफल प्रेरणा है। इसमें कथा-सूत्र और पात्र-विधान दोनों का यथासम्भव समन्वय है, पर इसमें भी अतिरंजना, काल्पनिकता और रोमांसिक प्रेम-सूत्रों का बाहुल्य है। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों की धारा में संगठन की विशेषता थी। कार्य-कारण-सम्बन्ध, कथा-जाल का विकास और एक उद्देश्य में उनकी चरम अन्विति, सब-कुछ बुद्धि-संगत था।

पर उक्त टकसालों में खरे सिक्के क्या थे?

शिल्प की कसौटी पर ठोक-बजाकर हम पाते हैं कि वे उपन्यास नहीं, कथाएँ हैं; जिनमें लेखक ही मुख्य है, पात्र तो उस सूत्रधार के कठपुतले हैं। हमारा साधारणीकरण सीधे पात्र से न होकर, लेखक के माध्यम से तथा उससे भी परोक्ष उनके कथित व्यपारों से होता है।

पर सबसे खरे सिक्के दो थे—कथा-शिल्प का चातुर्य, जिसमें कौतूहल और मनोरंजन के बीज थे; तथा सीधी-सादी भाषा, स्वाभाविक प्रवाह को लिये हुए, जिसमें अभिव्यंजना-

शक्ति थी।

उपन्यास-कला की ये प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के उपन्यासों में मिलती हैं, जो संयोगवश बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक के उपन्यासों को पूर्व-प्रभावित करती रहीं। यही वह संक्रान्ति-काल था, जब समाज का रूप, अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक संगठन और नैतिक परम्परा तेजी से आगे बढ़ती हुई हिन्दी-उपन्यास को बहुत पीछे छोड़ती जा रही थी। युग और कलाकार के बीच लम्बा अन्तराल पड़ता जा रहा था। इस व्यवधान-पूर्ति के लिए, युग और लेखक के धर्म को समन्वित करने के लिए प्रेमचन्द का उदय हुआ।

इस उत्थान में प्रेमचन्द के अतिरिक्त, 'प्रसाद', कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन और 'उग्र' आदि की कला-शक्तियाँ अवतरित हुईं। उपन्यास के रूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, पात्र मुख्य हो गए, लेखक का वक्ता अथवा कथाकार का स्वरूप परोक्ष में चला गया। उपन्यास चमत्कार और कौतूहल का विषय न होकर साक्षात् जीवन हो गया और जीवन का सूत्रधार हो गया स्वयं पात्र-चरित्र मेरुदण्ड हो गए, जिनकी परिधि में सम्पूर्ण जीवन गतिशील हुआ। इसीमें जीवन की विराट् समस्याएँ केन्द्रित हुईं तथा यथार्थ द्वन्द्व अपने रंग भरने लगे। इस तरह उपन्यास जीवन का सतही मनोरंजन न होकर जीवन की आलोचना और जीवन का द्रष्टा हो गया।

फिर उपन्यास का सारा शिल्प ही बदल गया। कथानक-निर्माण अब पात्र के अधीन हो गया। पात्र का समूचा जीवन, उसके जीवन में क्रमशः आने वाली घटनाएँ, उसके कार्य-व्यापार अपने-आपमें वस्तु-विन्यास हो गए। यही नहीं, बल्कि कथानक और पात्र सापेक्षिक हो गए, पात्र के चरित्र की स्थापना में ही कथा-सूत्र विकसित हुए। कथानक में घटने वाली समस्त घटनाएँ, उसके समस्त कार्य-व्यापार, चाहे वे संयोग या अप्रत्याशित ढंग से ही क्यों न घटित हुए हों, लेखक के द्वारा वर्णित होकर नहीं वरन् स्वयं पात्रों के माध्यम से सामने आने लगे, मानो पात्रों ने ही उपन्यास के सारे कथा-सूत्रों को अपने हाथ में ले लिया, जीवन-संग्राम में संघर्ष करते हुए वे अपने सहज और स्वाभाविक कथानक को अपने-आप निर्मित करने लगे और इन कथानकों के निर्माण में दैव-घटना और संयोग के स्थान पर मानव-हृदय और बुद्धि की प्रेरणा का उपयोग होने लगा। 'सेवा सदन', प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' तथा 'कंकाल' और 'तितली' के कथाशिल्प उक्त क्रान्ति के प्रतीक हैं।

आकार, स्वरूप और विधान की दृष्टि से इस काल के कथानक बहुत लम्बे, व्यापक, विस्तृत और इतिवृत्तात्मक हैं। मुख्य कथानक के अतिरिक्त सहायक अथवा प्रासंगिक कथानक भी जुड़े हुए हैं। कथा-शिल्प की दृष्टि से इनके स्पष्ट रूप में चार भाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में प्रस्तावना, दूसरे में वास्तविक तथा क्रियात्मक संघर्ष का आरम्भ, तीसरे में संघर्ष का विकास और उनका आरोह-अवरोह और चौथे भाग में परिणाम और उद्देश्य निहित रहता है। कथा-शिल्प के ये चारों भाग स्पष्टतः प्रसाद के 'कंकाल' और प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' और 'प्रेमाश्रम' तथा 'रंगभूमि' में देखे जा सकते हैं।

प्रसाद के 'तितली' और प्रेमचन्द के 'ग़बन' और 'गोदान' में कथा-शिल्प की उक्त विशेषताओं के साथ एक और विशेषता पाई जाती है। इनमें कथानक के केवल उतने विस्तार सीमित हैं जितने से उपन्यास की मूल संवेदना और समस्या का विशेष मनोविज्ञान सम्बन्धित है।

अतएव यहाँ सहायक कथानक का अपेक्षाकृत अभाव है। 'गोदान' में शहरी जीवन को जोड़ने वाले सहायक कथानक (?) का अपने-आप में कोई अस्तित्व नहीं है वरन् उसकी स्थिति गोबर के लिए है, जो मुख्य कथानक का एक प्रमुख पात्र है। यहाँ कथानकों में द्विपक्षता के स्थान पर संकेतों, व्याख्याओं, चित्रणों और कथोपकथनों से कार्य लिया गया है, अर्थात् प्रेमचन्द की शिल्प-विधि के अन्तिम चरण में, कथानकों में जीवन की एक इकाई, एकसूत्रता, एक संवेदना और मूलतः एक प्रसंग की एकात्मकता मिलती है। अस्तु, कथा-सूत्र कलात्मक, सुगठित, नियन्त्रित और सम्पूर्ण होने लगे और उनके उत्कर्ष में मुख्य भाग चरित्र का हो गया।

उपन्यास का सारा सौन्दर्य, सारी शक्ति इसी चरित्र-विधान के केन्द्र से विस्तृत हुई। यह नवीनतम विकास इसलिए सत्य हो सका कि चरित्र में अब मनोविज्ञान का समावेश हुआ। चरित्र का स्तर, साधारण संयोगों, उलझनों, दैवी घटनाओं से ऊपर उठकर मानव-मस्तिष्क के यथार्थ, सहज भाव-भूमि पर स्थिर हुआ। चरित्र-विकास, उनके चरित्र-चित्रण, और अध्ययन में उन्हींका मस्तिष्क, उन्हींके संस्कार, उन्हींकी परिस्थितियाँ सहायक बन गईं। साधारण, प्रकृत और मानवीय चरित्रों की प्रतिष्ठा हुई। अर्थात् इस चरित्र-विन्यास में 'हमारा' प्रतिनिधित्व हुआ। हमारे अत्यन्त सुलभ, सहज, भोग्य द्वन्द्व, स्थितियाँ, और 'हमारे' मन के व्यापार इन चरित्रों में समादृत हुए। पात्र अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व—बाह्य, आन्तरिक, सत्, असत्—के साथ अवतीर्ण हुए और उनके चरित्र, उनके समूचे व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, तत्कालीन व्यक्ति, समाज, युग तथा उसकी समूची स्थितियों का प्रतिनिधि बन गया। इस युग के प्रतिनिधि उपन्यास—'सेवा सदन' 'रंगभूमि' 'ग़बन' और 'गोदान' तथा 'तितली' और 'कंकाल' अपने चरित्र-परिवेश में उस काल के सजीव दर्पण सिद्ध हो सके तथा 'सुमन', 'सूरदास', 'होरी', 'मधुवन' और 'निरंजन' उस युग के जीवित प्राणी।

तभी रचना-शैली में भी अपूर्व विकास हुआ। वर्णनात्मक शैली में मनोवैज्ञानिक सूत्रों के समावेश से वर्णन, चित्रण, संकेत और कथोपकथनों का कलात्मक समन्वय हुआ। देश, काल, परिस्थिति और वातावरण-चित्रण को स्थान मिला, क्योंकि चरित्र-विकास और अध्ययन में इन तत्त्वों का बहुत बड़ा प्रभाव सिद्ध हुआ। इस रचना-शैली की प्रेरणा से उपन्यासकार प्रायः पात्रों के अन्तस्थ में पाठकों को उतारने लगा और समस्या को शक्तिशाली रूप में उपस्थित करने लगा। उदाहरणार्थ—

"गोबर ने शक्कर के मिल में नौकरी कर ली। बड़े सवेरे उसे वहाँ जाना पड़ता था और दिन-भर के बाद जब वह दिया जले पर घर लौटता, तो उसकी देह में ज़रा भी जान न होती। घर पर भी उसे इससे कम मेहनत न पड़ती थी, लेकिन वहाँ उसे ज़रा भी थकान न होती थी। बीच-बीच में वहाँ वह हँस-बोल भी लेता था। फिर, उस खुले हुए मैदान में उन्मुक्त आकाश के नीचे जैसे उसकी क्षति पूरी हो जाती थी। सभी ताड़ी या शराब में अपनी दैहिक थकान और मानसिक अवसाद को डुबाया करते थे। गोबर को भी शराब का चस्का पड़ा। घर आता तो नशे में चूर, और पहर रात गये। और आकर कोई-न-कोई बहाना खोजकर झुनियाँ को गाली देता, घर से निकालने लगता और कभी-कभी पीट भी देता।"[1]

रचना-शैली के विकास-पथ में दूसरी शैली सम्भाषण और वार्तालाप के समन्वय से

१. गोदान

आरम्भ हुई। उपन्यासकार की तटस्थता और चरित्र की अभिव्यक्ति की दिशा में यह रचना-पद्धति सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई। अन्य पुरुष और प्रथम पुरुष, अर्थात् 'वह' और 'मैं' की शैली की सादृश्यता प्रेमचन्द की 'रंगभूमि', कौशिक की 'माँ' और प्रसाद के 'कंकाल' में है। आगे चलकर रचना-शैली के विकास-क्रम में 'वह' को छोड़कर 'मैं' निरपेक्ष हो गया। इलाचन्द्र जोशी की 'घृणामयी' टैगोर के 'घर-बाहर' की रचना-शैली की भाँति 'मैं' के आत्म-सम्भाषणों में समाहृत हो गई।

दो शैलियों के विकास और हुए—पत्र-शैली तथा डायरी-शैली। 'उग्र' के 'चंद हसीनों के खतूत' का कथानक कुछ पत्रों के संचयन के द्वारा निर्मित हुआ है। इन दोनों शैलियों में कथानक गढ़ने का अधिक भार पाठकों पर छोड़ा रहता है। परन्तु चरित्र-विश्लेषण और उनकी परोक्ष व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा इस शैली की परम विशेषता है।

उपन्यासों का उद्देश्य ही उसके शिल्प का नियामक और सूत्रधार होता है। ज्यों-ज्यों, उद्देश्य-दृष्टि में विकास होते जा रहे हैं उसी क्रम से, बल्कि उसी प्रक्रिया से उनके शिल्प का विधान बदलता चल रहा है। वस्तुतः उद्देश्य-प्रकाश में अधिक-से-अधिक रोचकता, आकर्षण और प्रभविष्णुता लाने के लिए ही कथा-शिल्पकार अन्यान्य रूप-विधानों की योजना करता है। रूप-विधान की यह योजना, और उसके विभिन्न रूप उपन्यास-शिल्प की अन्यतम प्रेरक शक्तियाँ हैं।

हिन्दी-उपन्यास-शिल्प के विकास में प्रेमचन्द और 'प्रसाद' की कला इस धारा के द्वितीय उत्थान की इकाई है। इस युग में साधारण मनोविज्ञान तथा राष्ट्रीय धारा; यही दो मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं। दोनों की यथार्थमूलक कला में सामाजिक कुरीतियों के प्रति सुधार का आग्रह, पराजय, पतन के प्रति आदर्शों की प्रतिष्ठा, और दुखी-उपेक्षित-शोषित मानवता के प्रति अथाह समवेदना में इनके भाव पक्ष के प्रधान स्वर थे। कथा-विधान में इतिवृत्त का स्पष्ट, निश्चित रूप, घटना और कार्य-व्यापारों का प्राधान्य, रचना-शैली की सरलता, सहजता तथा लक्ष्य और सोद्देश्यता उनकी विशुद्ध शिल्पगत कसौटी थी।

इस युग के उपरान्त, वर्तमान काल में, जहाँ से हिन्दी औपन्यासिक धारा का तृतीय उत्थान आरम्भ होता है, उसमें अपूर्व विस्तार और प्रसार हुआ। उसकी भूमिका ही बदल गई। क्योंकि युग की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ इस धारा में समाहृत और समन्वित होती गईं। जीवन-दर्शन और व्यावहारिक-क्षेत्र में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड के यौनवाद ने व्यक्ति और समाज के अध्ययन और उनके प्रति संवेदना की नई क्रान्ति-मूलक दृष्टि प्रदान की।

मनोविज्ञान की चरम उन्नति और उससे पाई हुई-मनोविश्लेषण पद्धति इस काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह सिद्ध किया गया कि मनुष्य का एक अन्तर्जगत् भी है और यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत् से कहीं अधिक शक्तिशाली और जटिल है। यह सारा बाह्य जीवन उसी अन्तः चक्र से प्रेरित और निर्देशित है। यही नहीं, मानव-अन्तर्जगत् में चेतन मन से भी आगे अवचेतन जगत् है और यह सबसे अधिक बलवान् है। मनुष्य की इच्छाएँ अपनी बाह्य अभिव्यक्ति न पाकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और अवचेतन जगत् में स्थिर और अक्षुण्ण रहकर अनेक कुण्ठाओं, अस्पष्ट, अमूर्त चित्रों तथा व्यापारों को जन्म देती रहती हैं। वस्तुतः वही मानव-चरित्र का सम्पूर्ण पर गूढ़ रहस्य है।

मनोविश्लेषण ने हमें सम्पूर्ण चरित्र-अध्ययन और उसकी सच्ची व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा के लिए नई-नई पद्धति भी दी जिससे हम मनुष्य के बाह्य संकेतों, स्वप्नों, सम्भाषणों, भाव-भंगिमाओं और कर्म-प्रेरणाओं द्वारा उसके संश्लिष्ट-गूढ़ अन्तर्जगत् को सच्चे रूप में समझ सकें और उसके मन के उलझे हुए असंख्य सूत्रों को सुलझा सकें।

दोनों नई पद्धतियों के प्रकाश में कथाकार नये सिरे से सामाजिक प्रश्नों, स्त्री-पुरुषों के परस्पर सम्बन्धों, नैतिक मूल्यों तथा व्यक्ति-चरित्रों के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। विद्रोह, पाप और अपराध के विश्लेषण हुए जिसके फलस्वरूप पापी, अपराधी, विद्रोही को अपार करुणा प्राप्त हुई। सबको अनेक अभियोगों से मुक्ति देने के लिए उसने नई नज़ीरों, सत्य तर्कों और उद्धरणों को ढूँढ निकाला। उदाहरणार्थ :

"क्या एक-एक पात्र अपने-आपमें कुछ चीज़ है? असली चीज़ मेरी निगाह में पात्रों का पारस्परिक सम्बन्ध है, न कि पात्र स्वयं × × × अमुक के relations में किसी एक के relations क्या हैं, इसे दिखाते-दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्मा के गहरे तल को जा छूता हूँ, तो यही मेरे लिए बहुत है।"[1]

"अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी ये प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक (और फलस्वरूप, सामूहिक) मानव के आचरणों, तथा पारिवारिक और सामाजिक संगठनों को किस हद तक युगों से परिचालित करती आई हैं और आज भी कर रही हैं।"[2]

"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। × × × जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक होता है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा?"[3]

"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। × × × शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं है, वह अच्छा भी आदमी नहीं है। लेकिन वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है। × × × और कौन जाने, आज के युग में जब हम-आप सभी संश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप मापें कि आपके भीतर भी कहीं पर एक शेखर है, जो बड़ा नहीं, अच्छा भी नहीं, लेकिन जागरूक और स्वतन्त्र है, और ईमानदार है, घोर ईमानदार।"[4]

यह था जीवन का एक नवीन दर्शन, और उस दर्शन की एक ऐसी दृष्टि, जो मनोविश्लेषण के सत्य को साधन बनाकर चली। परिणाम यह हुआ कि इस सामूहिक प्रेरणा ने इस काल के उपन्यास-शिल्प को अपूर्व और मौलिक दिशाएँ दीं।

बौद्धिक दृष्टि से जैसे युग का जीवन-दर्शन समाज-सापेक्ष्य न होकर व्यक्ति-सापेक्ष्य हुआ, ठीक इसी प्रकार अनेक समस्याओं, अनेक चरित्रों तथा अनेक प्रश्नों के अध्ययन के उद्देश्य से

१. जैनेन्द्र के विचार।
२. इलाचन्द्र जोशी—भूमिका : 'प्रेत और छाया'।
३. भगवतीचरण वर्मा, 'चित्रलेखा'।
४ 'अज्ञेय', 'शेखर, प्रथम भाग, भूमिका'।

इस काल का उपन्यासकार अपनी कला-दृष्टि में भी वैयक्तिक और स्वतन्त्र हो गया। इस तरह उसका शिल्प-विधान अत्यन्त प्रशस्त और व्यापक हो गया। अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए, सम्पूर्ण नवीन अध्ययन को प्रस्तुत करने के लिए तथा नैतिक प्रश्न और समस्या के प्रति अपना निरपेक्ष दृष्टिकोण स्थापित करने के लिए उसने उपन्यास-शिल्प में अनेक प्रयोग किये। इस नये शिल्प के प्रथम शिल्पी हैं—जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी; जिनकी शिल्प-विधि ने पूर्ण रूप से द्वितीय उत्थान की शिल्प-धारा से निरपेक्ष होकर नई दिशा की प्रतिष्ठा की है।

और अन्य शिल्पी हैं—भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; जिनकी शिल्प-विधि प्रेमचन्द की उदात्त धारा की चरम परिणति है।

जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और जोशी के द्वारा कथानक के रूप-निर्माण और शैली में क्रान्ति हुई। इसकी कला का मूल केन्द्र चरित्र बना और इसी मेरुदण्ड से इन्होंने कथानक के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल दिया।

"कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं।"[१] जैनेन्द्र का यह सत्य 'अज्ञेय' और जोशी का भी सत्य है। 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'त्याग-पत्र', 'सुखदा', 'विवर्त', और 'व्यतीत' सब उपन्यासों में एक निश्चित कथानक है, लेकिन उस तरह से रचित नहीं, जैसा कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में; बल्कि ये निश्चित कथानक जागरूक, प्रबुद्ध और संवेदनशील पाठक के मन में बनते हैं। उक्त उपन्यासों में कथा-वस्तु के समस्त सूत्र बिखेर दिये गए हैं। जहाँ जैसी गति चरित्र की है, उसकी जैसी मनःस्थिति है, भूत, वर्तमान और भविष्य में भागती हुई ठीक उसी अनुपात से कथावस्तु में निश्चित इतिवृत्त की विद्यमानता या अभाव है। उसमें आदि, मध्य और अन्त के विभेद की कोई व्यवस्था नहीं है। उपन्यासकार की दृष्टि एकान्त रूप से पात्रों में केन्द्रित है, वे ही उसके साध्य हैं, उपन्यास के शेष तत्त्व केवल साधन-मात्र हैं, उनका उपयोग कथाकार चाहे जिस तरह, चाहे जितने रूप में, जैसे भी कर ले।

अब तक, 'शेखर' दो भागों में लिखा हुआ प्रायः पाँच सौ पृष्ठों का उपन्यास है। पर समूचे उपन्यास में शेखर है, उसका अहं, उसका विद्रोह और उसका व्यक्ति। फिर भी उसमें कोई निश्चित कथावस्तु नहीं है, यद्यपि उपन्यास-भर में अनेक सूत्र फैले हैं। इसका कारण है घटनाओं में तरतम्य और निश्चित शृङ्खला का न होना।

वस्तुतः इस काल के उपन्यास-शिल्प का मेरुदण्ड है चरित्र। उसीके अध्ययन, उसी की कर्म-प्रेरणाओं के विवेचन तथा उसीके व्यक्तित्व-विश्लेषण के चारों ओर विधान के समस्त तत्त्व, समस्त उपकरण, अनिश्चित दिशा और मात्रा में घूमते मिलते हैं। 'शेखर' समूचे प्रथम भाग में अपने बाल्य-काल की छोटी-छोटी घटनाओं और संस्कार के सूत्रों को हमारे सामने रखकर अपने व्यक्तित्व-विश्लेषण की परीक्षा दे रहा है। वह दूसरे भाग के 'शेखर' की समस्त कर्म-प्रेरणाओं और विचारों की भूमिका प्रस्तुत कर रहा है। इसी प्रकार जोशी की 'घृणामयी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' उपन्यासों में उनके समस्त नायक और नायिकाओं का आत्म-विश्लेषण है।[२] जैनेन्द्र; अज्ञेय और जोशी इन तीनों की औपन्यासिक कला का चरम उत्कर्ष इनके

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' की भूमिका।

२. मेरे वर्तमान उपन्यास में जिन असाधारण चरित्रों के अन्तर जीवन—वल्कि अन्तरतर और अन्तरतम जीवन के (आत्मघाती अथवा आत्म-उद्बोधकारी) द्वन्द्व-चक्रों का

चरित्रांकन-शिल्प में पात्रों की व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा में है, जहाँ 'कट्टो', 'बिहारी', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'मृणाल'; 'सुखदा' (जैनेन्द्र) 'शेखर', 'शशि', 'शारदा', 'भुवन', 'रेखा', 'गौरा' (अज्ञेय); 'नन्दकिशोर', 'निरंजना', 'पारसनाथ', 'महीप', (जोशी) आदि पात्रों में हमें अन्तर और बाह्य दोनों के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक संघर्ष अद्भुत ढंग से मिलते हैं। समस्त पात्र-विधान के पीछे जैसे सर्वत्र कोई 'विज़न' है, अन्तः प्रेरणा और दार्शनिक अनुभूति है।

वस्तुतः यही उत्कर्ष अब तक उपन्यास-शिल्प के चरम उत्थान का प्रतीक है।

अन्य शिल्पी-वर्ग में भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' और 'अश्क' की 'गिरती दीवारें और 'गर्म राख' चरित्रों के यथार्थ और निष्पक्ष चित्र हैं। इनकी विश्लेषण-प्रणाली बहुत ही स्पष्ट, सहज और बोधगम्य है। यशपाल, 'अश्क' और भगवतीचरण वर्मा के क्रमशः 'दादा कामरेड', 'गर्म राख' और 'तीन वर्ष', 'टेढे मेढ़े रास्ते' में यथार्थ और व्यंग्य का सुन्दरतम समन्वय विकसित हो सका है। वस्तुतः शिल्प-विकास की यह परम्परा, जो अपना स्रोत प्रेमचन्द से पाती है, आज के उदीयमान उपन्यासकारों के शिल्प में समादृत हो सकी है।

रचना-शैली का शक्तिमय विकास इस उत्थान की अन्यतम विशेषता है। रचना-तत्त्व के तीन मूलभूत सिद्धान्त—(अ) देश-काल-परिस्थिति का संकलनत्रय (आ) एकसूत्रता; और (इ) कथाकार पात्र और पाठक इन तीन खूँटों में दृष्टि बाँधकर रचना की सृष्टि—इसमें कलात्मक विकास और नवीनतम शिल्प-गत संशोधन हुए हैं।

भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और 'अश्क'—द्वितीय वर्ग के उपन्यासकारों में केवल विकास हुआ है। परन्तु जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और जोशी की रचना-पद्धति में इस दिशा में संशोधन से भी अधिक मौलिक, विशुद्धतः नवीनतम रचना-शैलियों की उद्भावना हुई है। (अ) वर्णन-कथन के विकास में चिन्तन-मनन, (आ) चरित्र-चित्रण के स्थान पर चरित्र-विश्लेषण, (इ) कर्म-चित्रण और वर्णन के विकास-क्रम में कर्म-प्रेरणाओं और चित्त-वृत्तियों का अध्ययन, (ई) लेखक का आलोचक के स्तर से हटकर द्रष्टा बनने का आग्रह; तथा (उ) उसका कथा-वाहक के स्थान पर भाव-वाहक बन जाना। इन नवीन एवं मौलिक स्थापनाओं के फलस्वरूप इन उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में से चेष्टा पूर्वक वे अंश छाँटकर निकाल दिए जिन्हें पाठक अपने-आप समझ सकते हैं। इस प्रकार कलाकार ने पाठक पर विशेष दायित्व छोड़ रखा है और उसकी पूर्ति में उसके समस्या का अन्तःस्पर्शी कार्य-कारण और पात्रों की अन्तस् करुणा और दर्शन की डीठ दी है। अतएव रचना-शैली में प्रायः निम्नलिखित मौलिक विकास हुए—

(अ) आत्म-विश्लेषण के आधार पर आत्म-कथात्मक रचना-शैली—

'पर्दे की रानी,' 'संन्यासी,' (जोशी)

(आ) जीवन को जी चुकने के बाद आत्मानुभूत जीवन-तथ्यों के निरपेक्ष अंकन के आधार पर स्मृतियों और आत्म-घटित व्यापारों के बीच से आत्मसंस्मरणात्मक रचना-शैली—

'शेखर : एक जीवनी' (अज्ञेय), 'सुखदा' (जैनेन्द्र)

(इ) सम्पूर्ण चरित्र-अंकन और व्यक्तित्व प्रतिष्ठा के लिए जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़कर 'विकास' 'अन्तराल' के आधार पर 'पत्र', 'सम्भाषण और वर्णन' की सम्मिलित-

---

वैश्लेषिक चित्रण किया गया है....।

इलाचन्द्र जोशी—'प्रेत और छाया', की भूमिका में

शैली—

'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), 'परख', 'तपोभूमि' (जैनेन्द्र)

उक्त विकास में 'नदी के द्वीप' की रचना-शैली आज तक के उपन्यास-शिल्प की चरम सीमा कही जा सकती है। 'भुवन' 'चन्द्रमाधव', 'रेखा' और 'गौरा' के चौराहे में देश-काल-परिस्थिति के चित्रण-वर्णन की सारी स्थूलता ऐसी सूक्ष्म बनकर पाठक के हृदय में संवेद्य हो जाती है कि उसके मन में 'नदी के द्वीप' का जान-बूझकर न कहा हुआ उपन्यास-अंश अपने-आप उभर आता है। 'अन्तराल में आई हुई 'पत्र योजना' जो एक खूँटे को बाँधती मिलाती चलती है, उससे प्रायः सौ-एक पृष्ठों के वर्णन का विस्तार और पढ़ने का श्रम मिट जाता है। और उसके बदले पाठक का मन, संवेदना-शक्ति एक ऐसा पाँचवाँ खूँटा हो जाता है, जिसे उपन्यास के रस के अतिरिक्त अपनी कल्पना, अपनी उद्‌बुद्ध चेतना और अनुभूति-सामर्थ्य का आनन्द प्राप्त होता है।

उक्त रचना-शैलियों में सदैव-सर्वत्र एक सफ़ाई और परिष्कार आने का कारण इन उपन्यासकारों की समर्थ भाषा-शैली है। इन उपन्यासकारों में विशेषतः 'अज्ञेय' के गद्य में अपना एक मौलिक छन्द है—उसका संयत, गम्भीर माधुर्य, गद्य की लयमयता मानो बहुत कुशल शिल्पी के सबल साधन हैं।

इस चरण के शिल्प-विकास में अनेक कलागत उत्कर्ष हुए, सम्भवतः इसीलिए एक बड़ी त्रुटि भी आ गई। चूँकि उपन्यासकार की दृष्टि व्यापक हुई, वह द्रष्टा बनने को प्रवृत्त हुआ, इसलिए वह मानवीय सम्बन्धों तथा प्रश्नों पर प्रेमचन्द की भाँति स्पष्ट और निश्चित निर्णय न दे सका। इसमें इतना ऊहापोह बढ़ा कि उसकी दृष्टि अस्थायी, स्थगित और अपूर्ण स्तर पर टँगकर रह गई।

नवीनतम पीढ़ी के उपन्यासकारों में, जो निस्सन्देह अभी अपनी निर्माण अवस्था में हैं संवेदन और सहानुभूति की स्पष्टता निस्संशय है।[1] इनमें शंकाएँ कम हैं, इसलिए इनकी रचना-शैलियों में सरलता भी है। इनमें ऊहापोह कम है, इसलिए इनमें संवेदना का स्थायित्व है।

इस बिन्दु पर आकर अगर हम क्षण-भर हिन्दी-उपन्यास-शिल्प के विकास पर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायगा कि उसकी प्रगति सत्य और शिव की ओर है। पश्चिम की भाँति हमारा शिल्प-विधान उलझन, अस्पष्टता और व्यर्थता से आक्रान्त नहीं है। हम सत्यान्वेषण की ओर उन्मुख हैं, हमारी यात्रा निश्चय ही शुभ और मंगलमय होगी; क्योंकि उसका उद्‌गम हमारी स्वस्थ परम्परा और कला की स्वस्थ प्रेरणा में है।

---

१. 'पथ की खोज'—डॉक्टर देवराज। 'बूँद और समुद्र'—अमृतलाल नागर। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'—धर्मवीर भारती। 'बया का घोंसला और साँप'—लक्ष्मीनारायणलाल। 'बीज'—अमृतराय।

डॉक्टर देवराज

हिन्दी-उपन्यास का धरातल

हिन्दी-उपन्यास अथवा हिन्दी-साहित्य की जिस समस्या का हम इस समय संकेत करना चाहते हैं, वह एक प्रकार से वर्तमान भारतीय संस्कृति की समस्या है। संक्षेप में समस्या यह है कि विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में हम अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को किस प्रकार प्राप्त करें। हमारे देश में अभी ऐसा वातावरण ही नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में बहुत ऊँची कोटि का मौलिक चिन्तन कर सके। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में स्थिति कुछ अच्छी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी वातावरण सन्तोषप्रद है। पहली बात यह है कि साहित्य एवं साहित्यकार को शेष सांस्कृतिक वातावरण से अलग नहीं किया जा सकता। जिस देश में दूसरे क्षेत्रों में उच्च-कोटि का सांस्कृतिक कार्य नहीं हो रहा है वहाँ, अनिवार्य रूप में, साहित्य का स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं हो पाता। दूसरे क्षेत्रों में समृद्ध विचारों एवं उनकी वाहक व्यञ्जनाओं की कमी या अभाव होने के कारण साहित्यकार युगाभिव्यक्ति के साधनों से न्यूनाधिक वञ्चित रह जाता है। हमारे देशी साहित्यों, विशेषतः हिन्दी-साहित्य, के साथ एक दूसरी परिस्थिति भी रही है। इन साहित्यों का धरातल देश के श्रेष्ठतम विद्वानों के धरातल से प्रायः निम्नतर रहा है।

आगे हम कथा-साहित्य या उपन्यास की ही विशेष चर्चा करेंगे। अवश्य ही पिछले तीन-चार दशाब्दों में हमारे कथा-साहित्य ने तेजी से उन्नति की है। किन्तु हमारी समीक्षा इस उन्नति का ठीक-ठीक विश्लेषण कर पाई है, इसमें सन्देह है। साथ ही इस समीक्षा को अभी यह भी ठीक अवगत नहीं है कि हमारे कथा-साहित्य में क्या कमियाँ हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी-लेखकों तथा समीक्षकों की प्रतिभा प्रायः उपचेतन धरातल पर व्याप्त होती रही है। प्रायः हिन्दी-समीक्षक अपने साहित्य के मूल्यांकन में ऐसे मानों का प्रयोग करते रहे हैं जो सार्वभौम नहीं हैं और जिनका समुन्नत देशों में साग्रह प्रयोग नहीं किया जाता। विशेष लक्षित करने की बात यह है कि हिन्दी-समीक्षक की रुचि एवं समीक्षा-बुद्धि का विकास प्रायः वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विकास का समानान्तर रहा है। काव्य-क्षेत्र में 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' क्रमशः हमारी साहित्यिक लब्धि एवं समीक्षात्मक अभिरुचि दोनों का प्रतिमान रहे हैं। कथा-क्षेत्र में 'ग़बन', 'सेवा सदन', 'रंगभूमि', 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर' उसी प्रकार हमारी उपलब्धि एवं रुचि के धरातल को प्रतिफलित करते रहे हैं। हिन्दी का समीक्षक हिन्दी से बाहर के साहित्यों तक कम पहुँचता रहा है, भले ही वह यूरोपीय समीक्षा-ग्रन्थों को उलटता-पलटता रहा हो; प्रायः हिन्दी-लेखक ही अपनी शक्ति के अनुसार बाहरी साहित्य से प्रेरणा लेता या पाता रहा है। किन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अब तक हिन्दी के लेखक और समीक्षक दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकसित धरातल से सुपरिचित नहीं हो सके हैं।

स्थूल रूप से साहित्य में दो तत्त्व होते हैं, एक अनुभूति और दूसरा कल्पना। एक तीसरा तत्त्व भी है, जिसे हम लेखक की दृष्टि या 'परस्पेक्टिव' कह सकते हैं। श्रेष्ठ कथाकारों की कल्पना यथार्थानुकारी होती है, वह वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में, इस कल्पना की सृष्टि पूर्णतया विश्वसनीय एवं प्रेषणीय होती है। लेखक की 'दृष्टि' उसके द्वारा किये गए जीवन-स्थितियों के चयन एवं उनकी व्याख्या को प्रभावित करती है।

उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करता है जिनसे वह सुपरिचित है। आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथा-वस्तु थोड़ी ही रहती है; अपेक्षाकृत छोटी कथा-वस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्त्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओं में कथा-वस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियों का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक। 'अलिफ़ लैला' की एक छोटी-सी कहानी में आप दर्जनों प्रसंगों का उड़ता विवरण पढ़ जाते हैं। इसके विपरीत फ्लाबेर को 'मदाम बावेरी' की छोटी-सी कथा कहने में कई-सौ पृष्ठ भरने पड़े हैं। मार्मिक विश्लेषणों की बहुलता के कारण ही टॉलस्टॉय की 'एना केरीनिना' तथा 'वार एण्ड पीस' वृहत् ग्रन्थ बन गए हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास मार्मिक नहीं बन सके हैं। उनके उपन्यासों में प्रायः कथा-वस्तु बहुत विस्तृत हो जाती है और मार्मिक विश्लेषण के स्थल उसी अनुपात में विरक्त हो जाते हैं। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का देश के बहुत-से वर्गों तथा विभिन्न कोटि के मनुष्यों से परिचय है, किन्तु सच यह है कि वे बहुत कम पात्रों का मार्मिक एवं गम्भीर चित्रण कर सके हैं। उनके उपन्यासों में 'गोदान' ही आधुनिक उपन्यास के विकसित धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है, यद्यपि उक्त उपन्यास में भी जीवन के सतही विवरणों का अभाव नहीं है। प्रस्तुत लेखक को हाल ही में बंकिमचन्द्र का 'कपाल कुण्डला' पुनः पढ़ने का अवसर मिला। उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि कुछ ही वर्ष पहले तक, सम्भवतः आज भी, ऐसे उपन्यासों की गणना ऊँचे साहित्य में होती रही या होती है। निस्सन्देह श्री वृन्दावनलाल वर्मा बंकिमचन्द्र से श्रेष्ठतर लेखक हैं, कम-से-कम यथार्थानुकारिता में। यदि वर्मा जी की 'दृष्टि' कुछ अधिक परिष्कृत एवं विवेक-सम्पन्न होती तो वे और भी अच्छे उपन्यासकार बन सकते।

यथार्थानुकारिता की अनेक कोटियाँ और धरातल हैं। किन्हीं भी दो पात्रों की बातचीत और उसके सम्बन्ध का चित्रण मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सामाजिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी विभिन्न प्रेरणाओं का उद्घाटन दूसरी ओर शायद उच्चतर, यथार्थ दृष्टि की माँग करता है। इससे भी अधिक दृष्टि एवं प्रतिभा की जरूरत है, जीवन के यथार्थ में से स्थितियों एवं मनोवृत्तियों का महत्त्वपूर्ण चयन करने के लिए। इतना काफी नहीं है कि लेखक अपने समीप के जीवन को और केवल अपने युग के जीवन को, जाने। श्रेष्ठ लेखक की दृष्टि जीवन के उन प्रसङ्गों को पकड़ेगी जो मानव-इतिहास की अपेक्षाकृत स्थायी प्रेरणाओं को प्रतिफलित करते हैं। 'एना केरीनिना' के प्रथम परिच्छेद में जिस समस्या का संकेत है—अनेक बच्चों की माँ का यौवन ढल जाने पर उसके अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ या सप्राण पति का अन्यत्र तृप्ति खोजना—वह विशिष्ट वर्गों के दाम्पत्य-जीवन में एक स्थायी समस्या है। इसी तरह 'वार एण्ड पीस' में पीयरे या पीये के सहसा समृद्ध हो जाने पर उसके समाज की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का उसके प्रति आकृष्ट दीखने लगना, अभिजात सामाजिक जीवन के एक

गम्भीर तथ्य को प्रकट करता है।

इन दृष्टियों से हिन्दी के, और कुछ हद तक भारत के, उपन्यास-लेखकों की यथार्थ चेतना अर्ध-विकसित हो रही है। इसका एक कारण है—हमारे लेखकों की उक्त चेतना का शिक्षण कर सकने वाली संस्थाओं या परिस्थितियों का अभाव। एक महान् लेखक की चेतना को शिक्षित करने के लिए समूचे राष्ट्र को साधना करनी पड़ती है; उस शिक्षण में देश के विभिन्न विज्ञान-विशारदों का उतना ही हाथ रहता है जितना कि इतिहासकारों का। हमारे देश में इन 'एजेन्सीज' का आज भी अभाव है। आज तक न तो भारतवर्ष का कोई बढ़िया वैज्ञानिक इतिहास ही प्रस्तुत किया जा सका है—ऐसा इतिहास जो हमारी विभिन्न जय-पराजयों का तुलनामूलक एवं विश्वसनीय विवरण देता हो—और न हमारे किसी इतिहासकार ने सभ्यताओं के उत्थान-पतन-जैसे प्रश्नों से उलझने का प्रयत्न ही किया है। जो देश स्वतन्त्र नहीं है, जिसके नेता और इतिहासकार दोनों यथार्थ को देखने-समझने के अनभ्यस्त हैं, वहाँ के लेखकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे जीवन को प्रौढ़, इतिहासाधारित, यथार्थ दृष्टि से देखेंगे और चित्रित करेंगे।

हम भारतीय सदियों से स्वप्नदर्शी रहे हैं, 'विशफुल थिंकिङ्ग' या मन-मोदकों के अभ्यस्त। हमारी लम्बी गुलामी का, शायद, यह सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। यदि हमें अपने उपन्यासों में इस मनोवृत्ति का प्रतिफलन मिले, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र जी के 'व्यतीत' में अमीर नायिका गरीब नायक के पीछे अपनी समृद्धि लिये घूमती-फिरती है, एक दूसरी महिला भी उसकी रुपये से मदद करने को सदैव तैयार रहती है। शरत् की राजलक्ष्मी, नायक श्रीकान्त की आर्थिक समस्या को अक्सर हल कर देती है, यद्यपि राजलक्ष्मी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह गायिका होने के कारण जहाँ धन पा सकती है, वहाँ किसी सहृदय भले-मानुस का प्रेम आसानी से नहीं पा सकती। किन्तु इस प्रकार की गायिका या वेश्या अपवाद-रूप है, वह समाज का व्यापक ऐतिहासिक सत्य नहीं है। यही बात रमणलाल वसन्तलाल देसाई के 'पूर्णिमा' उपन्यास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में एक फैशनेबिल परिवार की लड़कियों का कुरूप या विकलांग कवि-नायक की ओर आकृष्ट होना उसी प्रकार सामाजिक सत्य नहीं है। इस दृष्टि से 'पथ की खोज' का नायक बड़ा भाग्यहीन है; उसकी प्रेम-पात्री साधना अमीर होते हुए भी कभी उसकी आर्थिक सहायता नहीं करती। यों 'पथ की खोज' के अनेक स्थलों में अप्रौढ़ता अर्थात् अयथार्थ दृष्टि का पर्याप्त पुट है।

हमारे उपन्यास में बहुत-सी अपरिपक्वता आदर्शवाद के नाम पर भी आती रही है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया के प्रेम का चित्रण कुछ ऐसी ही चीज है—सन्देह होने लगता है कि प्रेमचन्द को नर-नारी के तीखे प्रेम का अनुभव भी हुआ था या नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि श्रेष्ठ लेखक आदर्शवादी नहीं हो सकते, या वे नैतिकता के प्रति उदासीन होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार नैतिकता के नियमों को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं कि वे यथार्थ जीवन के यथार्थ नियम जान पड़ें। उच्चतम कोटि का लेखक पाठक की बोध-वृत्ति का प्रवञ्चन करके नहीं, अपितु उसका पूर्ण उन्मेष करके उनका नैतिक शिक्षण करता है। यदि नैतिकता असली जीवन का नियम है—व्यक्ति और समाज की जीवन-समृद्धि का उपकरण है—तो उसकी महत्ता सिद्ध करने के लिए जीवन के यथार्थ को झुठलाना आवश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से टॉलस्टॉय की

'एना' रंगभूमि की 'सोफिया' से ज्यादा प्रभविष्णु पात्री है। साधारण दृष्टि से व्यभिचारिणी होते हुए भी एना हमारी वृत्तियों का जितना परिष्कार कर सकती है, उतना सोफ़िया नहीं। इसी प्रकार 'गोदान' के आदर्श पात्र मेहता और मालती, हमारे मनोभावों का स्थायी उन्नयन करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं।

खेद है कि हिन्दी-समीक्षा अभी तक इन सूक्ष्म प्रभेदों को देखने की अभ्यस्त नहीं बन सकी है। कोई लेखक गहरे अर्थ में नैतिक परिष्कार करने की क्षमता रखता है, अथवा एक छिछले अर्थ में 'शिक्षाप्रद' है, उसकी दृष्टि गम्भीर मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सचाइयों को पकड़ती है, या समाज के सतही यथार्थ को छूती है, इसका विवेक हिन्दी का औसत समीक्षक नहीं करता। ऐसे वातावरण में श्रेष्ठ कलाकार का पनपना कठिन हो जाता है। विद्यापति की राधा की भाँति उसे यह आशंका या शिकायत बनी रहती है कि कहीं उसकी कला का माणिक्य 'कुवणिक्' या घटिया पारखी के हाथों में न पड़ जाय—अथवा पड़ गया है।

हिन्दी का औसत समीक्षक आलोच्य कृति को उदात्त विश्व-साहित्य के सम्पर्क में विकसित संवेदना की कसौटी पर कम जाँचता है—वह प्रायः अधसोचे और अनपचाये वादों का प्रयोग-मात्र करता है। विश्व की सभ्यताओं के उत्थान-पतन की व्याख्या करने के लिए ट्वायनबी को आठ-दस बड़े खण्डों के महाग्रन्थ की योजना बनानी पड़ी है; हिन्दी का औसत लेखक और समीक्षक बी० ए० की डिग्री पाते-पाते, अथवा उससे भी पहले, प्रगति, प्रतिक्रियावादिता आदि के सम्पूर्ण रहस्य से परिचित हो जाता है। किसी बड़े विचारक का अनुयायी बन जाना, अथवा अपने को किसी फैशनेबल वाद का हामी घोषित कर देना, उस आजीवन साधना का स्थानापन्न नहीं है जो लेखक की संवेदना का उच्चतम विकास और उसकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन करती है—इसे हिन्दी के जोशीले युवक-लेखक बहुत कम समझते, या समझना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या है? हिन्दी के दर्जनों लेखक तथा आलोचकों ने प्रगतिवाद को अपनाया, पर उनमें से कितने शुक्ल जी की चिन्तनशीलता को पा सके, और कितने 'कामायनी'—जैसा काव्य भी हिन्दी को दे सके? दस-पन्द्रह बरस उछल-कूद करके आज प्रगतिवाद अपनी निष्फलता के बोझ से श्रान्त नजर आ रहा है। आशंका यह है कि कहीं तथाकथित प्रयोगवाद का भी वही हश्र न हो।

डॉक्टर प्रेमशंकर

लघु उपन्यास

विश्व-साहित्य में जहाँ एक ओर Les Miserables, War and Peace, Wilhelm meister, Gone with the Wind, 'गोदान' आदि बृहद् उपन्यासों की परम्परा है, वहीं हमें Sorrows of Werther, Adolphe, Strait is the G 'अरक्षणीया', 'त्याग पत्र' आदि लघु-उपन्यास भी प्राप्त होते हैं।

बृहद् और लघु उपन्यास का विभेद आकार के आधार पर है। प्रथम का आकार इतना विस्तृत होता है कि उसमें असंख्य घटनाओं और अनेक पात्रों की योजना सहज ही की जा सकती है। महाकाव्य की भाँति कभी-कभी उसका उद्देश्य एक युग-विशेष के समाज को बाँधने का होता है। अथवा उसके माध्यम से लेखक अपने सम्पूर्ण चिन्तन को विस्तार से अभिव्यक्ति देना चाहता है। यही कारण है कि गेटे ने Wilhelm Meister की रचना में लगभग पचास वर्ष लगाए थे। लघु उपन्यास प्रायः जीवन अथवा समाज के किसी विशेष प्रश्न को लेकर चलता है और उसीके अनुसार समस्त नियोजना रहती है। किसी बृहद् उपन्यास के द्वारा लेखक समाज को अपनी परिधि में समेट लेने का प्रयास करता है। यदि यह सम्भव नहीं होता तो वह किसी एक समस्या पर तो बहुत विस्तार से विचार कर ही डालता है। War and Peace के माध्यम से टॉलस्टॉय मानो असंख्य सामाजिक स्थितियों और मानव-प्रवृत्तियों को व्यक्त करना चाहता है। लघु उपन्यास के पास एक सीमित आकार होता है और एक नाटककार की भाँति उसे छोटे-से रंगमंच को ध्यान में रखकर निर्माण करना होता है। इस सीमा और विवशता के कारण लघु उपन्यास का लेखक प्रभावान्विति का विशेष ध्यान रखता है।

लघु उपन्यासकार कथावस्तु में संगठन लाने का कार्य केवल कल्पना के आधार पर नहीं कर सकता। जीवन के जिस अंग-विशेष को वह अंकित करना चाहता है उसका साक्षात्कार उसके लिए आवश्यक है अन्यथा उपन्यास में संवेदनशीलता का अभाव रहेगा। इस प्रत्यक्ष अनुभव के कारण ही कभी-कभी लघु उपन्यास व्यक्तिगत अनुभूति अथवा आत्म-कथा की सीमा तक का स्पर्श कर लेते हैं। Sorrows of werther की प्रेरणा Lotte Buff का वह स्नेह है जिसे आजीवन महाकवि न भूल सका। स्वयं गेटे ने इस उपन्यास के विषय में कहा था कि 'मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियों ने इसे जन्म दिया है।' इसी प्रकार Benjamin Constant के उपन्यास Adolphe की विवेचना (The Conquest of Death) करते हुए Middleton Murry ने लिखा है कि 'यह एक हृदयद्रावक कथा है। प्रेम के मनोविज्ञान की यह अन्तर्भेदिनी व्याख्या है।'[१] इसकी प्रेरणा लेखक को अपने अन्तरंग सखा Mme Talme से प्राप्त हुई थी।

१. Adolphe is a deeply moving story, it is also a penetrating analysis of the psychology of love.

एक प्रकार से ये दोनों ही प्रभावशाली लघु उपन्यास लेखक की आत्म-स्वीकृति-से बन गए हैं।

इस प्रकार इन कतिपय लघु उपन्यासों की प्रेरणा-भूमि में जाने से ज्ञात होता है कि इनमें लेखक अपने व्यक्तित्व को कभी-कभी अधिक छिपाकर नहीं रख पाता। उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ बरबस ही बाहर आ जाती हैं। बृहद् उपन्यास प्रायः वर्णन-प्रधान होता है किन्तु लघु उपन्यास में भावों और विचारों को अधिक स्थान मिलता है। इस विचार-प्रधानता के कारण नये साहित्य में एक बार पुनः लघु उपन्यासों की ओर लोगों का ध्यान गया है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि लघु उपन्यास एक प्रकार से किसी स्वप्न को बाँधने का प्रयास करता है। वह जिस चित्र को प्रस्तुत करना चाहता है, वह यदि सघन न हुआ तो असफल रह जाता है। कथानक की इस संग्रथित योजना के अनुसार ही पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ती है। पात्रों की संख्या उसमें कम रहती है, किन्तु इन पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करने में लेखक को बड़ी सावधानी से कार्य करना पड़ता है। प्रमुख पात्र लघु उपन्यास में एक प्रकार से नियामक का काम करता है और इसी कारण वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। पात्रों का व्यक्तित्व-सृजन करने में लेखक को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह अधिकाधिक संवेदनशील हो और उसमें कोई विशेष गुण हो। हरबर्ड रीड के शब्दों में—'सम्भव है उसमें चरित्र (character) न हो, पर व्यक्तित्व (Personality) का होना आवश्यक है।' व्यक्तित्व के अभाव में ये पात्र केन्द्रगत प्रभाव में सहायक नहीं हो सकते और सहज आकर्षण से वंचित रह जाते हैं। पात्रों में रूप-रंग भरने के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक का कार्य लेखक को करना पड़ता है, क्योंकि कभी-कभी मनोवृत्तियों के प्रकाशन से ही चरित्रांकन हो जाता है और कथानक को भी गति प्राप्त होती है। लघु उपन्यास के पात्रों को अधिक प्रभावशाली बनाना पड़ता है। उदाहरण के लिए हम 'रघुवंश' महाकाव्य और 'मेघदूत' गीति-काव्य को ले सकते हैं। महाकाव्य में सम्पूर्ण रघु-परम्परा ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु 'मेघदूत' में हमारी समस्त चेतना यक्ष पर ही केन्द्रित हो जाती है। बृहद् उपन्यास और लघु उपन्यास के पात्रों में भी यही विभेद होता है। पात्रों के इस मार्मिक चरित्रांकन का प्रत्यक्ष उदाहरण 'सारोज आफ वर्थर' में मिल जाता है। गेटे के जीवनी-लेखक Emile Ludwig ने लिखा है कि "जिस समय यह छोटा-सा उपन्यास प्रकाशित हुआ जर्मनी में एक हलचल-सी मच गई थी। युवकों ने वर्थर की भाँति कपड़े पहनना आरम्भ कर दिया था और युवतियाँ अपने को Charlotte की भाँति सजाने लगी थीं। जर्मनी में आत्म-हत्या की संस्थाएँ तक खुल गई थीं।" लघु उपन्यास में प्रमुख नायक ही कथा का सूत्रधार होता है और उसके चरित्रांकन पर ही उपन्यास की सफलता-असफलता निर्भर रहती है।

लघु उपन्यास के पात्रों को—विशेषतया प्रमुख पात्र को कभी-कभी असाधारण भी बनना पड़ता है। यह असाधारणता किसी कुण्ठा के कारण भी हो सकती है, किन्तु उसका उद्देश्य पात्र को एक विशिष्टता प्रदान करना ही होता है। उसके व्यक्तित्व में कतिपय ऐसे तत्त्वों का समावेश करना पड़ता है, जो उसकी अपनी सम्पत्ति हों और जिनके कारण वह एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त कर सके। यह भी ध्यान रखना होगा कि यह असाधारणता पागलपन की उस सीमा तक न पहुँच जाय कि उसका मानव-मूल्य ही न रहे। वास्तव में प्रमुख पात्र को एक सत्य लेकर चलना पड़ता है जिसके मध्य उसके जीवन का समस्त आदि-अन्त सन्निहित रहता है। व्यक्तिगत

गुणों के साथ ही वह किसी ऐसे सत्य की खोज में लगा रहता है, जिसमें सामाजिक तत्त्व भी हों। 'Strait is the Gate' में एक स्थान पर Jerome को पत्र लिखते हुए Alissa ने लिखा है—'हमारी महत्त्वाकांक्षा विद्रोह नहीं, सेवा होनी चाहिए।' (Our ambition should be not in revolt, but in service) लघु उपन्यास के पात्रों को स्वयं से संघर्ष करते हुए देखा जा सकता है, क्योंकि इसीमें उनका व्यक्तित्व निखरता है। यह चरित्रगत आन्तरिक द्वन्द्व यदि उनके सामाजिक कार्य में बाधा बनकर नहीं आता, तो निस्सन्देह उपन्यास अपने मार्मिक प्रभाव में सफल होता है। Adolfe में Ellenose का आन्तरिक संघर्ष उपन्यास को मार्मिकता प्रदान करता है, प्रेरणामय बना देता है। Martin Turnell ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि लेखक ने संसार की यातनाओं से रक्षा करने के लिए उसे चुना है।[१] इस प्रकार लघु उपन्यास में पात्रों का चरित्रांकन लेखक से विशेष कला-कौशल की माँग करता है।

लघु उपन्यास का लेखक अधिकांश दृष्टियों से नये प्रयोग कर सकता है। वह वास्तव में इस माध्यम से किसी नई मान्यता को जन्म दे सकता है। पात्रों के असाधारण व्यक्तित्व के मूल में प्रायः यही भावना छिपी रहती है। चरित्रांकन के अतिरिक्त शैली के नवीन प्रयोग भी किये जा सकते हैं। लेखक को इसका पूरा अवसर रहता है और प्रायः कुशल कथाकार इसका उचित प्रयोग कर लेते हैं। लघु उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार एक नई टेकनीक प्रस्तुत कर सकता है। यह शैली यदि एक ओर कथा को रोचकता प्रदान करती है, तो साथ ही उसके प्रभावोत्पादन में भी सहायक होती है। डायरी शैली में लिखे जाने के कारण 'वर्थर' में भावों का उद्वेग अधिक मुखर हो सका है। उसके द्वारा वर्थर का भावावेश और उसकी सम्पूर्ण मनःस्थिति का आभास मिलता रहता है। उपन्यास के अन्त तक आते-आते यह आवेश अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उसकी स्थिति कुछ-कुछ 'लस्ट फार लाइफ' के उस विन्सेन्ट की भाँति हो जाती है जो मृत्यु को चित्रित न कर पाने की विवशता में आत्महत्या कर लेता है। रात्रि के ग्यारह बजे के अनन्तर लिखता हुआ वर्थर कहता है—"मेरे चारों ओर निस्तब्ध नीरवता है और मेरी आत्मा शान्त है। ईश्वर, मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ कि तूने मुझमें इतना साहस और शक्ति भर दी कि मैं इन अन्तिम क्षणों को देख सकूँ।" एक साथ अनेक प्रश्न वह स्वयं से करता है और इस प्रकार Charlotte के प्रति अपने स्नेह की अन्तिम बूँद बिखेरकर स्वयं को निश्शेष कर देता है।

लघु उपन्यासों के विषय में सबसे अधिक आक्षेप यह लगाया जाता है कि उनके छोटे कलेवर के कारण उनमें किसी भारी प्रश्न को सुलझाना सम्भव नहीं है। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि भावना की प्रधानता के कारण उनमें किसी 'स्वस्थ जीवन-दर्शन' को नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। उसमें भावुकता अधिक रहती है, विचारों का प्रकाशन कम। इस प्रकार की शिकायत करने वाले अधिकांश समीक्षक नई मान्यताओं और नई शैलियों के स्वागत को तैयार नहीं होते। स्वस्थ जीवन-दर्शन एक ऐसा अद्भुत शब्द है कि उसकी परिभाषा और सीमा निर्धारित करने में भी कठिनाई होती है। बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के बीच कथाकार से इस प्रकार की माँग कुछ अनावश्यक प्रतीत होती है। यदि उपन्यासकार किसी वेश्या के जीवन

१. The Novel in France—Page 122.

को उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है, तो उसके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह सम्पूर्ण चित्र का स्वाभाविक अंकन करे। उदात्तीकरण के साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि रस-निष्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा न प्रस्तुत हो। केवल बाह्य रूप-रेखा से ही काम नहीं चल सकता, उसमें प्राण-प्रतिष्टा करनी होगी। यथार्थ की रक्षा के लिए हर प्रकार का जीवन-दर्शन सम्मुख रखना पड़ता है। जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है मैं स्वीकार करता हूँ कि बृहद् उपन्यास समाज का एक पर्यवेक्षण करके अपनी राय जाहिर कर सकता है। इस दृष्टि से 'वार एण्ड पीस' अथवा 'गोदान' का सदैव महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा और वे लेखक की प्रतिनिधि कृतियाँ कही जायँगी, क्योंकि वे इन मनीषियों के सम्पूर्ण चिन्तन का फल हैं। पर केवल भारी आकार के आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक बृहद् उपन्यास समाज पर गहरी दृष्टि डालकर किसी परिपुष्ट और स्वस्थ जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करेगा ही। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलिस्म को छोड़ दें, तो भी अनेक ऐसे भारी-भरकम उपन्यास मिलते हैं, जिन्हें आदि से अन्त तक पढ़ जाने पर एक भारी शून्य ही हमारे हाथ लगता है। हिन्दी में हाल के कुछ उपन्यासों से, जिनमें से कुछ प्रतिष्ठित कथाकारों ने लिखे हैं, इसी प्रकार की निराशा प्राप्त होती है।

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि रचना की विभिन्न शैलियाँ एक प्रकार से युग और समाज की माँग होती हैं। विभिन्न मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये शिल्प-विधान का निर्माण करना होता है। जिस प्रकार महाकाव्य के द्वारा प्राचीन महाकवि एक दीर्घ-परम्परा और विस्तृत समाज को अंकित करते थे, उसी प्रकार बृहद् उपन्यासों के मूल में भी यही महत्त्वाकांक्षा दिखाई देती है। उसके द्वारा लेखक अपने समस्त अनुभव को अभिव्यक्ति देना चाहता है। लघु उपन्यास एक-दो प्रश्नों को लेकर चलते हैं और समाज में बढ़ती हुई समस्याओं के साथ-ही-साथ उनकी माँग बढ़ जाना भी स्वाभाविक ही है। बात यह है कि समाज के अनेक प्रश्नों, असंख्य समस्याओं और सभ्यता के साथ बढ़ जाने वाली अनगिन जटिलताओं को किसी एक ही बृहद् उपन्यास में प्रस्तुत कर देना किसी एक कथाकार के बूते का काम नहीं है। यदि महान् लेखक भी आज के जटिल समाज में इस प्रकार का प्रयास करना चाहे, तो वह एक चलती नजर डालने के अतिरिक्त कुछ न कर पाएगा। वह उपन्यास एक चार्ट अथवा डाइरेक्टरी बनकर रह जायगा। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए लेखक का रसमय हो जाना तथा पात्रों में डूबकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण करना आवश्यक है। बृहद् उपन्यास में दूरी देखने को मिल जाती है, पर लघु उपन्यास के लिए गहराई (intensity) आवश्यक है। समाज का बाहरी खाका खींचने की भूल में रूस के अधिकांश आधुनिक उपन्यास डाइरेक्टरी बनकर रह गए हैं। किन्तु सम्पूर्ण प्रचार-भावना के होते हुए भी उनकी कहानियाँ अधिक संवेदनशील हैं। 'I choose Peace' के दीर्घ कलेवर में भी पाठक शान्ति की मूल चेतना को नहीं खोज पाता। किसी एक भावना को अभिव्यक्ति के लिए लघु उपन्यास एक अधिक अच्छा माध्यम हो सकता है, क्योंकि उसमें केन्द्रगत भाव सहज ही निर्मित किया जा सकता है।

सम्भव है लघु उपन्यास किसी महत्त्वाकांक्षी कथाकार की रचना का प्रमुख माध्यम न बन सके, किन्तु इतना निश्चित है कि उसके द्वारा किसी विशेष संश्लिष्ट चित्र को उतारा जा सकता है। साथ ही उसमें कतिपय नई मान्यताओं के साथ अधिक न्याय भी किया जा सकता है। जहाँ तक लघु उपन्यासों के उद्देश्य का प्रश्न है, मैं एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूँगा। 'सरोज आफ

वर्थर' के प्रकाशन के अनन्तर जब गेटे ने देखा कि उसकी निराशाजनक परिसमाप्ति का प्रभाव जनता पर ठीक नहीं पड़ रहा है, (क्योंकि आत्म-हत्याओं की बाढ़-सी आ गई थी) तो कुछ समय पश्चात् उसने स्वयं उसमें परिवर्तन कर दिए थे। अब अपने वर्तमान रूप में वह निराशा के बीच में आशा का सन्देश देता है। उसका अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—"वृद्ध पुरुष और उसके लड़के शव के साथ कब्र तक आए। अलबर्ट न जा सका। Charlotte का जीवन संकट में था। श्रमिकों ने शव को ढोया। कोई पादरी साथ न था।[1] 'Strait is the Gate' में धर्म और प्रेम का जो संघर्ष अंकित है, वह एक प्रकार से नई और पुरानी मान्यताओं के प्रतीक-रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि नायक की करुणाजनक स्थिति का अंकन बड़े ही हृदय-द्रावक शब्दों में किया गया है, किन्तु उपन्यास का उद्देश्य निराशा की सृष्टि नहीं है। Dorothy Bussy ने उसके विषय में कहा है कि वह एक सुन्दर कृति है।[2]

लघु उपन्यास के इन मूल उपादानों की चर्चा के अनन्तर मैं हिन्दी के लघु उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टि डालना चाहूँगा। 'गोदान'-जैसे महा उपन्यास के लेखक की ही कृति 'निर्मला' है। 'गोदान' हमारा प्रतिनिधि उपन्यास है, किन्तु विस्तार के कारण उसमें अनेक पात्र और घटनाएँ निरर्थक प्रतीत होती हैं। 'निर्मला' की कथा-वस्तु अधिक सुगठित है। शरत् के 'श्रीकान्त' की अपेक्षा 'अरक्षणीया' में इसी कारण मार्मिकता अधिक है। चरित्र को इतनी संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण रेखाओं से निर्मित किया गया है कि उसका प्रभाव अधिक द्रावक होता है। जैनेन्द्र अपने 'त्याग-पत्र' द्वारा जिन नव नैतिक मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं, यद्यपि उसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है, फिर भी एक नया दृष्टिकोण हमें देखने को प्राप्त होता है। आरम्भ में जिज्ञासा और कुतूहल के लिए लिखे गए दो-चार शब्द इसके प्रमाण हैं कि जैनेन्द्र कथा कहने में कितने कुशल हैं। कम-से-कम हिन्दी के लिए, अपनी सारी कमियों के बावजूद 'त्याग-पत्र' एक नई दिशा का सूचक अवश्य रहा है—शैली और चरित्रांकन के कारण। 'चित्रलेखा' अपेक्षाकृत अधिक बड़ा उपन्यास है, फिर भी उसके विषय में भी यही कहा जा सकता है कि एक नई शैली देखने को हमें मिली। इन नवीन शैलियों के साथ ही यदि उपन्यासकार नई मान्यताओं को अभिव्यक्ति दे सके, तो उसकी कृति निस्सन्देह सफल होगी। हाल ही में लिखे गए डॉ० धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और डॉ० देवराज का 'बाहर-भीतर' शैली की दृष्टि से नये प्रयोग हैं। यहाँ इतना अवसर नहीं है कि हिन्दी के इन कतिपय लघु उपन्यासों की विस्तृत विवेचना की जा सके, क्योंकि वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है, किन्तु मैं इस दिशा में इतना संकेत अवश्य करना चाहूँगा कि आज की अवस्था में लघु उपन्यास प्रयोग का सबसे अच्छा माध्यम हो सकता है।

---

१. The old man and his sons followed the body to the grave. Albert could not. Charlotte's life was in danger. The body was carried by workmen. No clergyman attended.

२. It has a lucid clarity, a simplicity, a directness, a beauty and sweetness of thought and a musical expression.

—Dorothy Bussy

राहुल सांकृत्यायन

ऐतिहासिक उपन्यास

सरस ललित गद्य बृहत्कथाएँ ऐतिहासिक आधार लेकर हमारे देश में पहले भी लिखी जाती रहीं, पर उन्हें यथार्थवादी ढंग से लिखने की प्रणाली आधुनिक काल की एक विशेष देन है। आधुनिक दृष्टिकोण ने अयथार्थवादी कथानक को फीका बना दिया और पाठक अपने मनोरञ्जन की चीज भी अलौकिक नहीं लौकिक रूप में देखना चाहने लगे। यही कारण है, जो आज सारे भूमण्डल में नये ढ़ंग के कथा-साहित्य, (उपन्यासों और कहानियों) को लिखने-पढ़ने का रिवाज चल पड़ा है। हमारे अधिकांश कथानक वर्तमान काल से सम्बन्ध रखते हैं। यथार्थता का पूरी तौर से अनुसरण करने के लिए यह सुगम भी है, क्योंकि उसके पात्र हमारे सामने मौजूद हैं। हम स्वयं उन्हींमें से एक हैं, इसलिए उनके अन्तर-बाह्य से पूर्णतया परिचित हैं। यदि अपने ही देश के व्यक्तियों और दृश्यों तक अपने कथानक को सीमित रखना है, तो हम देश-काल-पात्र के अनौचित्य के भागी नहीं हो सकते। भविष्य-सम्बन्धी कहानी या उपन्यास बहुत कम लिखे जाते हैं और वह अधिकतर किसी आदर्श को साकार रूप में दिखलाने के लिए ही। काल के अनुसार दूसरी श्रेणी के उपन्यास या कहानी अतीत-सम्बन्धी होते हैं, जिनके लिए यह जरूरी नहीं है, कि वह ऐतिहासिक ही हों पर तो भी कथाकार को किसी देश-काल को तो रखना ही पड़ेगा और उसे देश-काल तथा उनके सम्बन्धी पात्रों को उनके अनुरूप ही चित्रित करना होगा। हर हालत में यथार्थवाद हमारे ऊपर कुछ जिम्मेवारियाँ, कुछ नियमों की पाबन्दी रखता है।

यह पाबन्दी ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों को निर्वाहित करनी ही होगी। उपन्यास का कलेवर बड़ा होता है, इसलिए उसका हर जगह निर्वाह करना कष्ट-साध्य है। उपन्यास प्राग्-इतिहास के सम्बन्ध में भी लिखे जा सकते हैं, पर तब हमारे पात्र ऐतिहासिक नहीं होंगे। प्रागितिहास-काल व्यक्ति-प्रधान नहीं समाज-प्रधान था, इसलिए तत्सम्बन्धी कथा में एक नहीं अनेक व्यक्ति नायक का पार्ट अदा करेंगे। पर, प्रागैतिहासिक काल को लेकर उपन्यास अभी हमारे यहाँ तो लिखे ही नहीं गए हैं, कहानियाँ जरूर लिखी गई हैं। हमारी भाषा में तो, वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास भी बहुत कम ही हैं और उनमें भी ऐतिहासिक यथार्थवाद की कसौटी पर उतरने वाले और भी कम हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किन्तु, उसने पद-चिह्न कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पद-चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें ? हम देखते हैं, कम-से-कम हमारे देश में, समर्थ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठते

हैं और बिना तैयारी के ही कलम उठा लेते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है, तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचकों में बहुत कम ही ऐसे हैं जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं, इसलिए इतिहास के जानकारों और प्रेमियों के सिर में दर्द पैदा करने वाले उपन्यासों पर खूब अच्छी समालोचना या सम्मति भी प्राप्त हो सकती है; लेकिन ऐसे लेखक की कृति पर राय देने का अधिकार आज ही के पाठक नहीं रखते, समानधर्मा लोगों की अनेक पीढ़ियाँ उन्हें देखेंगी और वह ऐसे लेखक को तुच्छ दृष्टि से देखेंगी। जिन्हें तज्ञों की राय की कोई परवाह नहीं, ऐसे वीरों के लिए कुछ कहना नहीं है, उनकी कलम को कोई नहीं रोक सकता और उनके पाठक भी मिल सकते हैं। एक लेखक ऐतिहासिक सामग्री के अवगाहन में अपने परिमित साधनों के कारण अक्षम हो सकता है, पर लाखों रुपये खर्च करके बनने वाले फिल्मों के बनाने वालों को हम साधनहीन नहीं कह सकते; वहाँ तो इस विषय में और भी अन्धेर मचा हुआ है। रेडियो पर एक बार अशोक-सम्बन्धी एक कहानी प्रसारित हुई थी, जिस में बारूद का धड़ाका करवाया गया था। जहाँ अर्थशास्त्र, साइंस के विलायती यूनीवर्सिटियों के ग्रेजुएट प्रभु और महाप्रभु बनने के सबसे योग्य पात्र समझे जाते हों, वहाँ ऐसा अन्धेर-खाता क्यों न हो?

जिस समय की कुछ भी प्रामाणिक समकालीन लिखित सामग्री प्राप्य है, उसे कथा-साहित्य के लिए ऐतिहासिक मान सकते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ ऐसा काल तीन-चार हजार वर्ष तक का हो सकता है। हरेक ऐतिहासिक कथाकार के लिए आवश्यक नहीं है कि वह सारे काल की प्राप्य सामग्री का समवगाहन करे, यह सम्भव भी नहीं है। ऐतिहासिक सामग्री का हल्के दिल से अध्ययन करना लाभदायक नहीं है, इससे लेखक आधा तीतर आधा बटेर पैदा करने में समर्थ होगा, जो कि और भी उपहासास्पद बात होगी। ऐतिहासिक कथाकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हमारी एक-एक पाँती पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है। हमारी जरा भी गलती वह बरदाश्त नहीं करेगा, वह हमारी भारी भद्द करायगा। जो भी ऐतिहासिक चरित आपको आकर्षक मालूम हो उसे ले लीजिए। फिर उसके देश और काल के बारे में जितनी ज्ञातव्य बातें हैं, उन्हें जमा करने में लग जाइये। किसी यूनीवर्सिटी के लिए लिखी जाने वाली अच्छी थीसिस से इस सामग्री-संचय में कम मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। पकी-पकाई सामग्री आपके लिए तैयार शायद ही मिले। वह कुछ मात्रा में मिल भी सकती है, यदि उसी काल और समाज पर किसी अधिकारी लेखक ने कोई उपन्यास लिख डाला हो। उससे आप खुशी से सहायता ले सकते हैं। वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले उपन्यासों में वर्तमान समाज के चित्रण बहुत-कुछ एक-जैसे होते हैं, पर उसके कारण हम किसी लेखक को दोषी नहीं ठहरा सकते साहित्यिक चोरी दूसरी चीज है, जिससे बचना अवश्य चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिए, जैसा कि इतिहासकार का होता है। उसे समझना चाहिए कि कौन-सी सामग्री का मूल अधिक और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायगी, जिसे उसी समय लिपिबद्ध किया गया हो। ग्रन्थों को बराबर नई प्रतियों के रूप में उतारा जाता रहता है। सभी प्रतिलिपि करने वाले अपनी सफाई देते हैं: "यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम्।" पर जब हम नई प्रतियों में बराबर घटाव-बढ़ाव होता देखते हैं, तो दोष क्यों न देंगे? 'महाभारत'

का जो नया संस्करण पूना से निकल रहा है, उससे मालूम होता है, कि कितने भारी परिमाण में नये श्लोकों को रचकर उसमें मिलाया गया। 'रामचरितमानस' में कितने अधिक क्षेपक हैं, यह आसानी से देखा जा सकता है। इसीलिए समकालीन लिपिबद्ध सामग्री सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। सिक्के, शिला-लेख और ताम्र-पत्र उसी समय के लिखे होते हैं, इसीलिए उनका मूल्य अधिक है। वास्तु, मूर्तियाँ और चित्र अपने समय के समाज के जीवन पर बहुत प्रकाश डालते हैं। अजन्ता की चित्रशालाएँ पाँचवीं से सातवीं सदी के भारत के समाज का बड़ा ही सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। साँची और भरहुत की मूर्तियों को अच्छी तरह अध्ययन किये बिना हम मौर्य और शुङ्ग-काल पर अच्छे उपन्यास नहीं लिख सकते। हरेक ऐतिहासिक उपन्यासकार को जैसे तत्कालीन इतिहासों को पढ़कर नोट लेना चाहिए, उसी तरह संग्रहालयों को भी अच्छी तरह से देखना चाहिए। हर तीन-चार शताब्दी के बाद लोगों की वेश-भूषा में कितने ही अन्तर आ जाते हैं, जिनका ध्यान रखना जरूरी है। आज जिस तरह हमारे अपने देश में प्रदेश के अनुसार लोगों के वस्त्र-आभूषणों में फरक मालूम होता है, उसी तरह कुछ-न-कुछ पहले भी था, यह अध्ययन से मालूम होगा।

ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। यह तो बल्कि समसामयिक उपन्यास और कहानी-लेखकों के लिए भी जरूरी है। जिस तरह ऐतिहासिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासन-काल की पहले ही से तालिका बनाकर उसमें वर्णनीय घटनाओं के अध्याय-क्रम को टाँक लेना जरूरी है, उसी तरह भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अन्दाज रहने के लिए तत्सम्बन्धी नक्शे का खाका हर वक्त सामने रखना चाहिए। नक्शा तो बल्कि हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाना चाहिए। ऐसा न करने पर अक्षन्तव्य गलती हो जाती है। नन्दलाल दे ने प्राचीन भूगोल का कोश लिखा है। उसमें नक्शे का खयाल न रहने के कारण उन्होंने कुमाऊँ की काली और अलीगढ़, एटा जिलों की काली को एक समझ लिया। उन्हें यह खयाल नहीं आया कि ऐसा होने के लिए दोनों कालियों को गंगा के ऊपर से गुजरकर एक होना पड़ेगा।

मानव के ऐतिहासिक विकास में एक चीज का एक समय अभाव रहता है और दूसरे समय उसका आविष्कार हो जाता है। जो चीज जिस समय अभी आविष्कृत नहीं हुई, उसे उस समय रखना भारी दोष है। उदाहरण के लिए बारूद और बारूदी हथियारों को ले लीजिए। चीन में यद्यपि आतिशबाजी के छोटे-छोटे खिलवाड़ों के लिए बारूद का उपयोग कुछ पहले भी होता था, पर उसे हथियार के तौर पर सबसे पहले चंगेज (मृत्यु १२२७ ई०) की सेना ने इस्तेमाल किया। अभी भी धातु की तोपें नहीं बन सकी थीं, और मोटे चमड़े की कई तहों से बनी डेढ़-दो हाथ की तोपों से बारूद को फेंका जाता था। चमड़े की तोप उस समय की अपेक्षाकृत कमजोर बारूद सँभाल नहीं सकती थी। धातु की तोपें मंगोलों की चमड़े की तोपों को देखकर यूरोप में पहले-पहल बनीं। आगे बारूद के सारे शक्तिशाली हथियार यूरोप वालों ने निकाले। यही बारूदी तोपें और बन्दूकें थीं, जिन्होंने युद्ध में यूरोपीयों के पल्ले को भारी कर दिया और उन्होंने सारे विश्व पर अपना अधिकार स्थापित किया। भारत में सबसे पहले बारूदी तोपों का इस्तेमाल बाबर ने पानीपत के मैदान में (२१ अप्रैल १५२६ ई०) किया।

उसकी सात सौ यूरोपीय तोपों ने चार-पाँच घण्टे में दिल्ली (इब्राहीम लोदी) की सेना को घास-मूली की तरह काटकर रख दिया। २१ अप्रैल १५२६ ई० से पहले बारूदी तोपों और हथियारों को अपने उपन्यासों और कहानियों में लाना अनुचित है।

कहा जा सकता है, हमारे यहाँ पहले से ही सारे हथियार मौजूद थे। आपके यहाँ पुष्पक विमान मौजूद थे, बारूदी तोप क्या अणु-बम भी मौजूद थे, पर यह आपके घर की मान्यता है, जिसे विचारशील वैज्ञानिक दुनिया नहीं मानती। आप जैसे अपने ओझाओं-सयानों और कथा-पुराणों की 'सचाइयों' को अपने कथानकों में नहीं ला सकते, वैसे ही इन पुरानी मान्यताओं या भ्रमों को भी अपने ऐतिहासिक वर्णनों में सम्मिलित नहीं कर सकते।

ऊपर की पंक्तियों को पढ़कर आप कह उठेंगे—तब तो ऐतिहासिक उपन्यास और कहानी लिखने के लिए नौ मन तेल वाली शर्त पूरी करनी पड़ेगी। शर्त जरूर पूरी करनी होगी यदि आप गम्भीरतापूर्वक इस क्षेत्र में कदम रखना चाहते हैं, नहीं तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतिकी' वाला रास्ता आपके लिए खुला है ही।

जगदीश गुप्त

इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार

कोई भी उपन्यास, चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, कल्पना द्वारा विविध मानवीय संवेदनाओं का विस्तार करके भावनाओं और विचारों के बीच एक नवीन सामञ्जस्य खोजने का प्रयास करता है तथा अपने सीमित रूप में जीवन के चिरन्तन सत्य को अधिक-से-अधिक अभिव्यक्त या प्रतिबिम्बित करने का लक्ष्य रखता है। इतिहास भी प्रायः यही करता है किन्तु उसकी दिशा भिन्न है और मर्यादाएँ भी दूसरी हैं। उसमें कल्पना नियन्त्रित एवं तथ्य-समर्थित होकर ही क्रियाशील हो पाती है। ऐसे इतिहास की कल्पना एक प्रकार से असम्भव ही है जिसमें कल्पना का नितान्त अभाव हो।

इतिहास और कथा का पार्थक्य निश्चित रूप से विज्ञान-युग का स्वाभाविक परिणाम है और यह लगभग दो शताब्दियों पूर्व की घटना है। इससे कुछ पूर्व दोनों अधिक समीप थे और यदि कुछ शताब्दियों के व्यवधान को और चीरकर देखें तो वे प्रायः अभिन्न दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा की इस पुरातन समीपता की नूतन समन्वयात्मक अभिव्यक्ति है जिसके पीछे युग-युग के अतीतोन्मुखी संस्कार निहित हैं। उसकी उत्पत्ति विगत में आत्म-विस्तार की आन्तरिक मानवीय वृत्ति से हुई है। कथा की कोई भी कल्पना विगत अथवा ऐतिह्य से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकती, जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक् नहीं कर सकता।

इतिहास के क्षेत्र में कल्पना के महत्त्व का जो दोहरा उल्लेख ऊपर किया गया है वह निराधार नहीं है। ऐतिहासिक चिन्तन आज इतना विकसित हो गया है कि वह दर्शन की सीमाओं को छूने लगा है। आधुनिक ऐतिहासिक दर्शन के अनेक तत्त्वदर्शी चिन्तकों ने इतिहास की सम्पूर्ण सत्ता को कल्पना के आश्रित घोषित किया है और उनके तर्क प्रायः अकाट्य हैं। क्रोचे ने, जो सौन्दर्य-शास्त्र के साथ राजनीति और इतिहास का भी प्रकांड पण्डित था, बलपूर्वक घोषित किया है कि (All history is contemporary history) सारा इतिहास वस्तुतः समसामयिक इतिहास है। वह वर्तमान से अतीत को पृथक् नहीं मानता, क्योंकि अतीत का प्रत्यक्षीकरण वर्तमान सामग्री के आधार पर कल्पना द्वारा वर्तमान व्यक्ति ही करता है। आदर्शवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास वर्तमान परिस्थितियों में किया गया अतीत का पुनर्निर्माण (a reconstruction of the past) अथवा काल्पनिक पुनर्जीवन की प्रक्रिया-(a process of imaginative re-living) मात्र है। क्रोचे के अनुयायी कॉलिंगवुड की भी

ऐसी ही धारणा है। उसका कथन है कि 'वह सम्पूर्ण तथ्य-जगत्, जिसका स्पष्ट अध्ययन इतिहास में होता है, अध्येता के सूक्ष्म मानसिक सत्व से भिन्न कुछ नहीं है।[१] तटस्थता अथवा वस्तुपरकता (objectivity) का इतिहास में कोई विशेष अर्थ नहीं है। हमारे इतिहास वास्तव में व्यक्तिगत धारणाओं की ही अभिव्यक्ति हैं।[२]

ऐतिहासिक दर्शन के मान्य विद्वान् डब्ल्यू० एच० वाल्श ने इस आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया है कि सर्वथा निर्वैयक्तिक इतिहास आदर्श तो हो सकता है किन्तु यथार्थ में वह पूर्णतया असम्भव है। हर इतिहासकार अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से इतिहास को देखता है जिससे अलग होना उतना ही कठिन है जितना प्राणों का शरीर से भिन्न होना।[3]

इस विचार-धारा से यह सिद्ध होता है कि ऐतिहासिकों के समस्त मतभेद अपनी तह में सत्य-असत्य से सम्बन्ध नहीं रखते, वरन् उनका सम्बन्ध 'क्या है और क्या होना चाहिए' से होता है और जितने भी मौलिक ऐतिहासिक निर्णय हैं वे इस प्रकार अपने आत्यन्तिक रूप में बोधात्मक (cognitive) न होकर भावात्मक (emotive) होते हैं।[४]

इन आदर्शवादी विचारकों के विरुद्ध कॉम्ते और उसके अनुयायी विचारकों का एक दूसरा वर्ग है जो 'पाजिटिविस्ट' कहलाता है और ऐतिहासिक अनुशीलन में निर्वैयक्तिकता और तटस्थता का पक्षपाती है तथा सैद्धान्तिक रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही स्थापित करता है। इतिहास को कल्पना की छाया से दूर खींचकर विज्ञान की सीमा तक ले जाने के प्रयास ने कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया कि प्राकृतिक विज्ञान की अन्य धाराओं की तरह इतिहास भी कतिपय निश्चित नियमों से परिचालित होता है। ऐसे नियमों को ऐतिहासिक क्षेत्र में भी खोजा जा सकता है जो बहुत-सी असंगत एवं असम्बद्ध लगने वाली घटनाओं की एक बुद्धि-संगत व्याख्या प्रस्तुत कर सकें और 'भाग्यवाद', 'महापुरुषवाद' तथा

---

१. The world of fact which is explicitly studied in history is therefore implicitly nothing but the knowing mind as such—SPECULUM MENTIS—Page 245.

२. And yet to surrender the 'objectivity' to cosfess frankly that our histories are nothing but an expression of personal point of view. वही पृ० २२७।

३. Impartial history, so far from being an ideal, is a downright impossibility. In support of this we would point out that every historian looks at the past from a certain point of view, which he can no more avoid than he can jump out of his own skin. —Introduction to Philosophy of History—Page 20.

४. Historical disputes according to this way of thinking are at the bottom concerned not with what is true or false, but with what is and what is not desirable, and fundamental historical judgement are in consequence not strictly cognitive but emotive. वही।

ऐसे ही अन्य रूढ़िगत वादों के विरुद्ध उनको सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से सम्बद्ध करके मानवता के विकास की सुस्पष्ट रूप-रेखा व्यक्त कर सकें। मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की व्याख्या इसी वैज्ञानिक—ऐतिहासिक—चिन्तन का परिणाम है। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक अपने नियमों के आधार पर भविष्य में होने वाले परिवर्तनों को प्रत्यक्ष करता है उसी प्रकार मार्क्स ने भी मानव-जाति के भविष्य को अपने ऐतिहासिक नियमों के आधार पर घोषित किया। किन्तु एक दूसरा तथ्य यह भी है कि इतिहास पूर्णतया विज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ पूर्व-निश्चित धारणाओं को लेकर ही आगे बढ़ पाता है। 'क्या हुआ' इसको तथ्यों से जाना-समझा जा सकता है और इसमें वैज्ञानिक का दृष्टिकोण मान्य हो सकता है, किन्तु 'क्यों हुआ' इसका उत्तर मानव-प्रकृति के सापेक्ष ज्ञान और व्यक्तिगत धारणाओं से तटस्थ होकर नहीं दिया जा सकता और बिना इसका उत्तर दिए इतिहास इतिहास न होकर प्राप्त तथ्यों की एक क्रमिक सूची-मात्र रह जाता है। जर्मन दार्शनिक डिल्थे (Wilhelm Dilthey) इतिहास को एक ऐसा विज्ञान मानता है जिसकी विषय-वस्तु को हम 'जी' सकते हैं या भीतर से जान सकते हैं। अन्य किसी विद्वान् में ऐसा कभी सम्भव नहीं है। कॉलिंगवुड इसी बात को दूसरी तरह व्यक्त करते हुए लिखता है कि इतिहासकार इतिहास 'को' नहीं देखता, वह इतिहास 'के पार' देखता है। उसका मत है कि इतिहास उस अर्थ में कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता जिस अर्थ में एक वैज्ञानिक प्रकृति को ग्रहण करता है।[1]

विविध घटनाओं का पूर्वापर-सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्हें व्यवस्थित रूप में परिकल्पित और श्रृङ्खलित करने की प्रक्रिया (colligation) प्रत्येक इतिहासकार के लिए अनिवार्य है किन्तु यह विज्ञान के क्षेत्र की वस्तु न होकर साहित्य के क्षेत्र की वस्तु है, क्योंकि इसमें मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में कतिपय पूर्वनिश्चित विश्वासों का होना अनिवार्य होता है।[2] यहाँ तक बात स्मरणीय है और वह यह कि अनजाने सहज रूप में भले ही व्यक्तिगत पूर्वाग्रह अथवा सीमित दृष्टिकोण इतिहास में आ जाय किन्तु जान-बूझकर व्यक्तिगत सीमाओं तथा आग्रहों को तथ्यों पर लादना कभी इतिहास का आदर्श नहीं रहा है। इसको प्रायः सभी ऐतिहासिक चिन्तक स्वीकार करते हैं। इतिहास का आधुनिक आदर्श क्या है और वैज्ञानिकता तथा काल्पनिकता का समन्वय उसमें किस रूप में घटित होता है इस सम्बन्ध में मैं कोहेन का एक वाक्य अननुवादित रूप में ही उद्धृत करना चाहूँगा :

"The ideal of an imaginative reconstruction of the past which is scientific in its determinations and artistic in its formulation is

---

१. The events of history are never mere phenomenon; never mere spectacles for contemplation, but things which the historian looks, not at, but through, to discern the thought within them. —Idea of History—page 214.

२. The case of history is here parallel to that of literature. A great novel or a great play is often said to teach us something about ourselves ; yet, as we have seen, we need to bring to it certain pre-existing beliefs about the nature of man. —page 70
—Introduction to Philosophy of History.

the ideal to which the greatest of historians have ever aspired."[१]
इतिहास के स्वरूप, उसके चिन्तन की आइडियलिस्ट और पॉजिटिविस्ट धाराओं तथा उसके आधुनिक आदर्श के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से हम कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचते हैं जिनका ज्ञान ऐतिहासिक उपन्यासों के मूल्यांकन के लिए अत्यावश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

पहला परिणाम तो यह है कि इतिहास पूर्णतया विज्ञान की कोटि में नहीं आता अतएव वैज्ञानिकता पर ही अतिशय आग्रह करना अनुचित और अनुपयुक्त है। दूसरा परिणाम यह कि इतिहास-मात्र घटना-संयोजन अथवा महापुरुषों की वीर-गाथा न होकर चिरन्तन मानवीय प्रकृति के सन्तुलन में मनुष्य के विगत सामाजिक जीवन के आन्तरिक सत्यों की खोज है। तीसरा परिणाम—जो उपन्यासकार के लिए विशेष महत्त्व रखता है और इतिहास को साहित्य की जाति तक खींच लाता है—यह है कि इतिहास-लेखन में आत्यन्तिक तटस्थता प्रायः असम्भव है अतएव कल्पना का प्रयोग यथासम्भव निर्लिप्त रहते हुए करना अश्रेयस्कर नहीं है वरन् आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा तथ्यों के बीच ऐतिहासिक सत्य की उपलब्धि हो सकती है और होती है।

इसके बाद यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि तब इतिहास और उपन्यास के बीच वह कौन-सी सीमा-रेखा है जहाँ से दोनों को पृथक् किया जाय। जहाँ तक अन्तिम लक्ष्य का प्रश्न है दोनों में कोई विशेष अनन्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि आज उपन्यास का ध्येय भी मात्र कल्पना-कुतूहल का विस्तार न होकर मानवीय जीवन के आन्तरिक सत्यों की खोज ही है। सभी साहित्य उसी दिशा में गतिशील हो रहा है। किन्तु इतिहास और उपन्यास के मार्गों और मर्यादाओं में पर्याप्त अन्तर है। इतिहास सत्य की खोज करते हुए भी स्वभाव से तथ्योन्मुख एवं तथ्यापेक्षी और इसीलिए नीरस बना रहता है जब कि उपन्यास मानवीय सत्य की सरस उपलब्धि और स्थापना में तथ्यों की उपेक्षा भी कर सकता है। तथ्य उसके लिए बन्धन नहीं बनते, पोषक अवश्य होते हैं। वह तथ्यों को कल्पित भी कर सकता है किन्तु इतिहासकार के लिए यह अक्षम्य है। नये तथ्यों के ज्ञात होने से इतिहास झूठा पड़ सकता है किन्तु उपन्यास, यदि वह वास्तव में शक्तिशाली रचना बन सका है तो कदापि महत्त्वहीन नहीं होता। इतिहासकार केवल द्रष्टा है, उपन्यासकार द्रष्टा और स्रष्टा दोनों। अपने व्यक्तित्व को आरोपित करने का अधिकार, स्रष्टा का मौलिक स्वत्त्व है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय भी इस अधिकार से उसे वंचित नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि इतिहास की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना उसका पवित्र कर्तव्य बन जाता है जिसको वह त्याग नहीं सकता।

ऐतिहासिक उपन्यास, कला की दृष्टि से अतिरिक्त दायित्व की अपेक्षा रखता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग ने अपने प्रथम चरण से ही कथा-साहित्य को यथार्थ की ओर और इतिहास को वैज्ञानिकता की ओर मोड़ना प्रारम्भ कर दिया था। इतिहास को वैज्ञानिक बनाना उसकी बहुत बड़ी देन है किन्तु इससे भी बड़ी देन है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण जिसके विकास ने पुरातन रूढ़ियों और अन्ध आस्थाओं का प्रायः उन्मूलन ही कर दिया। ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि ने विगत जीवन को ऐतिहासिक परिप्रेक्षण (historical perspective) में देखने की प्रेरणा दी जिससे बहुत-सी महत्त्वहीन घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हो उठीं और उनमें नये-नये अर्थों की उपलब्धि होने लगी,

१. The meaning of Human History by Cohen—page 34.

साथ ही बहुत-सी प्रभावोत्पादक एवं अर्थपूर्ण घटनाएँ निस्सार प्रतीत होने लगीं। उनका अर्थ खो गया और प्रभाव समाप्त हो गया। ऐतिहासिक मूल्यों के इस नूतन निर्धारण ने ऐतिहासिक उपन्यासकार के उस अतिरिक्त दायित्व की भूमिका प्रस्तुत की जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उपन्यासकार का कार्य दोहरा हो गया। एक ओर उसे ऐतिहासिकता की रक्षा और अपने कथन को सशक्त बनाने के लिए अतीत के गर्भ से अपरिचित अथवा विशिष्ट तथ्यों, घटनाओं, पात्रों और शब्दों को प्रमाण-रूप में खोज-खोजकर जुटाने की आवश्यकता होने लगी। दूसरी ओर इस सबके साथ कथावस्तु की परिकल्पना, पात्रों में प्राण-प्रतिष्ठा, सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण के सजीव संघटन आदि की समस्या गहन और जटिल होकर सामने आने लगी। कला की दृष्टि से यथार्थवादी उपन्यास के दायित्व और ऐतिहासिक उपन्यास के दायित्व में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वर्तमान यथार्थ का आभास और ऐतिहासिकता—जिसे एक प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थ कहा जा सकता है—का आभास उत्पन्न करने की कलात्मक विधि प्रायः एक ही है। केवल ऐतिहासिक तथ्यों के संयोजन और संगटन में अधिक कठिनाई पड़ती है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष अनुभूति से दूर पड़ जाते हैं और कल्पना को उन तक ले जाने में विशेष मानसिक श्रम अपेक्षित होता है। जिन कलाकारों की वृत्ति सहज रूप में इतिहास में रमी रहती है, जिनकी कल्पना अतीत युग का परिभ्रमण करने में विशेष रस अनुभव करती है, वास्तव में वे ही जीवन्त ऐतिहासिक कथाओं के निर्माण में सफलता प्राप्त करते हैं। ऐतिहासिकता में कल्पना का प्रवेश एक प्रकार का 'प्रत्यभिज्ञान' है, जिसमें भावुकता का अंश कहीं-न-कहीं अवश्य रहता है। इस 'प्रत्यभिज्ञान' के जग जाने पर कलाकार के आत्म-परितोष के लिए तथा कृतित्व की नई उपलब्धि के लिए अनन्त द्वार खुल जाते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए आज इतिहास प्रतीकात्मक महत्त्व (symbolic significance) की वस्तु बन गया है। प्राचीनता के मोह के अतिरिक्त भी कुछ ऐसा है जो उसे अतीत की ओर ले जाता है। मुख्यतया निम्नलिखित भावनाओं से प्रेरित होकर कथाकार इतिहास की ओर प्रवृत्त होते हैं—

१. वर्तमान से पराजित अथवा असन्तुष्ट होने के फलस्वरूप पलायन की भावना।

२. अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण समझते हुए उसके पुनर्संस्थापन की भावना।

३. वर्तमान को शक्तिशाली बनाने के लिए अतीत से उपजीव्य खोजने की भावना।

४. कतिपय ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति न्याय की भावना।

५. इतिहास-रस में लिप्त रहने की सहज भावना।

६. जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम आदर्श-स्थापन तथा वीर-पूजा की भावना।

७. जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना।

इन भावनाओं में से कोई एक या कई संयुक्त होकर प्रमुख अथवा गौण रूप से प्रेरणा देते हुए ऐतिहासिक उपन्यास का बीज प्रस्तुत कर सकती हैं।

भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समानान्तर हुआ। फलतः उनमें अतीत की गौरव-गाथा, विगत वैभव का भावुक चित्रण तथा देश पर बलिदान हो जाने और प्राण देकर भी आत्म-सम्मान की रक्षा करने का भाव प्रधान रूप से मिलता है। इसे पलायन नहीं कहा जा सकता। विदेशी इतिहासकारों ने

भारतीय इतिहास को, ऊपर से तटस्थता का भाव प्रदर्शित करते हुए भी, पर्याप्त रूप में विकृत करके सामने रखा जिसके पीछे भारतीय शौर्य, सभ्यता और संस्कृति को अपने आगे हीनतर सिद्ध करने की भावना छिपी थी। कुछ मनस्वी उपन्यासकारों के हृदय में यह बात चुभ गई और उन्होंने इसका सशक्त प्रतिवाद किया। 'जय सोमनाथ' और 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' इसी मनोभावना से लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। मुन्शी पर ड्यूमा और वाल्टर स्कॉट का बहुत गहरा प्रभाव है और वृन्दावनलाल वर्मा भी इनसे कम प्रभावित नहीं हुए हैं। अपने-अपने प्रदेश गुजरात और बुन्देलखण्ड को दोनों ने उसी उत्साह और भावुकता से गौरवान्वित करने का प्रयास किया है जैसे स्कॉट ने स्कॉटलैण्ड को; किन्तु मुन्शी में रोमांस-प्रियता अधिक है और उसमें साहसिकता का कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक मिश्रण मिलता है। 'लोपामुद्रा' और 'परशुराम'-जैसी कृतियों में वे वीर-पूजा से आर्य-पूजा और मध्यकाल से वैदिक काल की ओर मुड़े हैं। कुछ अंशों में प्राचीन की पुनर्संस्थापना का भाव भी उनकी कृतियों का आधार प्रतीत होता है। वर्मा जी को पौराणिक उपाख्यानों की अपेक्षा लोक-कथाओं ने विशेष आकर्षित किया। इस थोड़े-से अन्तर को छोड़कर व्यापक रूप से दोनों का उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक गौरव और जातीय शौर्य की प्रतिष्ठा करता रहा है। राष्ट्रीयता और आत्म-बलिदान की भावना जितनी तीव्र होकर बंकिमचन्द्र के 'आनन्द मठ'-जैसे उपन्यास में व्यक्त हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। बंगाल के अन्य यशस्वी उपन्यासकार राखालदास की कृतियों में सांस्कृतिक चेतना अधिक उभरकर व्यक्त हुई है। हरिनारायण आप्टे ने महाराष्ट्र में और लक्ष्मी नरसिंहम् ने दक्षिण में राष्ट्रीय जागरण को शक्ति देने वाले ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन किया। अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास मध्यकालीन वातावरण में ही लिखे गए हैं और उस काल की समस्याओं का निरूपण भी लगभग समान दृष्टिकोण से किया गया है। इधर कतिपय उपन्यास साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रेरित होकर विशिष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी लिखे गए हैं जिनमें वर्तमान विचार-धारा को पोषित करने के लिए अतीत का आश्रय लिया गया है। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम की सफलता और उसके बाद गणतान्त्रिक शासन की स्थापना के साथ-साथ कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गए जिनमें प्राचीन भारत के गणराज्यों की गौरव-गाथा अंकित मिलती है। 'जय यौधेय', 'वैशाली-की नगर वधू' तथा 'मुर्दों का टीला' इन तीनों उपन्यासों में गणतन्त्रात्मक राज्य-विधान की समस्याओं को प्रकारान्तर से उठाया गया है और प्रजातन्त्र की परम्परा को अतीत के गौरव से अभिषिक्त किया गया है। जीवन की किसी सर्वथा नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कदाचित् ही कोई उपन्यास लिखा गया हो। मध्यकाल के प्रति सहज साहित्यिक आकर्षण से प्रेरित उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अवश्य उपलब्ध होता है, जो प्रायः उपेक्षित रहते हुए भी भारतीय ऐतिहासिक उपन्यासों की विशाल परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसका वास्तविक सौन्दर्य, कथा की सत्यता प्रमाणित करने के साहित्यिक छल और कथा-नायक के प्रति लेखक की आत्मीयता में निहित है। ऐतिहासिक उपन्यास के आदर्शों, मर्यादाओं तथा उसमें कल्पना और इतिहास के प्रयोग के सम्बन्ध में हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों की कुछ अपनी धारणाएँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

वृन्दावनलाल वर्मा, जो हिन्दी के सर्वप्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, मानते हैं कि इतिहास लिखते समय लेखकों का "अपना-अपना दृष्टिकोण कुछ-न-कुछ काम तो करता ही रहता

है। इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है, परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है।······"

वे किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास की सार्थकता इसमें समझते हैं कि उसके द्वारा 'पाठक को और लेखक के समाज को, कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिए।' 'जनमत में दिव्यता लाने वाले संवेग' को उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है जिसके लिए 'इतिहास के तथ्य' और 'जन-परम्पराओं में उन तथ्यों के प्रति श्रद्धा' उसके साधन हैं। इतिहास की व्याख्या से वर्माजी का अभिप्राय है 'सत्सिद्धान्त का संस्थापन', 'राक्षस की हार और देवता की विजय के द्वारा सृष्टि की विकासोन्मुखता का प्रदर्शन' तथा इस प्रकार व्यक्ति के भीतर भरे पुरुषार्थ का जागरण।' इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उपन्यासकार इतिहास को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष करता है जिसके सम्बन्ध में उसकी मर्यादा को उन्होंने निम्नलिखित रूप में निरूपित किया है :

"जिन स्थलों पर इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके, उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वही चमक-दमक आ जाती है जो इतिहास के जाने-माने तथ्यों में अवश्यमेव होती है, पर है यह कि उन तथ्यों या परम्पराओं को ताश के पत्तों का महल या कलमघर न बना दिया जाय।"[1]

'वैशाली की नगरवधू' के रचयिता आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपनी रचना के उत्तरार्ध के अन्त में विस्तार से अपना मत व्यक्त किया है। शास्त्रीजी ने वृन्दावनलाल वर्मा को 'इतिहास-सत्य' व्यक्त करने वाला कहते हुए अपने को 'इतिहास रस' का स्रष्टा घोषित किया है जिसे वे दसवाँ साहित्यिक रस मानते हैं। इतिहास के 'विशेष सत्य' को साहित्य के 'चिर सत्य' से भिन्न करते हुए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऐतिहासिक उपन्यास आवश्यकता पड़ने पर जान-बूझ-कर इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि एक तो उनका पूर्णज्ञान सम्भव नहीं; दूसरे उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना न होकर तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।[2]

अपने 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में रांगेय राघव ने ऐतिहासिक परिप्रेक्षण, तटस्थता और वैज्ञानिकता का पक्ष लेते हुए हिन्दी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों पर तीव्र कटाक्ष किया है—

"मिश्र और एलाम, सुमेरु और मोहेंजोदड़ो के दार्शनिक तत्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है। उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही उस सबका वर्णन किया जाय।····आजकल हिन्दी में ऐसे बहुत-से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं। खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की-सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के दार्शनिकों की-सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, न द्वन्द्वात्मक—ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने-आपको पात्र

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा के उपर्युक्त 'विचार परिसल-परिसम्वाद' में पठित 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत; जो बाद में 'नये पत्ते' के जनवरी-फरवरी '५२ के अंक में प्रकाशित हुआ है।

२. 'वैशाली की नगरवधू' भूमि—पृष्ठ ७९२-७९४ तथा ७९६।

बनाकर किये-कराये पर पानी फेर देना। श्री भगवतशरण उपाध्याय एक-मात्र ऐसे लेखक हैं जिनमें यह दोष नहीं है। मुझे उनसे काफी सहायता मिली है किन्तु उनमें पौराणिकता काफी है।"

रांगेय राघव के इस लम्बे उद्धरण को यहाँ अवतरित करने का एक विशेष अभिप्राय है, और वह यह कि इससे एक ही विचार-धारा को अपनाकर चलने वाले कलाकारों की मान्यताओं, साहित्यिक मूल्यों तथा दृष्टिकोणों का भेद पूर्णतया प्रकट हो जाता है। भगवतशरण उपाध्याय के स्पष्ट उल्लेख के बाद यह विदित हो जाता है कि रांगेय राघव का सीधा प्रहार यशपाल की 'दिव्या' और राहुल के 'जय यौधेय' तथा 'मधुर स्वप्न' आदि पर है। यशपाल और राहुल दोनों ने ही आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को अपने उपन्यासों में समाहित किया है। राहुल के उपन्यासों में तो यह प्रवृत्ति अपनी सीमा पर पहुँच गई है और जागरूक पाठक को परिहासास्पद प्रतीत होने लगती है। 'जय यौधेय' के प्रारम्भ में यद्यपि उन्होंने कहा तो यही है कि "उपन्यास के शरीर में ऐतिहासिक सामग्री ने अस्थि-पंजर का काम किया है और मांस मैंने अपनी कल्पना से पूरा किया है।" परन्तु 'जय यौधेय' की यह जीवनी लेखक के यात्रा-विवरणों, ऐतिहासिक ज्ञान तथा सम्मिलित-सम्पत्ति एवं सम्मिलित-पत्नी-सम्बन्धी निजी धारणाओं का समुच्चय-मात्र बनकर रह गई है; क्योंकि अस्थि और मांस के अतिरिक्त प्राण की आवश्यकता भी शरीर को सजीव बनाने में होती है और इस ओर लेखक का ध्यान नहीं गया। 'मधुर स्वप्न' का अन्दर्जगर और उसका 'दिह्‌बगान' भी लेखक की व्यक्तिगत धारणाओं का ही प्रतिबिम्ब लगता है, यद्यपि प्रामाणिकता के लिए भारी-भरकम ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने की चेष्टा की गई है। यह असंगति उतनी ही विचित्र लगती है जितनी कि प्राचीनता का आभास देने के उद्देश्य से लाये गए प्राकृत शब्दों 'सही' (सखी) आदि के बीच में कथा के नायक का यह कहना कि 'राष्ट्रपाल का पार्ट मुझे लेना पड़ा।' 'सही' और 'पार्ट' के बीच जितनी दूरी है, 'जय यौधेय' और मार्क्स के आदर्शों के बीच भी उससे कम व्यवधान नहीं है। ऐतिहासिक परिप्रेक्षण के अभाव का यह ज्वलन्त उदाहरण है, जिससे ऐतिहासिक कथा-कृति प्रभावहीन लगने लगती है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के वैशाली के महायुद्ध-वर्णन से आधुनिक रासायनिक एवं कृमि-युद्ध (Chemical germ warfare) और रथ-मुशल-महाशिलाकण्टक-जैसे रथों, अस्त्रों, विविध प्रकार के टैंकों का आभास उत्पन्न होता है। प्राचीन वैद्यक-शास्त्र और भगवती-सूत्र का प्रमाण देकर लेखक अपने को इसके दायित्व से मुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसने जान-बूझकर ऐसा आभास देना चाहा है जिससे कि वह आधुनिक युद्ध की समस्याओं पर प्रकारान्तर से अपना मत दे सके। आचार्य शाम्बव्य काश्यप और सोमप्रभ के कथोपकथन का बहुत-सा भाग इसी प्रश्न के समाधान में व्यय हुआ है। सोम के यह कहने पर कि 'ये युद्ध मानवता के प्रतीक नहीं पशुता के प्रतीक हैं।' काश्यप जो उत्तर देते हैं वह दर्शनीय है :

"इन कांच कूप्यकों के रसायन को छूकर, खाकर, देखकर मनुष्य और जनपद अन्धा, बहरा, उन्मत्त, नपुंसक, मूर्च्छित और मृतक हो जाता है। यह भी वही है वत्स, उसमें (धर्म-युद्ध में) शौर्य चाहिए इसमें (रासायनिक युद्ध में) बुद्धि-कौशल। राजतन्त्र की धवल अट्टालिकाएँ और राजमहलों के मोहक वैभव ऐसे ही कदर्य कार्यों से प्राप्त होते हैं।"

नये-नये पात्रों के बोझ से दबी 'वैशाली की नगरवधू' में आचार्य काश्यप की अवतारणा बहुत-कुछ रासायनिक युद्ध के इस समस्या-गर्भित रूप को लाने के लिए ही हुई हो ऐसा प्रतीत

होने लगता है। लेखक ने जिस वस्तु को अपने कृतित्व और कला-कौशल का एक प्रमुख स्थल बनाना चाहा वह मात्र कृत्रिमता का सूचक होकर रह गया। वर्तमान समस्याओं का उत्तर वर्तमान में न खोजकर उन्हें हजारों वर्ष पीछे खींच ले जाकर उत्तर देने का प्रलोभन ऐतिहासिक उपन्यासकार की प्रतिष्ठा के लिए कभी-कभी इसी तरह खतरनाक हो उठता है। ऐसे बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु यहाँ एक ही पर्याप्त है। इसी तरह का एक दूसरा प्रलोभन और इसी उपन्यास में मिलता है और वह है 'कथानक से पृथक् किसी निगूढ़ तत्त्व' की व्यञ्जना। उपन्यासकार के अथक प्रयास और दस वर्ष के सतत श्रम के प्रति पाठक ज्यों ही श्रद्धावनत होने को होता है, कि उसकी आँखों के आगे यह आता है—वह भी उपन्यासकार के ही शब्दों में—"हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए प्रत्येक शिक्षित भारतीय को (वैशाली की नगरवधू) दस-बीस बार पढ़ना चाहिए''''उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफसरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।" पाठक बेचारा अवाक् रह जाता है। वह सोचने लगता है क्या यह लेखक का वही प्रातिभ ज्ञान है जिसके द्वारा उसने अम्बपाली का दिव्य नृत्य देखा, उदयन की तीन ग्रामों में एक साथ बजने वाली वीणा सुनी और वासुदेव, महावीर, बुद्ध आदि महा विभूतियों के एक साथ दर्शन किये। ऐतिहासिक उपन्यासकार होकर भी शास्त्री जी पात्रों की काल-परिधि की परवाह करना अनावश्यक समझते हैं। वे परकाय प्रवेश की 'कपोल-कल्पना' मानते हुए भी स्थान देते हैं। वास्तव में उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक, बहुत उदार तथा बहुत महान् है। इतिहास-रस के व्याख्याता को इतिहास के रसाभासों से भी परिचित रहना चाहिए था। ऐतिहासिक उपन्यासकार की ऐसी सीमाहीन स्वतन्त्रता को मैं अक्षम्य समझता हूँ। रांगेय राघव का दृष्टिकोण व्यक्तिगत रूप से मुझे अधिक संयत और मोहेंजोदड़ो की सभ्यता को अपेक्षाकृत तटस्थ-भाव से देखने का संकल्प अधिक श्लाघनीय प्रतीत हुआ। उनका 'दास' दासों की-सी बात करता है या नहीं इसके आत्यन्तिक निर्णय के साधन तो किसी के पास उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उस समय की लिपि तक अभी पढ़ी नहीं जा सकी है, किन्तु जो विचार आधुनिक हैं उनसे हमारा परिचय अवश्य है। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह आधुनिक जीवन-दर्शन, तर्क-शैली तथा विचार-प्रवाह से प्रायः मुक्त है और आदिम-समाज के संस्कार उसमें परिलक्षित होते हैं। कहीं भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक जीवन की समस्याओं को आरोपित करने का कौशल नहीं दिखाया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी ऐतिहासिक असंगतियों का प्रभाव मिलता है। उन्होंने सजग होकर एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के दायित्व को निबाहने का सफल प्रयत्न किया है। इस आग्रह में कहीं-कहीं उनका इतिहासकार उपन्यासकार की अपेक्षा प्रधान हो उठा है जैसे 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' में। 'मृगनयनी' में भी कुछ स्थलों पर यही प्रवृत्ति उभरी है परन्तु सामान्यतया संतुलन नष्ट नहीं होने पाया है। 'विराटा की पद्मिनी' में इतिहास है ही नहीं, केवल वातावरण से ऐतिहासिकता का आभास मिलता है। ऐसे उपन्यासों को कहाँ तक ऐतिहासिक माना जाय यह एक समस्या है। ऐसे तो भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' भी ऐतिहासिक वातावरण लेकर ही लिखा गया है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की व्यापकता में उक्त सभी रूप आ जाते हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ वातावरण की सजीव कल्पना के

साथ ऐतिह्य और लोक-तत्त्व का सहज सामञ्जस्य हो सका है वहाँ उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। इस दृष्टि से उनका 'कचनार' मुझे विशेष प्रिय रहा है। 'गढ़कुण्डार' से 'टूटे काँटे' तक का उनका विकास एक विचित्र मानसिक दृढ़ता और आस्था का परिचायक है। ऐसी दृढ़ता ऐसी आस्था इस क्षेत्र के कम उपन्यासकारों में मिलती है।

इतिहास की गहन समस्याओं में हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने भले ही प्रवेश न किया हो किन्तु कई-एक ने अपने उत्तरदायित्व को पर्याप्त मात्रा में समझा है यह ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

डॉक्टर सम्पूर्णानन्द

वैज्ञानिक कथा-साहित्य

साहित्य-शास्त्री सम्भवतः 'वैज्ञानिक कहानी' (सायंस फ़िक्शन) की परिभाषा दे सकते होंगे परन्तु मेरे लिए तो यह दुष्कर कार्य होगा। दूसरी यूरोपियन भाषाओं को तो जानता नहीं परन्तु अँग्रेज़ी में इस प्रकार की जितनी ख्यातनामा पुस्तकें हैं प्रायः उन सबको देख गया हूँ, नई रचनाओं को भी बराबर देखता रहता हूँ। इस पढ़ने के पश्चात् ही मैं परिभाषा की दुष्करता का अनुभव करने लगा हूँ। वैज्ञानिक कहानी में कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकार विज्ञान का समावेश होना चाहिए, अन्यथा नाम सार्थक न होगा, परन्तु विज्ञान व्यापक शब्द है। गरमी में सुराही के पानी का ठण्डा होना भी 'विज्ञान' है और परमाणु-बम का विस्फोट भी। इन उदाहरणों के बीच में सहस्रों प्रकार के वैज्ञानिक दृग्विषय हैं जिनका उपयोग कथानक में किया जा सकता है। परन्तु इतना व्यापक अर्थ लेने से तो प्रायेण सभी उपन्यास और गल्प वैज्ञानिक कहानी की कोटि में आ जायँगे ऐसा मानना तो किसी को अभीष्ट नहीं है। जहाँ एक ओर विज्ञान पर शास्त्रीय प्रवचन करना वैज्ञानिक कहानी का उद्देश्य नहीं है वहीं यह भी जान लेना चाहिए कि दैनिक जीवन की वैज्ञानिक घटनाओं के समावेश-मात्र से कोई कहानी वैज्ञानिक कहानी नहीं बन जाती। किसी कहानी में ऐसी आश्चर्यजनक बातों का उल्लेख होना, जिनके लिए उस समय के विज्ञान-भण्डार से आधार न मिलता हो उस कहानी को कोरी कल्पना बना देता है। वस्तुतः क्या असम्भव है यह कहना बहुत कठिन है, परन्तु किसी काल-विशेष में उन्हीं बातों को सम्भव कहना चाहिए जो उस काल के वैज्ञानिकों के अनुभव से बहुत दूर न हों, इतनी दूर न हों कि वैज्ञानिकों ने उनके सम्बन्ध में सोचना भी आरम्भ न किया हो। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में बा० देवकीनन्दन खत्री ने जिस प्रकार के तिलिस्मों और तिलिस्मी हथियारों की चर्चा की है वह उस समय नहीं बन सकते थे जब तिलिस्मों का निर्माण हुआ था। देवकीनन्दन जी के समय में भी कहीं उनका अस्तित्व नहीं था और आज भी ऐसी चीज़ों के निर्माण की ओर किसी का ध्यान नहीं है। इससे भी बड़ी बात यह है कि देवकीनन्दन जी ने अपने उपन्यासों में वैज्ञानिक ढंग की बातों का उसी प्रकार और उसी दृष्टि से उपयोग किया है जो रसोत्पादन के इच्छुक कवि के सामने उद्दीपन विभाव से काम लेते समय रहती हैं। मुख्य वस्तु तो आलम्बन है। तिलिस्म, तिलिस्मी खंजर, तिलिस्मी पुतले— यह सब निकाल दिए जायँ तब भी अमुक कुमार का अमुक कुमारी से विवाह हो जाता, छिपा धन हाथ लग जाता और भूतनाथ की ऐयारी अपना काम कर जाती। जूल्स वर्न्स की पुस्तकें भिन्न प्रकार की हैं। वह जिस समय लिखी गईं उस समय यूरोप में विज्ञान का विकास हो रहा था और वैज्ञानिक तथ्यों को व्यापार और युद्ध में अधिकाधिक लगाने की ओर लोगों का ध्यान गया हुआ था। कई शोधों का व्यावहारिक उपयोग नहीं हुआ

था, परन्तु भावी उपयोग की आभा कुछ-कुछ दीख पड़ रही थी। निश्चय ही वर्न्स ने कल्पना से काम लिया परन्तु वह निर्बाध और निराधार नहीं थी। इसीलिए वह फलीभूत भी हुई। पनडुब्बी (सब-मैरीन) बनने पर वर्न्स की कहानी 'ट्वण्टी थाउजेण्ड लीग्स अण्डर दि सी' की याद आना स्वाभाविक था। विज्ञानांश निकाल देने पर कथानक प्रायः बच भी नहीं रहता। अतः इन रचनाओं को वैज्ञानिक कहानियों की कोटि में रखना ही होगा।

कभी-कभी वैज्ञानिक के चित्त में कोई शंका उत्पन्न हो उठती है, कोई स्वप्न स्फुरित हो उठता है। वह उस शंका और स्वप्न को शब्दों में व्यक्त करने का भी साहस नहीं करता; ऐसी बातों को बुद्धि की अनर्गल दौड़ समझता है परन्तु ऐसे झीने आधार पर भी कहानी लिखी जा सकती है और लोगों के कुतूहल को बढ़ा सकती है। उदाहरण के लिए, कानन-डायल की 'दि ग्रेट काइनप्लाट्ज एक्सपेरिमेण्ट' और वेल्स के 'दि टाइम मशीन' नाम की कहानियों को देखिये। डायल की कहानी में दो व्यक्ति थोड़ी देर के लिए अपने चित्त (या लिंग शरीर ?) आपस में बदल लेते हैं और वेल्स के पात्र एक यन्त्र पर चढ़कर भविष्यत् काल की सैर करते हैं। कोई वैज्ञानिक अपने मुँह से यह नहीं कहेगा कि ऐसी बातें सम्भव हैं, परन्तु इन कहानियों के मूल में मनुष्य की कुछ प्रबल सहज मनोवृत्तियाँ हैं। मनुष्य यह जानना चाहता है कि क्या शरीर से पृथक् चेतना की सत्ता है ? इस प्रश्न का उत्तर धर्म और दर्शन से तो मिलता है, परन्तु यह आशा होने लगी है कि स्यात् विज्ञान की सहायता से प्रयोगमूलक अकाट्य उत्तर मिल सके। दूसरी प्रवृत्ति काल के आवरण को छेदने की है। इसी प्रेरणा से फलित ज्योतिष का आश्रय लिया जाता है। यह आशा व्यक्त की जाने लगी है कि स्यात् विज्ञान कोई सुलभ उपाय निकाल सके। ऐसी कहानियों में विज्ञान की छाया-मात्र उपलब्ध होती है। उन कहानियों में भी, जिनको अन्य कारणों से वैज्ञानिक कहानी कहना उचित प्रतीत होता है; बहुधा ऐसी बातें मिलती हैं जिनको विज्ञान नहीं विज्ञानाभास ही कह सकते हैं। एक दिन आकाश में उड़ना सम्भव होगा, यह बात विज्ञान-सम्मत है। चन्द्रमा तक तो बीस-पच्चीस वर्षों में पहुँच जाना सुकर प्रतीत होने लगा है, परन्तु आकाश-यात्रा हँसी-खेल नहीं है। अभी तो कोई ऐसा ईंधन ही नहीं निकला जो विश्वसनीय हो, सुलभ हो, सस्ता और हल्का हो। मनुष्य का शरीर पृथ्वी और दूसरे ग्रहों के आकर्षण-क्षेत्रों के बाहर जाते और भीतर प्रवेश करते समय के तनाव को कहाँ तक सह सकेगा और दीर्घ काल तक आकाश-भ्रमण से कोई नये शारीरिक या मानस-रोग तो नहीं उत्पन्न होंगे यह भी प्रायः अज्ञात है। जिन आकाश-प्रान्तों के भ्रमण की चर्चा कहानियों में की जाती है वह लाखों ज्योतिर्वर्ष दूर हैं। एक वर्ष में प्रकाश जितनी दूर चलता है उसे ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। एक ज्योतिर्वर्ष ५८,६५,६६,६०,००,००० मील होता है। आज सुपरसोनिक, अतिध्वनि गति से कुछ हवाई जहाज चलने लगे हैं। अतिध्वनि का अर्थ हुआ शब्द से द्रुततर गति अर्थात् लगभग ७५० मील प्रति घण्टा से अधिक वेग। ऐसे हवाई जहाज को एक ज्योतिर्वर्ष की दूरी पार करने में लगभग डेढ़ लाख वर्ष लग जायँगे। यदि निकट भविष्य में आकाश-यान बने भी तो उनकी गति क्या होगी यह नहीं कहा जा सकता; परन्तु यदि उसे ५०,००० मील प्रति सेकण्ड मान लें तो भी एक ज्योतिर्वर्ष पार करने में लगभग ४ वर्ष लगेंगे। इस गणना से निकटतम तारे के पास जाकर लौटने के लिए ५० वर्ष चाहिएँ, परन्तु कहानियों में ऐसी यात्राएँ महीनों में समाप्त कराई जाती हैं। मैंने अपनी पुस्तक में जिस यात्रा को सात वर्षों में समाप्त कराया है उसमें ५०,००० मील प्रति सेकण्ड की गति से

भी कई पीढ़ियाँ लग जानी चाहिएँ थीं। अच्छे कहानीकार इस वैज्ञानिक कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं हैं। पीढ़ियों तक फैलाने से कहानी की रोचकता समाप्त हो जायगी, परन्तु दूरी की सत्ता से आँख नहीं मोड़ी जा सकती। यहीं पर विज्ञानाभास से काम लिया जाता है। बहुधा कहानियों में 'स्पेस ड्राइव' की चर्चा होती है। साधारणतः हमारे अनुभव में दिक् की तीन दिशाएँ—आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे आती हैं, परन्तु ऐसा माना जाने लगा है कि दिक् की एक चौथी दिशा भी है, सम्भवतः चार से भी अधिक दिशाएँ हों। चौथी दिशा में यदि किसी प्रकार प्रवेश किया जा सके तो साधारण लोगों के लिए तो अन्तर्धान होने का चमत्कार होगा, परन्तु तीन दिशाओं वाली यात्रा की बहुत-सी अड़चनें दूर हो जायँगी। यह बात उदाहरण से समझी जा सकती है। यदि किसी कीड़े को, जो केवल सीधा चलना जानता है, काशी से ल्हासा जाना हो तो उसे न जाने कितने नदी-नाले और पहाड़ पार करने होंगे और रेंगकर चलने वाले की यह यात्रा बड़ी लम्बी होगी। परन्तु जो वायुयान में उड़ सकता है, अर्थात् जो दिक् की ऊपर-नीचे वाली तीसरी दिशा में चल सकता है वह उड़कर बात-की-बात में वहाँ पहुँच जायगा। कुछ ऐसा समझा जाता है कि इसी प्रकार चतुर्थ दिशा में यात्रा करके लम्बी दूरियाँ अल्पकाल में पार की जा सकती हैं। ऐसी ही, परन्तु इससे कुछ क्लिष्ट कल्पना, काल के सम्बन्ध में भी की जा सकती है। ऐसी धारणाओं के लिए वैज्ञानिक आधार तो है, पर वह बहुत पुष्ट नहीं है। वास्तविक वैज्ञानिक इतनी दूर तक सोचने का साहस नहीं करता। इसीलिए कहता हूँ कि इन कहानियों की तह में विज्ञानाभास है।

वैज्ञानिक कहानी लिखने वाले के सामने कई उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो वह सरल और रुचिकर भाषा में विज्ञान के नये आविष्कारों का ज्ञान देना चाहता है। जिस प्रकार कविता में कान्ता-सम्मित-शैली से नीति और धर्म का उपदेश किया जाता है उसी प्रकार कथा-छल से नई खोजों का परिचय प्राप्त कराया जाता है। कथा तो बहाना-मात्र है, उससे कोरे वैज्ञानिक वर्णन का रूखापन दूर हो जाता है। दूसरा उद्देश्य इससे आगे जाता है। इस समय खोज की जो स्थिति है और जिस प्रकार प्रगति हो रही है उससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि अगले पच्चीस या पचास वर्षों में हमारा ज्ञान कहाँ तक पहुँचेगा और उसका किस प्रकार उपयोग किया जायगा। कहानीकार इस अनुमित प्रगति को आधार बना सकता है। कभी-कभी अनुमान को सहस्र-दो-सहस्र वर्ष आगे खींच लाया जाता है। यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल से जितनी ही दूर की बात सोची जायगी उतना ही अनुमान अनिश्चित होगा और कल्पना का आधार ज्ञाना-भास से भी झीना होगा। अतीत या अनागत काल में न जाकर वर्तमान काल के सम्बन्ध में भी बहुत-सी ऐसी बातों का वर्णन होता है जिनका आधार बहुत ही पतला है। कहानियों में करोड़ों कोस दूरस्थित ग्रहों के जीवों की चर्चा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि यह भी निश्चित नहीं है कि हमारे सौर-परिवार के दूसरे ग्रहों-मंगल, शुक्र, गुरु आदि पर किसी प्रकार के प्राणी हैं या नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि यदि उन पर प्राणी हैं तो वह पार्थिव प्राणियों से भिन्न हैं, क्योंकि उन ग्रहों पर साँस लेने के लिए आक्सिजन नहीं है। बिना आक्सिजन के जीने वाले कैसे होते होंगे इसका हमको न अनुभव है, न अनुमान की सामग्री। करोड़ों कोस पर जो दूसरे सूर्य हैं उनके साथ ग्रह हैं, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि हमारे सूर्य में कोई विलक्षणता तो है नहीं, अन्यत्र भी कुछ ग्रह होंगे ही। विवश

होकर उन पर आक्सिजन की कल्पना करनी पड़ती है। इतना करने के बाद जीवों के जो आकार सोचे जाते हैं वह पार्थिव प्राणियों से बहुत भिन्न नहीं होते। दो की जगह हाथ-पाँव की संख्या कुछ बढ़ा दी जाय, आँख-कान के रंग-रूप में कुछ अन्तर कर दिया जाय, आकार कुछ घटा-बढ़ा दिया जाय परन्तु घूम-फिरकर पार्थिव प्राणियों की अनुकृतियाँ ही स्थापित की जा सकी हैं। चेतना की व्यापकता को विज्ञान स्वीकार करता है। यह भी माना जा सकता है कि जिस प्रकार पृथ्वी पर चेतना वनस्पतियों में प्रसुप्तप्राय है, परन्तु पशु-पक्षियों में विकसित होकर बुद्धिरूप से प्रकट हुई है तथा मनुष्य में उसका पूर्ण प्रकाश दीख पड़ता है उसी प्रकार यह सम्भव है कि अन्यत्र उसका विकास वनस्पतियों में ही हो जाय, या पशुओं का कोई वर्ग-विशेष बुद्धिवल्लभ बन जाय। मनुष्य भी तो शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से एक प्रकार का पशु ही है। इस बात के सहारे मनुष्य से भिन्न बुद्धियुक्त जीवों की भी कल्पना की जाती है, परन्तु ऐसे जीवों से मनुष्यों का वार्तालाप-सम्बन्ध कराना कठिन प्रतीत होता है, इसलिए दूसरे पिण्डों पर भी मनुष्य से मिलते-जुलते जीवों को बसाने में ही कहानी-लेखक को सुगमता होती है।

साहित्य का एक उद्देश्य शिवेतरक्षति, अमंगल को दूर करना है। कभी-कभी इस उद्देश्य से भी वैज्ञानिक कहानियाँ लिखी जाती हैं। किसी दिशा-विशेष में विज्ञान की जैसी प्रगति इस समय हो रही है वह किसी लेखक को समाज के लिए भयावह प्रतीत हो सकती है। वह कल्पना के सहारे यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि एक दिन इस दिशा में बढ़ने का भयानक दुष्परिणाम हो सकता है। आज परमाणु-विघटन के जो प्रयोग हो रहे हैं उनसे एक दिन मानव-समाज का ही संहार हो सकता है। इस बात को लेकर कई कहानियाँ लिखी गई हैं। मेरी पुस्तक के 'सामूहिक आत्मघात' और 'रकासों का लोक' शीर्षक अध्याय इसके उदाहरण हैं। पहले में परमाणु-शक्ति के दुरुपयोग के परिणाम की चर्चा है, दूसरे में यह दिखलाने का यत्न किया गया है कि आजकल जो एलेक्ट्रानिक ब्रेन बनाए जा रहे हैं, ऐसे यन्त्र निकाले जा रहे हैं जो गणना करने तथा शब्द और प्रकाश तथा स्पर्श का अनुभव करने और इन अनुभवों का संकलन करके अनुकूल प्रतिक्रिया करने में मनुष्य से कई गुना अधिक सूक्ष्मग्राही तथा गतिशील हों। उसका विचित्र परिणाम हो सकता है। जिस यन्त्र को नाड़िजाल से भी सूक्ष्म काम करने वाले तारों से सजा दिया गया हो यदि चेतना नाम की अज्ञात-स्वरूपा वस्तु का आश्रय वह बन गया तो क्या होगा? यन्त्र में कुछ विशेष कामों के करने की क्षमता और प्रवृत्ति होगी परन्तु वह धर्म-बुद्धि नहीं हो सकती जो समाज के सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों का निष्कर्ष होती है। ऐसा यन्त्र भस्मासुर का काम कर सकता है : अपने स्रष्टा के संहार के लिए ही उद्यत हो सकता है।

इस थोड़े-से विवेचन से वैज्ञानिक कहानी-साहित्य के स्वरूप, लक्ष्य और वर्तमान परिस्थिति का कुछ परिचय तो हो गया होगा। मैंने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि ऐसी कहानी लिखने वाले के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और वह उनको किस प्रकार दूर करता है। इतना स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ऐसी कहानी लिखने के लिए उसीको कलम उठानी चाहिए जिसकी विज्ञान में अच्छी गति हो। उसे विज्ञानवेत्ता पहले होना चाहिए, कहानी-लेखक पीछे। जानकार को ही कल्पना करने का अधिकार है। चलती कहानी लिखकर उसमें जहाँ-तहाँ वैज्ञानिक पुट दे देना वैध नहीं है, कम-से-कम अच्छी वैज्ञानिक कहानियों के लेखक ऐसा नहीं करते।

मैंने बराबर 'कहानी' शब्द का प्रयोग किया है। मैं यह नहीं कह सकता कि यह अंग्रेजी

के 'फ़िक्शन' का यथार्थ पर्याय है या नहीं। 'फ़िक्शन' में उपन्यास के साथ-साथ उस प्रकार का कथा-साहित्य भी अन्तर्भूत है जिसको 'स्टोरी' कहते हैं। सम्भवतः कहानी का व्यवहार स्टोरी के अर्थ में ही होता है। अस्तु, मेरे ध्यान में बराबर 'स्टोरी'-साहित्य ही, उसे हिन्दी में गल्प या कहानी जो कुछ भी कहें, रहा है। इसका कारण यह है कि अभी सफल वैज्ञानिक उपन्यास लिखना असम्भव है। मेरी पुस्तक निकलने के बाद कई आलोचकों ने यह राय दी कि मुझे इसके बाद वैज्ञानिक उपन्यास लिखना चाहिए। मैं यही कह सकता हूँ कि उन्होंने इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार नहीं किया। अंग्रेजी में भी कोई सफल वैज्ञानिक उपन्यास नहीं है। ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें कई अध्याय हैं, अध्यायों की घटनाओं में पौर्वापर्य है; परन्तु इतने से ही उपन्यास नहीं बनता। वस्तुतः यह पुस्तकें विभिन्न घटनाओं के चित्रों के संग्रह हैं। प्रत्येक घटना दूसरे से पृथक् है। एच० जी० वेल्स ने एक रचना में मैंगलवालों से पृथ्वी पर आक्रमण कराया है। यहाँ घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध तो हैं, परन्तु समूची पुस्तक कल्पनामूलक इतिहास है, उपन्यास नहीं।

उपन्यास का नायक कई विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों में डाला जाता है और प्रत्येक अवस्था में उसकी भावनाओं और प्रवृत्तियों का निरूपण किया जाता है। पात्र के मनोभावों का अंकन, चरित्र का विकास, उपन्यास की विशेषता है। शास्त्रीय अध्ययन हो या न हो, परन्तु उपन्यास का सफल रचयिता मनोविज्ञान का मार्मिक ज्ञाता होता है। वैज्ञानिक उपन्यास के लेखक के मार्ग में दो कठिनाइयाँ हैं। यदि वह चरित्र-चित्रण को मुख्य स्थान देता है तो विज्ञान का स्थान गौण हो जायगा और वैज्ञानिक कथा-साहित्य के प्रधान उद्देश्य का परित्याग करना होगा। कुशल लेखक स्यात् इसको बचा ले जाय, क्योंकि उपन्यास का कलेवर विस्तीर्ण होता है परन्तु दूसरी कठिनाई अजेय है, कम-से-कम अब तक अजित है। उपन्यास के पात्र कौन हों, मनुष्य या कोई दूसरे प्राणी? यदि मनुष्य रखे जाते हैं तो ऐसा उपन्यास दूसरे उपन्यासों से किसी बात में भिन्न हुआ? प्रत्येक उपन्यास में अपने युग के अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से कुछ वैज्ञानिक वर्णन तो रहता ही है। आजकल के साधारण उपन्यासों में बिजली की बत्ती, वायुयान, परमाणु-विघटन की चर्चा रहती है, कुछ नये यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऐसा विषय थोड़ा और बढ़ा देने-मात्र से कोई नवीनता नहीं आती। कथानक का क्षेत्र पृथ्वी से उठाकर पचास करोड़ दूर के पिण्ड पर डाल देने से जब तक वही चिरपरिचित प्रणय, वात्सल्य, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ आदि चित्रित किये जाते हैं तब तक उपन्यास भिन्नवर्गीय नहीं कहला सकता, न वह नवीनतामूलक कुतूहल ही उत्पन्न कर सकता है।

इसका परिहार करने के लिए कुछ लोगों ने मनुष्य से भिन्न प्रकार के जीवों की कल्पना करके उनको पात्र बनाना चाहा पर इस जगह कठिनाई का पहाड़ सामने खड़ा हो जाता है। हमको मनुष्य के मनोविज्ञान का भी पूरा ज्ञान नहीं है, दूसरे जीवों का तो कहना ही क्या है? पशु-पक्षियों के व्यवहार में अपने साथ साम्य देखकर चित्तसाम्य का कुछ-कुछ अनुमान होता है पर इसकी भी सीमा है। बन्दर, मछली, मक्खी की बुद्धि के भीतर कौन प्रवेश कर सका है? क्या हमको बच्चों की मानस-क्रियाओं का पूरा ज्ञान है? जिनको पागल कहा जाता है उनके मस्तिष्क की गतिविधि को कौन पहचानता है? वस्तुतः भौतिक विज्ञान की अपेक्षा मनोविज्ञान में बहुत कम उन्नति हुई है। हमको मानव-चित्त का तो यत्किंचित् अनुभव है परन्तु उसके सिवाय हम कुछ नहीं जानते। यदि योगी तथा देव-देवी होते हों तो उनकी बुद्धि का विकास कैसा होता

होगा, यह हमारी समझ के बाहर की बातें हैं। चित्त की प्रवृत्ति जैसी होगी वैसी शारीरिक चेष्टा होगी। इस जगह हम पूर्णतया अशक्त हैं। विवश होकर अपने पात्रों से मनुष्य जैसा आचरण कराना पड़ता है। आकृति चाहे जैसी खींच दें परन्तु व्यवहार मनुष्यों-जैसा होता है, अतः उपन्यास सीधा-सादा पृथ्वी पर का मनुष्य-समाज से सम्बन्ध रखने वाला उपन्यास बन जाता है। कोई नवीनता नहीं होती। जब तक नये मनोविज्ञान की अवगति या कल्पना न हो तब तक अच्छे वैज्ञानिक उपन्यास नहीं बन सकते।

परन्तु कहानियों के लिए विशाल क्षेत्र है। भारत में तो ऐसे साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। इसके द्वारा शुद्ध विज्ञान में अभिरुचि उत्पन्न होगी और लोगों का साधारण ज्ञान बढ़ेगा। ऐसी रचनाओं को प्रोत्साहन देना प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी है।

नरोत्तम नागर

फुटपाथ के उपन्यास

: १ :

फुटपाथ के उपन्यासों का जिक्र करने से पहले फुटपाथ के साहित्य पर एक नजर डाल लें, जिसका कि वे एक अंग हैं।

फुटपाथ के साहित्य से हमारा मतलब उस साहित्य से है जो पटरियों पर बिकता है। पुस्तक-विक्रेताओं की भाषा में इस साहित्य को 'कच्चा माल' कहा जाता है। इस साहित्य को लिखने वाले लेखक—नये भी और पुराने भी—इस साहित्य को छपाने वाले प्रेस और छापने वाले प्रकाशक और इस साहित्य को बेचने वाले विक्रेता, हमारे समाज में अपना अलग, बिरादरी से खारिज लोगों ऐसा, स्थान रखते हैं।

फुटपाथ पर बिकने वाले साहित्य में सभी तरह की पुस्तकें मिल जायँगी। इन पुस्तकों की विविधता और विभिन्नता, देखते ही बनती है। 'अकबर और बीरबल के चुटकुले' मिल जायँगे, जिन्होंने हमारे ऊँचे साहित्य में अपना सभ्य स्थान चाहे न बनाया हो लेकिन हमारे जीवन में अवश्य प्रवेश कर लिया है। अगर आप चिराग़ हाथ में लेकर खोजना शुरू करें तो ऐसा एक भी आदमी नहीं मिलेगा जो बीरबल के दो-चार किस्से या चुटकुले न जानता हो और चुटकुलों की इस दुनिया में खुद चुटकुलों की वृद्धि न कर रहा हो।

फुटपाथ के इस साहित्य में आपको 'किस्सा तोता मैना' मिलेगा। 'किस्सा तोता मैना' में और कुछ चाहे हो या न हो, लेकिन पुरुषों और स्त्रियों की समानता का अद्भुत दृश्य अवश्य दिखाई देता है। तोता स्त्रियों की कुटिलता के किस्से बयान करता है और मैना पुरुषों की, और दोनों में से एक भी हार मानने को तैयार नहीं होता।

कथावाचक 'राधेश्याम की रामायण' जिसकी करारी भाषा और शैली की याद अभी तक विस्मृत नहीं हुई है। मस्तिष्क पर ज़रा-सा जोर दिये बिना ही उसकी पंक्तियों को किसी वक्त भी गुनगुनाया जा सकता है····**"खड़ी तो रह ए दुष्टनी बस चुप अब खबरदार, जुबाँ खींच लूँगा तेरी जरा जो की तकरार।"** और उनके नाटकों की भी कभी धूम थी। हास्य, भले ही वह आज हमें भौंडा मालूम हो, इन नाटकों का अविच्छिन्न अंग होता था—**"तू कोमल कचनार कली है मैं केले का कल्ला····तू बिल्ली मैं बागड़बिल्ला, बस अल्लाह-ही-अल्लाह।"**

'आल्हा ऊदल', 'गुलबकावली', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'छबीली भटियारिन', 'किस्सा साढ़े तीन यार' और 'एक रात में सात खून' के अलावा फुटपाथ के साहित्य में तिलिस्मी और ऐयारी के साहित्य का और इसीसे लगे-बँधे जासूसी साहित्य का, विशिष्ट स्थान

है और यह एक ऐसा साहित्य है जिसके लेखकों का परिवार काफी बड़ा है और बराबर फूल-फल रहा है।

तिलिस्मी और ऐयारी के साहित्य की परम्परा काफी पुरानी है। सच पूछा जाय तो आधुनिक उपन्यास-साहित्य का विकास तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों से शुरू होता है। हिन्दी के वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय एम० ए० के शब्दों में : **"हिन्दी के प्रारम्भिक काल में बाल-रुचि की भाँति लोक-रुचि कौतूहल और तिलिस्म की ओर अधिक थी।"**

हिंन्दी के प्रारम्भिक काल में, उस काल में जिसे हम हिन्दी-साहित्य का बचपन कह सकते हैं, बाल-रुचि का होना सहज स्वाभाविक मालूम होता है। लेकिन यह बाल-रुचि काफी ढीठ किस्म की मालूम होती है और बुढ़ापे में भी—अगर हिन्दी-साहित्य को बचपन, जवानी और बुढ़ापे की भाषा में व्यक्त किया जाय तो, पीछा नहीं छोड़ती। तिलिस्मी और जासूसी साहित्य का जोर आज भी बना हुआ है। 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर प्रेमचन्द जी के उपन्यासों तक में हम तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के तत्त्वों का प्रसार देख सकते हैं। मुगल-दरबार के किस्सागो, राजाओं के षड्यन्त्र, निगोड़े भूतों, मुछन्दर के पूत अवधूतों और उनके चमत्कार, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के अगुआ हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी, विशेष रूप से 'कायाकल्प' में, इन चमत्कारों की काफी झाँकी मिलती है। बीते हुए यौवन की खोज के सिलसिले में प्रेमचन्द जी ने जिन चमत्कारों का अपने उपन्यास में समावेश किया है, वे अच्छे-खासे तिलिस्म और भूल-भुलैयाँ की रचना करते हैं।

: २ :

तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों का आगमन उन्नीसवीं शती में होता है। यूरोप में इनका उदय यों ही नहीं हुआ था, न ही बचपन के कौतुक और कौतूहल-प्रियता ने इन्हें जन्म दिया था।

यह सभी जानते हैं कि फ्रांस की क्रान्ति समानता और बन्धुत्व ऐसे नारों को लेकर हुई थी। यह उगते हुए बूर्जुआ-वर्ग की सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति थी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप जो लोग सत्तारूढ़ हुए, वे समानता और बन्धुत्व के नारों को भूल गए। इतना ही नहीं, जिन सामन्तों को अपदस्थ करके वे सत्तारूढ़ हुए थे, उनके दुर्गुण उनमें और भी अधिक उभर आये। अनाचार और भ्रष्टाचार की तूती बोलने लगी।

'पेरिस-रहस्य' में इसी अनाचार और भ्रष्टाचार का नग्नचित्रण हुआ है। इस चित्रण का एक अपना महत्त्व और उपयोगिता थी। लेखक ने इसे शुभ लक्ष्य और उद्देश्य से ही लिखा था और इस तरह की रचनाओं द्वारा वह समानता और बन्धुत्व के हितों को साधना चाहता था। कुछ हद तक उसने इन हितों को साधा भी। लेकिन शीघ्र ही एक दूसरी चीज सामने आई। पुस्तक का जब खूब प्रचार हुआ, करोड़ों प्रतियाँ उसकी बिकीं और एक के बाद एक अनेक संस्करण उसके होने लगे तो इससे उसे खूब धन मिला। इसका नतीजा यह हुआ कि जिस पुस्तक को उसने समानता और बन्धुत्व की जड़ें जमाने के लिए लिखा था, वह धन कमाने और व्यापार करने का साधन बन गई। व्यापारिकता ने जितना अधिक तिलिस्मी और जासूसी साहित्य को अपने रँग में रंगा है; उतना अधिक साहित्य के अन्य किसी अंग को नहीं। यही कारण है

कि जासूसी उपन्यास साहित्य की दुनिया से कटकर व्यापार की दुनिया का अंग बन गए और उनके प्रति हमारे अधिकांश आलोचकों का बरताव वैसा ही है जैसा कि बिरादरी से खारिज लोगों के प्रति किया जाता है।

व्यापारिकता ने जासूसी उपन्यासों को ही अपने चंगुल में जकड़ा हो, ऐसा नहीं है। व्यापारिकता ने साहित्य के अन्य अंगों को भी अपने चंगुल में जकड़ा है और इस कारण उसका काफी ह्रास हुआ है। इस ह्रास के खिलाफ संघर्ष करने तथा जैसे-तैसे अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने वाला साहित्य भी हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में है और इस संघर्ष में जासूसी साहित्य ने भी योग दिया है।

अगर हम जासूसी साहित्य के विकास का, उसकी परम्परा का, अध्ययन करें तो मालूम होगा कि जासूसी साहित्य के रूप और उसकी विषय-वस्तु में अनेक परिवर्तन हुए हैं, अनेक उतार-चढ़ावों में से उसे गुजरना पड़ा है। लेकिन हिन्दी-साहित्य के लेखकों और आलोचकों ने इस ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया है। तिलिस्मी और जासूसी साहित्य का उल्लेख केवल हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल का, उसके बचपन का, परिचय देने के लिए किया जाता है,—मानो इससे अधिक उसका और कोई अस्तित्व या उपयोग ही न हो।

× × ×

'पेरिस-रहस्य' के अलावा 'लन्दन-रहस्य' का भी यहाँ जिक्र कर दें। लन्दन के रहस्य कभी प्रकाश में न आते, अगर ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति ने उन सामन्ती दीवारों को न ढा दिया होता जिनके पीछे ये रहस्य छिपे थे। भारत में भी यही क्रम चल रहा था। मुग़ल-दरबार के किस्सागो फुटपाथ का पथिक बनने की ओर अग्रसर हो रहे थे। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति भारत के राजा-महाराजाओं की उखाड़-पछाड़ और भारत की जनता के शोषण का दामन पकड़े थी! ब्रिटेन मालामाल हो रहा था और दरबारों तथा महलों की शोभा बढ़ाने वाले शाहजादे फुटपाथ पर भीख माँगने के लिए बाध्य हो रहे थे। किस्सागोई को अपना धन्धा बनाने वालों की क्या हालत हुई होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। जो भी हो, इतना साफ है कि दरबारों को अपना आधार बनाकर, उससे चिपके रहकर, वे अपने को जीवित नहीं रख सकते थे। 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक की यह भावना कि उनकी भाषा में 'हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट' न हो, इसके पहले के काल में जन्म नहीं ले सकती थी। उनकी यह आकांक्षा कि वे बोल-चाल की भाषा के निकट रहें—"जैसे भले लोग अच्छे-से-अच्छे, आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों-का-त्यों उसीका डौल रहे, और छाँव किसी की न रहे", उस शुभ्र जागरण की सूचक है जो उनके समय में जन्म ले रहा था और सबसे बड़ी बात यह कि वह भाषा की नफासत को कायम रखते हुए उसे जनता की बोल-चाल के निकट लाना चाहते थे।

रीतिकालीन एकांगिता की पृष्ठभूमि पर यह प्रयास एक नये मोड़ और नई दिशा का सूचक था। स्त्री के प्रेम को लेकर रानी केतकी की कहानी चलती है और राजाओं के बीच जंग तक की नौबत आ जाती है:

"जब दोनों महाराजाओं में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

यह छोटा-सा उद्धरण भाषा-शैली की दृष्टि से ही नहीं, विषय-वस्तु की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें रीतिकालीन परम्परा की भी झाँकी मिलती है और उससे छूटने के प्रयास की भी—"यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

इसीके साथ-साथ इसमें महादेव, मछन्दर आदि की झोली की करामातें भी हैं। इस प्रसंग का भी एक छोटा-सा उद्धरण देखिए—"तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछन्दर का पूत अवधूत दे गया, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।"

इसके बाद, आगे चलकर, 'ठग वृत्तान्त माला' और 'पुलिस वृत्तान्त माला' का जोर बढ़ता है। बैरगिया नाला के जुल्म-जोर और पिंडारियों का दौर चलता है। 'लन्दन-रहस्य' से भी हिन्दी के पाठक इसी काल में परिचित होते हैं और उन्नीसवीं शती के अन्त में हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास-लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री हिन्दी के रंगमंच पर छा जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में : "हिन्दी के जितने पाठक उन्होंने तैयार किये, उतने और किसी ने नहीं।"

'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने हिन्दी के अनगिनत पाठक ही तैयार नहीं किये, बल्कि लेखकों की एक अच्छी-खासी सेना भी तैयार की। हिन्दी के उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द जी के लिए जमीन तैयार करने में बाबू देवकीनन्दन खत्री का काफी बड़ा हाथ है।

'चन्द्रकान्ता-सन्तति' की कथावस्तु भी करीब-करीब वैसी ही है जैसी कि 'रानी केतकी की कहानी' की। लेकिन एक अन्तर है। 'रानी केतकी की कहानी' में जहाँ स्त्री की चाहत के लिए राजाओं में युद्ध होता और लहू बरसता है, वहाँ 'चन्द्रकान्ता' में ऐयारों की चालबाजियों और उनके सम्भव-असम्भव कौशल से ही मामला निपट जाता है। अस्त्र-शस्त्रों के संघर्ष से अधिक ऐयारों की चालबाजियों और चालाकी के संघर्ष का इसमें प्राधान्य है। इस प्रकार 'चन्द्रकान्ता' में एक ही कुमारी के लिए दो प्रेमियों के—जिनमें एक कुटिल है और दूसरा भला—संघर्ष की कहानी वर्णित है।

'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' में ऐयारों का प्राधान्य है। इन ऐयारों के विषय में खुद देवकीनन्दन जी ने लिखा है :

"आज हिन्दी के बहुत-से उपन्यास ऐसे हैं जिनमें कई तरह की बातें व राजनीति भी लिखी गई है, राज-दरबार के तरीके वा सामान भी जाहिर किये गए हैं, मगर राज-दरबारों में ऐयार भी नौकर हुआ करते थे जो कि हर फन मौला याने सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना-बजना, दौड़ना, शस्त्र चलना, जासूसों का काम देखना वगैरह बहुत-सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराये वा पलटनों की जान गँवाए लड़ाई खत्म कर देते थे। इन लोगों की बड़ी कद्र की जाती थी। इन्हीं ऐयारी-पेशे में आजकल बहुरूपिये दिखलाई देते हैं। वे सब गुण तो उन लोगों में रहे नहीं, सिर्फ शक्ल बदलना रह गया, वह भी किसी काम का नहीं...."

देवकीनन्दन जी का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। यह उस स्थिति को व्यक्त करता है जब राजा-महाराजाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व, उनकी अमलदारी, खत्म हो रही थी और एक नई

विदेशी अमलदारी देश पर दखल जमा रही थी। इसके साथ-साथ एक नई तरह के ऐयारों का भी उदय हो रहा था—ऐसे ऐयारों का जो विदेशी अमलदारी के हितों को साधते थे। रीतिकालीन परम्परा की डाल से टूटे हुई ऐयारों में से कितने ही विदेशी शासन की डाल से चिपक गए, कितने ही कालानुक्रम से सर्वहारा की पाँतों में आ गए, भारत की जनता के साम्राज्य-विरोधी युद्ध में उनके जौहर दिखाई दिये और इसके लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री में ही हम इसकी एक झाँकी देख सकते हैं। अपने पिता की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने 'रक्त मण्डल' और 'सफेद शैतान, जैसे साम्राज्य-विरोधी उपन्यास लिखे। 'रक्त मण्डल' का प्रसार-प्रचार इसलिए नहीं हो पाया कि एक ओर जहाँ ब्रिटिश-सरकार ने उसे जब्त कर लिया, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के आलोचकों ने भी उसे अपने दृष्टि-क्षेत्र से बाहर रखा।

बाबू देवकीनन्दन खत्री हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास-लेखक थे। उनकी 'चन्द्रकान्ता' अपने विषय की एक 'क्लासिक' रचना है। उन्हींके समसामयिक हिन्दी के एक अन्य लेखक किशोरीलाल गोस्वामी थे, जिन्हें साहित्य की कोटि में बैठने का श्रेय प्राप्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वह हिन्दी के पहले 'साहित्यिक' उपन्यास-लेखक थे। 'चन्द्रकान्ता' साहित्य की इस कोटि में नहीं आती—वह जैसे बिरादरी से खारिज रहती है।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में सभी 'रस' मिलते हैं; उनमें सामाजिकता है, ऐतिहासिकता है और ऐयारी तथा तिलिस्म का चमत्कार भी है। इन सबसे बढ़कर उनमें एक और 'विशेषता' है जो देवकीनन्दन खत्री में नहीं मिलती,—वह है वासना का उतार-चढ़ाव, उसमें डूबना-उतराना। यही वह चीज है जो उन्हें साहित्य की बिरादरी में लाकर बैठा देती है, अन्यथा गुप्त षड्यन्त्रों और तबीयत दंग करने वाले ऐयारी के करिश्मों की भरमार करने में वह भी कोई कोताही नहीं करते। 'कटे मूँड की दो-दो बातें' इसकी एक मिसाल है।

गोस्वामीजी की इस विशेषता पर, जो उन्हें पहले साहित्यिक उपन्यास-लेखक की कोटि में बैठा देती है और जिसके अभाव में श्रीदेवकीनन्दन खत्री साहित्य की बिरादरी में नहीं आते, दो शब्द और। वह यह कि उनमें वासना का उतार-चढ़ाव मिलता है। 'चपला', 'मस्तानी', 'लावण्यमयी' आदि उपन्यासों के नामों से ही हृतन्त्री के तार झनझनाने लगते हैं। 'मदनमोहिनी' तथा 'माधवी-माधव' के परिच्छेदों के शीर्षक-मात्र इस साहित्यिक रस का पूरा परिपाक प्रकट करते हैं—'अंकुर', 'पल्लव', 'पुष्प', 'सुरभि', 'पराग', 'फल', 'मधु', 'आस्वादन' और परितृप्ति—'अंकुर' से लेकर 'आस्वादन' और 'परितृप्ति' तक रस की यह धारा बही है।

इसी काल के एक अन्य लेखक है जिनका यहाँ जिक्र करना जरूरी है। वह हैं श्री गोपालराम गहमरी। हिन्दी में जासूसी पत्र निकालने की प्रथा उन्होंने ही शुरू की थी। आपके उपन्यास, न्यूनाधिक रूप में, विदेशी जासूसी साहित्य के भारतीय संस्करण कहे जा सकते हैं। बाबू गुलाबराय ने उनको भारतीय काननडायल की उपाधि प्रदान की है। जासूसी साहित्य को वह व्यापारी स्तर पर ले गए और जासूसी मासिक पत्रों की बाढ़ उनके ही लगाये हुए पेड़ का फल है।

देवकीनन्दन खत्री में और गोस्वामी तथा गहमरीजी में काफी अन्तर है, और यह अन्तर इतना अधिक है कि भिन्न धाराओं को जन्म देता है। सबसे पहला अन्तर तो भाषा के रूप में

ही प्रकट है। खत्रीजी की भाषा ऐसी है जिसे थोड़ी हिन्दी और उर्दू जानने वाले भी समझ सकते हैं। गोस्वामीजी की भाषा और उनके शब्दों के प्रयोग का—'अंकुर', 'पल्लव', 'सुरभि', 'पराग' आदि का—हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। उनके पात्र संस्कृत ही नहीं बूँकते, फारसी भी बघारते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उन्होंने भाषा के साथ मनमाना 'मजाक' किया है। एक उद्धरण मुलाहिजा हो—"जनाब शाहजादे साहब ! अगर नाजनियाँ नाजोनखरे या रुखाई न करें तो आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्यों कर मालूम हो !"

गहमरीजी की भाषा सीधी-सादी है। यह इसलिए कि लिखते समय वह उस साधारण जनता का ध्यान रखते थे जिसके हाथ उन्हें अपना अखबार बेचना था। उनके लिए भाषा के साथ मजाक करने का मतलब अपने व्यापार के साथ मजाक करना होता। भाषा के इस ऊपरी साम्य के अलावा खत्रीजी की परम्परा से उनका और कोई साम्य नहीं मिलता। बाबू गुलाबराय ने इन दोनों के मूलभूत अन्तर को प्रकट करते हुए लिखा है—"तिलिस्मी उपन्यासों में घटनाओं का क्रम आगे की ओर बढ़ता है, पर जासूसी उपन्यासों में पीछे की ओर जाता है।"

सूत्र रूप में कही गई यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है। यह उन दो धाराओं की ओर संकेत करती है जिनके फलस्वरूप एक ओर जहाँ 'रक्त मण्डल' और 'सफेद शैतान'-जैसे उपन्यासों की रचना होती है, वहाँ दूसरी ओर डकैती, हत्या, जिनाकारी आदि की। यह धारा साहित्य की कोटि में आने वाले उपन्यासों—'परदे की रानी' (इलाचन्द्र जोशी), 'मनुष्य के रूप' (यशपाल) और 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय) के कितनी निकट है।

: ३ :

ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यासों के जनक और आचार्य—कहना चाहिए कि एक-मात्र आचार्य, बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। और यह एक विचित्र संयोग है कि इस क्षेत्र में अगला कदम रखने का श्रेय भी उनके ही सुपुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री को प्राप्त है। सबसे पहले वह अपने पिता के छोड़े हुए अधूरे उपन्यास 'भूतनाथ' को पूरा करके मानो पितृ-ऋण से उन्मुक्त होते हैं। इसके बाद, अपने पिता के ऐयारी के बटुवे को, जिसमें लकलका आदि कितनी चीजें रहती थीं, सदा के लिए अलग रखकर अपने क्षेत्र का विस्तार करते हैं।

दुर्गाप्रसाद खत्री में भी वे सब गुण दिखाई देते हैं जो उनके पिता में मौजूद थे : भाषा की सादगी। किशोरीलाल गोस्वामी की भाँति वह भाषा को हिन्दी अथवा उर्दू-सम्बन्धी अपना पाण्डित्य दिखाने का साधन नहीं बनाते, न ही शब्दों और वाक्य-रचना के साथ खिलवाड़ करते हैं।

उनके उपन्यासों में भी नारी विलास का—साहित्यिक भाषा में रस-परिपाक का—साधन नहीं बनती, जिसकी इतिश्री आगे चलकर 'योनि-मात्र रह गई मानवी' और 'जंघाओं के माणिक सर' के रूप में होती है।

तीसरी विशेषता है उनके उपन्यासों का घटनापरक होना। यह विशेषता प्रेमचन्दजी के उतनी ही निकट है जितनी कि उन उपन्यासों से दूर, जिनमें चरित्र-चित्रण और मानसिक विश्लेषण के नाम पर परदे की रानियों को निरावरण करने के साहित्यिक कौशल का चरम विकास दिखाई देता है।

दुर्गाप्रसादजी खत्री के उपन्यास घटनापरक हैं और उनकी गति आगे की ओर है—पीछे की ओर नहीं,—उन उपन्यासों से भिन्न जो हत्या आदि की किसी घटित घटना से शुरू होते हैं और उसका रहस्योद्घाटन करने के लिए पीछे की ओर जाते हैं। ऐसे उपन्यासों से भिन्न दुर्गाप्रसादजी खत्री की गति विकासोन्मुखी है—उनके पात्रों को हम उत्तरोत्तर व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करते देख सकते हैं।

दुर्गाप्रसाद जी खत्री ने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'लाल पंजा', 'प्रतिशोध', 'रक्त-मण्डल' और 'सफेद शैतान' मुख्य हैं। ये चारों उपन्यास जैसे एक ही शृङ्खला की कड़ी हैं और इनके मुख्य पात्रों को हम एक के बाद दूसरे उपन्यास में अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करते हुए देख सकते हैं।

इन उपन्यासों के पात्रों को, मोटे रूप में, हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं···एक ओर लुटेरे हैं, बलवाई हैं, विद्रोही और क्रान्तिकारी हैं तथा भारत को और आगे चलकर समूचे एशिया को, विदेशी व्यापारियों और साम्राज्यवाद के नागपाश से मुक्त कराने के लिए अपनी जान होम देने वाले लोग हैं। दूसरी ओर अंग्रेजी हुकूमत है, गोरे अफसर और भारतीय जासूस हैं, रजवाड़े, रायबहादुर तथा खानबहादुर हैं।

इन दोनों के संघर्ष का इन उपन्यासों में वर्णन हुआ है। 'लाल पंजा' और 'प्रतिशोध' में इस संघर्ष का प्रारम्भिक रूप दिखाई पड़ता है। 'रक्त मण्डल' में आकर पहले दो उपन्यासों के पात्र अपने को इस योग्य समझने लगते हैं कि वे अंग्रेजी सरकार को उलटकर अपना राज्य स्थापित कर सकें। जनता की शक्ति में नहीं, वे विज्ञान की शक्ति में विश्वास करते हैं। सीधा तर्क वे पेश करते हैं—"विज्ञान के सहारे अंग्रेजों ने भारत को गुलाम बनाया और विज्ञान के सहारे उन्हें पराजित किया जा सकता है।"

इस उपन्यास में लकलका और ऐयारी के बटुवे की जगह वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों का बाहुल्य है : मृत्युकिरण, अलोपी वायुयान, एटमी बन्दूक, विषैली गैसें, जिनसे अंग्रेजों तथा उनके तावेदार राजा-महाराजाओं और राय तथा खान बहादुरों के हृदय में आतंक का और जनता के हृदय में साहस का संचार किया जाता है। इसमें सफलता भी मिलती है, लेकिन एक सीमा तक ही।

आतंक पैदा करने वाले अस्त्र-शस्त्रों के अलावा उपन्यास में अन्य चीजें भी हैं—आपस की फूट, रजवाड़ों द्वारा अंग्रेजों का साथ दिया जाना, भेदियों का क्रान्तिकारी दलों में प्रवेश, भीतर घुसकर उनकी तोड़-फोड़, क्रान्तिकारी दलों का छिन्न-भिन्न होना।

देशी रजवाड़ों के प्रति 'रक्त मण्डल' के सदस्यों के हृदय में प्रबल मोह है। इस गिरी-पड़ी अवस्था में भी देसी रजवाड़ों की उपस्थिति उन्हें उन दिनों की याद दिलाती थी जब भारत आजाद था। 'रक्त मण्डल' के सदस्य रह-रहकर सोचते हैं कि अगर देसी रजवाड़े जरा-सी भी हिम्मत करें तो अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने में देर न लगे। लेकिन ऐसा होता नहीं और देसी रजवाड़े, एक के बाद एक, अंग्रेजी राज्य की टेक बनते जाते हैं।

देसी रजवाड़ों के प्रति 'रक्त मण्डल' का यह प्रबल मोह और इस मोह की कटु वास्तविकता से टकराकर पैदा होने वाली निराशा उपन्यास के पन्नों में बिखरी पड़ी है। उदाहरण के लिए एक बड़ी मुसलिम रियासत के 'जी हुजूर' नवाब साहब को लीजिए। रियासत में लाट साहब का आगमन होने वाला है। उनके लिए विलायती ढंग का स्नानागार और शौचालय बनवाने पर

वह जी खोलकर खर्च करते हैं। लाट साहब के स्वागत में सारा नगर सजाते हैं और महफिलों तथा नाच गानों के लिए अपने खजाने का मुँह खोल देते हैं। उनके नाम लिखा गया 'रक्त-मण्डल' का परवाना देखिए :

"मुल्क की गुलामी के इन दिनों में भी बीती हुई इज्जत की कुछ याद दिलाने वाली यहाँ की कुछ रियासतें हैं। वे भी जब बेहयाई का बुरका पहनकर ठोकर मारने वाले जूतों को सिर पर रखती हैं और जिसकी बदौलत गुलामी का तौक गले में पड़ा, उन्हीं की इज्जत करते हैं, तो कलेजों पर साँप लोट जाता है···"

अंग्रेजों ने शुरू-शुरू में देसी रियासतों के साथ काफी उखाड़-पछाड़ की थी और ऐसा करते समय एक क्षण के लिए भी वह यह नहीं सोचते थे कि इस उखाड़-पछाड़ से कोई नाराज होगा या खुश। लेकिन शीघ्र ही उनकी इस नीति में परिवर्तन हुआ और रजवाड़ों की उखाड़ पछाड़ छोड़कर अंग्रेजों ने उन्हें बाकायदा पालना-पोसना शुरू कर दिया।

जनता को नहीं, बल्कि अंग्रेजों ने जनता के दुश्मनों को—देश के सबसे ज्यादा प्रतिक्रिया-वादी अंशों को—मिलाना शुरू किया। इससे एक लाभ यह हुआ कि अंग्रेजों का प्रतिक्रियावादी रूप अधिकाधिक उभरकर सामने आने लगा और इसका असर उन लोगों पर भी पड़ा जो पहले अंग्रेजों के साथ और 'रक्तमण्डल' के खिलाफ थे। इस असर की एक झाँकी दिखाने के लिए हम इस उपन्यास के एक अन्य प्रमुख पात्र का उल्लेख करेंगे, जो अगले उपन्यास 'सफेद शैतान' में भी प्रकट होता है, लेकिन कुछ बदले हुए रूप में।

यह पात्र है गोपालशंकर—अंग्रेजों के पक्ष में और 'रक्त मण्डल' के खिलाफ लड़ने वाला प्रमुख व्यक्ति, पर्यटक और अद्भुत सूझ-बूझ से सम्पन्न।

गोपालशंकर का परिचय भी हम अपने शब्दों में न देकर 'रक्तमण्डल' के शब्दों में देना चाहेंगे। अपने शत्रु नम्बर एक को रक्त मण्डल निम्न परवाना भेजता है :

"हम तुम्हें बहुत दिनों से जानते हैं। वक्त-बेवक्त सरकार की मदद करते रहने पर भी हम लोगों ने तुम्हें कभी कुछ नहीं कहा, क्योंकि हम लोग जानते हैं कि तुम बड़े भारी विद्वान् हो और मुल्क तुम्हें इज्जत की निगाह से देखता है।

"तुम्हें यकीन हो चाहे न हो, पर हम लोग ठीक कहते हैं कि जो हम लोग कर रहे हैं, वह अपने देश के फायदे के लिए ही कर रहे हैं। हमारे काम में रुकावट डालने वाला चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो, पर देश का दुश्मन ही कहलायेगा और उसे इस दुनिया से उठा देना ही मुनासिब होगा···।"

गोपालशंकर पर इस परवाने का कोई असर नहीं होता, बल्कि वह और भी दृढ़ता से 'रक्त-मण्डल' के पाँव उखाड़ने में योग देते हैं। भारत से पाँव उखड़ जाने के बाद 'रक्त-मण्डल' के सदस्य स्याम में जाकर शरण लेते हैं।

स्याम, बल्कि कहना चाहिए कि समूचा एशिया, उन दिनों भारी उथल-पुथल में से गुजर रहा था। इस उथल-पुथल का कारण था गोरी जातियों का—सफेद शैतानों का—एशिया में बर्बर प्रवेश।

रक्त-मण्डल अब नया रूप धारण करता है—वह त्रिकण्टक बन जाता है "जिसने पूर्व को पश्चिम के पंजों से छुड़ाने का निश्चय किया है" और जिसके फरहरे पर ज्वलन्त अक्षरों

में लिखा है—"एशिया से हाथ अलग रखो।"

भारत में अफीम की कोठी खोलने वाले किंग का जिक्र पहले आ चुका है। इसका अत्यधिक बर्बर रूप चीनी बन्दरगाहों में दिखाई देता है। अफीम युद्ध और उसी तरह के अन्य दुष्कृत्यों की लम्बी शृङ्खला त्रिकण्टक को चीन की ओर खींचती है।

और स्याम, जहाँ त्रिकण्टक अपना हैड-क्वार्टर कायम करते हैं, वहाँ फ्रांसीसियों के क्रूर कृत्य देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। त्रिकण्टक उनकी ओर से भी उदासीन नहीं रहता।

जापानी सैन्यवादी जब कोरिया के एक चौदह-वर्षीय देशभक्त बालक को इसलिए गोली का शिकार बनाते हैं कि वह जापानी झण्डे के आगे सिर झुकाने से इन्कार करता है तो त्रिकण्टक के हृदय में कोरिया के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो जाती है।

एशिया को रौंदने वाले उपनिवेशवादियों के बीच अंग्रेज उनके अगुआ की भूमिका का निर्वाह करते हैं और त्रिकण्टक को नष्ट करने की जिम्मेदारी अपने हाथों में सँभालते हैं। भारत के लाट गोपालशंकर को बुलाकर उन्हें याद दिलाते हैं कि 'रक्त मण्डल' के खूनी और लुटेरे ही अब त्रिकण्टक बनकर एशिया में उत्पात मचा रहे हैं। उनका दमन करने के लिए उनसे, गोपालशंकर से, अधिक उपयुक्त और कोई नहीं हो सकता।

उत्तर में गोपालशंकर कहते हैं: "उस समय की याद मुझे न दिलाइये। मैं जब-जब उस बात को सोचता हूँ तो मुझे चोट-सी लगती है और मेरे दिल में सवाल उठता है कि उस समय आप लोगों की मदद करके मैंने भीषण भूल तो नहीं की....मेरे मन में उस समय तक, और ईश्वर जानता है कि मैं सत्य कहता हूँ, यह विश्वास था कि अंग्रेज़ों का हमारे देश में आना हमारे जगत् के और समय के कल्याण का कारण हुआ है। मगर आज मेरी विचार-धारा बदल गई है और मैं सोचने लगा हूँ कि यह सब खेल आपका नहीं जमाने का है और यहाँ मेरे मुल्क में जो कोई भी होता, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई, वही जमाने की चपेट में पड़कर वैसी ही उन्नति करता जो आप लोगों ने यहाँ आकर इस देश में की है। माफ कीजियेगा, उस समय के और आज के मेरे दृष्टिकोणों में अन्तर पड़ गया है और अभी हाल ही में जो शासन-प्रणाली के परिवर्तन आपने किये हैं उनकी ओर देखता हुआ मैं सोचने लगा हूँ कि क्या मैंने 'भयानक चार' (रक्तमण्डल के मुखिया) का विरोध कर गलती तो नहीं की? अगर अपने अद्भुत अस्त्र-शस्त्रों की मदद से त्रिकण्टक एशिया को स्वतन्त्र करते हैं तो मुझे उनके मार्ग में बाधक होने का कोई कारण नहीं है, लेकिन अगर वे अत्याचार करेंगे, उसकी मदद से खुद अपना एक राज्य कायम करने की चेष्टा करेंगे तो आप विश्वास रखें, माई लार्ड, कि मेरे यन्त्र, मेरी बुद्धि, मेरा शरीर, आगे बढ़ेगा और उनके मार्ग का बाधक होगा।"

गोपालशंकर के हृदय की यह उथल-पुथल, उनका यह परिवर्तन, ऐसा नहीं है कि उन पर 'क्रान्तिकारी' का या ऐसा ही अन्य कोई लेबल लगाकर छुट्टी पाई जा सके। स्थिति की जाँच करने के लिए वह स्याम जाते हैं, और नामतू बनकर स्याम के विद्रोही पुजारियों के नेता बन जाते हैं। इस रूप में भेदिया बनकर एक ओर जहाँ उन्हें भीतर से तोड़-फोड़ करने का अवसर मिलता है, वहाँ उपनिवेशवादियों की बर्बरता को देखने का भी अवसर मिलता है।

इन सब चीजों का गोपालशंकर पर क्या असर पड़ता है?

इसके लिए हम गोपालशंकर के उन शब्दों का उल्लेख करना चाहेंगे जो वह फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों के सम्मुख कहते हैं—"अभी तक मैं सोचता था कि काली, भूरी और पीली जातियों पर सफेद जाति का प्रभुत्व होना प्रकृति की दया है, इससे वे उन्नत होंगी और अपनी दशा सुधारेंगी, पर आज मैं समझ गया हूँ कि यह परमात्मा का शाप उन पर पड़ा है···मैं जान गया हूँ कि क्रूरता और बर्बरता में आप लोग नादिरशाह और चंगेज से कहीं बढ़कर हैं। ये लोग तो केवल शरीर के आभूषण और पीठ के कपड़े उतार लिया करते थे, पर आप लोग तो शरीरों का रक्त तक खींच लेते हैं···"

गोपालशंकर के बारे में बस इतना ही काफी होगा। दुर्गाप्रसादजी खत्री के चारों उपन्यासों —'लाल पंजा', 'प्रतिशोध', 'रक्त-मण्डल' और 'सफेद शैतान' —में वह दिखाई देते हैं और काफी लम्बा तथा पेचीदा रास्ता तय करने के बाद इस मंजिल तक—अगर इसे मंजिल कहा ही जा सके—पहुँचते हैं। जो भी हो, इनसे इतना तो पता चलता ही है कि जासूसी उपन्यासों के पात्रों का हृदय अपने देश की—इससे भी आगे बढ़कर समूचे एशिया की—जनता के साथ है। यह एक ऐसी चीज है जिसे आचार्य हजारीप्रसादजी के शब्दों में, साहित्यिक या राजनीतिक लकलका कहकर नजरन्दाज नहीं किया जा सकता "जो पाठक को बेहोश तथा अभिभूत कर देता है।"

अंग्रेज़ी सरकार ने 'रक्तमण्डल' को जब्त कर लिया था।

'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान' के बाद जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में भी करीब-करीब वही स्थिति दिखाई देती है जो प्रेमचन्द जी के निधन के बाद सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यास के क्षेत्र में दिखाई दी। 'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान' की धारा उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है और दूसरी धारा, चोरी-डकैती तथा ज़िनाकारी के उपन्यासों की धारा, सिर उभारती है जो १६४७ के बाद अच्छी-खासी बाढ़ का रूप धारण कर लेती है।

इस धारा का यों ही एकाएक उदय नहीं होता, बल्कि इसके चिह्न बहुत पहले ही दिखाई देने लगे थे। खुद प्रेमचन्दजी ने अनेक बार इस धारा का जिक्र किया था और उसके विरुद्ध अपनी आवाज ऊँची उठाई थी। प्रेमचन्दजी ने कहा था : "जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, वह साहित्य नहीं है। जासूसी साहित्य अद्भुत होता है। लेकिन हम उसे साहित्य उस वक्त कहेंगे जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, यह भाव रहे जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।"

यह गुण, जिसकी ओर प्रेमचन्द जी ने निर्देश किया है, जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र से और यथार्थवाद का लेबल लगाकर आने वाले अन्य उपन्यासों के क्षेत्र से, बराबर गायब होता जा रहा था। १६३० से लेकर १६३६ तक, दूसरे विश्व-युद्ध के शुरू होने तक, 'रक्त मण्डल' और 'सफेद शैतान' की धारा क्षीण होते हुए समाप्तप्राय हो जाती है। देवकीनन्दन खत्री के छोटे पुत्र परमानन्द खत्री कानन डायल के उपन्यासों का अनुवाद करने में रत दिखाई देते हैं। महापण्डित राहुल का भी इधर ध्यान जाता है और उस समय जब कि वह जेल में थे, मन बहलाने के लिए अँग्रेजी के आधार पर घटना-वैचित्र्य और साहसिकता से पूर्ण 'शैतान की

आँख' आदि कई उपन्यास तैयार करते हैं।

इसी काल में, सन् पैंतीस के आस-पास, त्रिलोकीनाथ खन्ना के कुछ उपन्यास प्रकाशित होते हैं : 'बहराम डाकू' आदि। इन उपन्यासों में जागीरदारी व्यवस्था के उत्पीड़न का, बेगार और अनाचार का, चित्रण हुआ है और इन उपन्यासों के डाकू वीर नायक गरीबों की मदद करते हैं। इन्हींके साथ-साथ ब्लैक और सैक्स्टन सीरीज़ के अनुवाद भी निकलते हैं, बल्कि कहना चाहिए कि अनुवादों का पलड़ा भारी रहता है और मौलिक उपन्यासों का हल्का।

इसके बाद, दूसरे विश्व-युद्ध के काल में, जासूसी उपन्यासों को कागज़ की तंगी, अन्न और कपड़े की तंगी, दमन और विक्षोभ ने ग्रस लिया। कागज मिलता नहीं था, जो मिलता था वह चोर बाजार में चला जाता था। जासूसी उपन्यासों की धारा का दम घुटने लगा। वह उत्तरोत्तर क्षीण होती गई।

: ४ :

सन् सैंतालीस के बाद, मानो बाँध तोड़कर, जासूसी उपन्यासों की धारा बाढ़ बनकर बह चली, अपने साथ बहुत सा कूड़ा-कचरा समेटे हुए।

जासूसी उपन्यासों की इस बाढ़ में वे सभी तत्त्व दिखाई देते हैं जिन्होंने हमारे व्यापार-जगत् के काफी बड़े हिस्से में प्रवेश कर लिया है : मिलावट, चार सौ बीसी, चोरी के अथवा नकली माल पर असली माल का लेबल लगाकर बाजार में चालू करने की प्रवृत्ति, और नैतिकता का अभाव। सचमुच कभी-कभी तो मन करता है कि कोई लेखक एक ऐसे जासूस की रचना करे जिसका काम इन प्रवृत्तियों को, और उनके कारणों को, खोलकर रखना तथा उन्हें दूर करने में योग देना हो। लेकिन यह तो आगे की बात है।

जासूसी उपन्यासों की इस बाढ़ में, खोज करने पर भी, 'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान'-जैसे उपन्यासों की दूसरी कड़ी नहीं मिलती। इन दोनों उपन्यासों में उभरकर आने वाली साम्राज्यवाद-विरोधी भावना, उपनिवेशी उत्पीड़न और अनाचार से ग्रस्त अपने देश की और समूचे एशिया की जनता के प्रति सहानुभूति, इन उपन्यासों को एक ऐसी विशिष्टता प्रदान कर देती है जो अन्य उपन्यासों में नहीं मिलती, एक प्रेमचन्द को छोड़कर।

१९४७ में, या इसके आस-पास, आनन्दप्रकाश जैन ने एक उपन्यास लिखा। इस दौर में जासूसी उपन्यासों को पुरानी परम्परा की ओर मोड़ने का यह पहला प्रयास था। 'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान' की परम्पराओं को आगे बढ़ाने के लिए लेखक ने गोपालशंकर को अपना मुख्य पात्र बनाया। लेकिन बात कुछ बनी नहीं। उपन्यास आगे नहीं बढ़ सका।

सुभाषचन्द्र बोस और आजाद हिन्द सेना की ओर भी कुछ लेखकों का ध्यान गया। काश्मीर की समस्या को भी कुछ ने उठाने का प्रयत्न किया। लेकिन ये प्रयत्न निरे प्रयत्न ही रहे, कोई विशेष सफलता नहीं मिली। शेष सब विदेशी उपन्यासों को ही भारतीय जामा पहनाकर पेश करते रहे। कुछ इतना भी कष्ट नहीं करते, वे दूसरों के लिखे या अनुवादित उपन्यासों को ही, थोड़ा-बहुत फेर-फार करके, अपना काम चला लेते हैं।

इस काल को हम जासूसी पत्रों तथा उपन्यासों की बाढ़ का काल कह सकते हैं। एक-दो नहीं, हिन्दी में निकलने वाले जासूसी पत्रों की संख्या चालीस के करीब है और इनमें से

प्रत्येक की पाँच हजार से लेकर पन्द्रह हजार तक प्रतियाँ छपती हैं। कुछ पत्रों की संख्या, अगर औसत का ध्यान न रखें तो कभी-कभी बीस-पच्चीस हजार तक पहुँच जाती है, पहुँच भी चुकी है। उपन्यासों की गिनती करना मुश्किल है, साल में हजारों निकलते हैं। जासूसी उपन्यास-लेखकों के लिखने की गति भी काफी तेज है। शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जिसने बीस-पच्चीस उपन्यास न लिखे हों और कुछ के उपन्यासों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। महीने में दो, और कभी-कभी तो चार तक, उपन्यास लिखने वाले भी इनमें मौजूद हैं और इनके लिखे हुए उपन्यास छपते और बिकते हैं।

जासूसी उपन्यासों के सामूहिक लेखन-उत्पादन की दृष्टि से जुगलकिशोर पाण्डेय का नाम उल्लेखनीय है। अपने उपन्यासों में सामयिकता लाने का भी आप कुछ प्रयास करते हैं, कभी सफल रूप में और कभी असफल रूप में।

१९५३ में जासूसी उपन्यासों ने एक नया मोड़ लिया और कुछ ऐसे उपन्यास प्रकाशित हुए जो आजादी मिलने के बाद ही लिखे जा सकते थे, उससे पहले नहीं। इन उपन्यासों के लेखक हैं ओमप्रकाश शर्मा।

ओमप्रकाश शर्मा के उपन्यास और उनके उपन्यासों के भले-बुरे पात्र अन्य देशी-विदेशी जासूसी उपन्यासों से भिन्न हैं "जिनमें जासूस महाशय इतने चतुर होते हैं कि या तो अपनी मेज़ पर बैठे-बैठे ही अथवा अधिक-से-अधिक घटना-स्थल की परीक्षा करके मुजरिम का सुराग़ पा लेते हैं। इन वृत्तियों के कलाकार शरलॉक होम्स तथा इन खुराफ़ातों के प्रमुख हीरो रावर्ट और सेक्स्टन ब्लेक वास्तविक दुनिया के जासूसों में नहीं मिलते। यथार्थ में तो छोटी-छोटी बातों के लिए महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है और एक साधारण अपराधी को फाँसने के लिए सख्त मेहनत और खोपड़ी की सारी अक्ल लड़ा देनी पड़ती है। सभी कुछ करना पड़ता है......"

अब इन उपन्यासों के पात्रों को लीजिए। राजेश एक युवक है। उसने जासूसी के काम की बाकायदा ट्रेनिंग प्राप्त की है। प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास करने के बाद जब उसे केन्द्रीय खुफिया-विभाग में नौकरी मिलती है तो वह धड़कते हृदय से अपने दफ़्तर में प्रवेश करता है। अनेक छोटे-बड़े सहयोगियों से उसकी भेंट होती है और सबसे पहली बात जो उसे मालूम होती है वह यह कि चीफ आफ स्टाफ बहुत ही सख्त आदमी है। राजेश का हृदय और भी बैठ जाता है। धड़कते हृदय और अनेक आशंकाओं से घिरा वह चीफ आफ स्टाफ श्री नायडू से पहली भेंट करता है और तब असली बात उसे मालूम होती है : "केंद्रीय खुफिया विभाग के ये सब पुराने कर्मचारी श्री नायडू के अनुशासन को आतंक समझकर किस भाँति एक इन्सान को हृदय-हीन समझ बैठे हैं।"

अनुशासन को आतंक समझने वाले इन 'पुराने' कर्मचारियों से 'नये' राजेश की पटरी नहीं बैठती। उनके साथ उसका संघर्ष चलता है और यह संघर्ष उस संघर्ष से कुछ कम तीखा और कटु नहीं होता जो कि वह अपराधियों के विरुद्ध करता है। कभी-कभी तो बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि उसे त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

ऐसा मालूम होता है मानो 'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान' का गोपालशंकर, राजेश के रूप में, नया जन्म ले रहा हो। दमन और शोषण पर आधारित उपनिवेशी शासन के रहते

गोपालशंकर का विकास इस रूप में पूर्णता को नहीं पहुँच सकता था। राजेश को अब वह आधार प्राप्त है, जिस पर खड़े होकर वह उपनिवेशी शासन के अवशेषों—गणपतराव आदि—के खिलाफ सफल-असफल संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ सकता है।

ओमप्रकाश शर्मा के उपन्यासों में इस विकास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं और इस दृष्टि से, जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में, उन्हें हम अपने युग का प्रतिनिधि कह सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उनके उपन्यासों में एक बात और है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है और यह बात ऐसी है, जो न केवल उपन्यासों में ही बल्कि काफी दिनों से लिखे जा रहे अच्छे-से-अच्छे और ऊँची कोटि के अन्य उपन्यासों में भी नहीं मिलती।

यह उल्लेखनीय विशेषता है : सुखी दाम्पत्य-जीवन का चित्रण जिसमें प्रेम भी है और रोमांस भी; और जो बजाय घटने के बढ़ता ही जाता है।

शरत् के 'गृहदाह', जैनेन्द्र की 'सुनीता', इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप', यशपाल के 'मनुष्य के रूप'—इनमें से किसी को भी उठाकर देख लीजिए, उनमें यह विशेषता नहीं मिलेगी।

ओमप्रकाश शर्मा के सभी उपन्यासों में इन तत्त्वों के अंकुर मौजूद हैं। उनके पहले उपन्यास से लेकर जिसमें चोरी से सोना लाने वाले गिरोह के विरुद्ध संघर्ष का चित्रण हुआ है, उनके अन्तिम उपन्यास तक जिसमें पादरियों के रूप में विदेशी जासूसों की समस्या को छुआ गया है, हम इन तत्त्वों की झाँकी देख सकते हैं। ओमप्रकाश शर्मा जासूसी उपन्यासों की श्रृङ्खला में नवीनतम और सबसे आगे बढ़ी हुई कड़ी है।

अन्त में एक बात और। वह है जासूसी उपन्यास-लेखकों की आर्थिक स्थिति के बारे में। दो रुपया प्रति फार्म से लेकर दस रुपया प्रति फार्म तक उन्हें मिलता है। दस रुपया प्रति फार्म भी केवल कहने-भर के लिए है। निन्यानवे प्रतिशत लेखक दो रुपया प्रति फार्म से पाँच रुपया प्रति फार्म में ही निबट जाते हैं।

यह एक ऐसी चीज है जो उनके विकास-मार्ग में बड़ी बाधा है।

मोतीसिंह

साम्यवादी उपन्यास

: १ :

हिन्दी में साम्यवादी उपन्यास की चर्चा करते हुए हम उन्हीं उपन्यासों को इस कोटि में रखने के लिए विवश हैं जिनके लेखक अपने को साम्यवादी घोषित करते हैं और अपनी रचनाओं को साम्यवादी आदर्शों और सिद्धान्तों की वाहिका और अभिव्यक्ति कहते हैं। उपन्यास के मौलिक उपादानों से हीन रचनाओं को साम्यवादी होते हुए भी कलात्मक कोटि की रचनाओं में न रखने के लिए हम बाध्य हैं। ऐसी रचनाओं में केवल लम्बे व्याख्यान, शुष्क उपदेश अथवा नारों की चिल्लाहट-मात्र होती है; किन्तु साहित्य का संवेदन-गुण न रहने के कारण उन्हें विवेच्य रचनाओं से पृथक् रखना उचित है। अमृतराय की नवीन रचना 'बीज' इसी कोटि में आती है। साम्यवादी उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन और भैरव-प्रसाद गुप्त मुख्य हैं। अतः प्रधान रूप से इन्हीं लेखकों की रचनाओं को आधार मानकर साम्य-वादी उपन्यासों पर विचार किया गया है।

साम्यवादी रचनाओं का मूलाधार है मार्क्सवादी दर्शन। मार्क्स के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व से निर्दिष्ट होती है। पार्थिव शक्तियों की अवस्थिति से विचारात्मक प्रक्रिया का जन्म होता है। अतः मूल में वस्तुवादी दृष्टिकोण का होना सर्वथा अपेक्षित है। मार्क्सवादी साहित्यकार अपने साहित्य के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा करता है। मार्क्सवाद के अनुसार भौतिक शक्तियाँ मनुष्य को परिवर्तित कर सकती हैं; किन्तु वह भी इसका दृढ़ विचार है कि मनुष्य ही वास्तव में भौतिक शक्तियों को प्रभावित करता है और इस प्रकार अपने को भी परिवर्तित करता है।[१] किन्तु वह मनुष्य जिसकी प्रतिष्ठा मार्क्सवादी अपने साहित्य और दर्शन में करता है 'समाज निरपेक्ष मानव' नहीं होता है। अपने को स्वयं की परिधि में पूर्ण समझने वाला, एकान्त और वैयक्तिक विचारों और उपाधियों के आवरण से ढका मनुष्य मार्क्सवादी विचारक और साहित्यिक का अपेक्षित विषय नहीं होता है। वह सामाजिक मनुष्य होता है और वही मनुष्य पूर्ण मनुष्य होता है। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार समाज में केवल दो वर्ग हो सकते हैं सर्वहारा और शोषक वर्ग। प्रत्येक मनुष्य को अपने को इन्हीं दो श्रेणियों में थोड़े-बहुत मात्रा-भेद के अनुसार समझना चाहिए। आज के इस मशीन-युग में, जब उत्पादन का कार्य बहुत

१. "Marxism places men in the centre of its philosophy, for while it claims that material forces may change man, it declares most emphatically that it is man who changes the material forces and that in the course of so doing he changes himself." Ralf Fox—Novel and People.

बड़े पैमाने पर हो रहा है, पूँजीवाद का जन्म हुआ। पूँजीवाद ने समाज के वर्ग-भेद को और अधिक विषम और तीव्र बना दिया है। जिसके परिणामस्वरूप एक बहुत बड़ा वर्ग आर्थिक गुलामी से ग्रस्त है। आर्थिक विपन्नता का अर्थ है जीवन-धारण के तत्त्वों का अभाव। भौतिक जीवन का यह अभाव व्यक्तित्व को अत्यन्त संकीर्ण, निष्प्राण और रुद्ध कर देता है। नैतिक मान्यताएँ और चारित्रिक मूल्य अत्यन्त गिर जाते हैं। शोषक और शोषित दोनों वर्गों में अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि, मानसिक विक्षिप्तता और यौन-विकृतियाँ आ जाती हैं। मार्क्सवाद के ही प्रकाश में हम इन सब व्यक्ति और समाज की समस्याओं का ठीक निदान कर पाते हैं। मार्क्सवादी अपनी इस विचार-सरणी को प्रत्येक स्थान, परिस्थिति और समय में अबाध रूप से प्रयुक्त करता है। इस दृष्टि से उसे वह एक शाश्वत और सार्वदेशिक दर्शन के रूप में स्वीकार करता है।

जीवन का यह यथार्थ, जिसमें मनुष्य को उसके सामाजिक परिपार्श्व के बीच चित्रण किया जाता है, सामाजिक यथार्थ के रूप में साहित्य में आया। मार्क्सवादी विचारक इसे सामाजिक यथार्थ न कहकर समाजवादी यथार्थ कहते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में न्यायपूर्ण समाज के निर्माण में मनुष्य का ठीक मार्ग-निर्देश मार्क्सवादी समाजवाद ही कर सकता है। अन्य प्रकार का यथार्थ-वाद वह भूमिका नहीं उपस्थित करता जिसमें मनुष्य की सच्ची सामाजिक स्थिति जानी जाय। समाजवादी यथार्थवाद व्यापक रूप में उस प्रकार के चित्रण को कहा जा सकता है जिसमें प्रति-निधि चरित्र की सहज-स्वाभाविक और सक्रिय रूप से अवतारणा की जाती है।[१] इस यथार्थ-वाद में दो तत्त्व निहित हैं। प्रथम तो चित्रण ऐसा हो जो समाज के वर्ग-विशेष का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके और साथ ही जिसमें अपना निश्चित व्यक्तित्व भी हो। प्रायः ऐसे चित्रण में लेखकों की दृष्टि उसके प्रतिनिधि रूप पर तो रहती है किन्तु उसकी व्यक्तित्व-सम्बन्धी विशेषता सर्वथा उपेक्षित हो जाती है। इसलिए ऐसे पात्र उत्साही और अधकचरे मार्क्सवादी लेखकों के द्वारा निर्जीव यन्त्र-चालित कठपुतली-मात्र रह जाते हैं। परिस्थिति और परिपार्श्व का चित्रण ही प्रधान हो जाता है और उसमें स्पन्दनशील व्यक्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है। कभी-कभी लेखक उत्साह में अपने सैद्धान्तिक विश्वासों और रूढ़ियों को ही चरित्र के क्रियात्मक चित्रण का रूप समझ लेता है। कलात्मक सौष्ठव और संवेदनीयता के लिए इससे बढ़कर घातक अन्य कोई भूल नहीं।[२]

कम्युनिस्ट उपन्यासों में आर्थिक आधार की खोज और दृष्टि का महत्त्व इतना अधिक हो जाता है कि उसकी सबसे आवश्यक वस्तु संवेदनीयता प्रायः हल्की पड़ जाती है। किसी भी साहित्य-प्रकार की सफलता की सर्वमान्य कसौटी उसकी संवेदनशीलता है। सोवियत साहित्य में इस दृष्टि से बहुत कम सफल रचनाएँ उतर सकी हैं। रूस के प्रमुख लेखक इलया इरेनबुर्ग ने भी इसे स्वीकार किया है। एक तो सबसे बड़ा कारण इसका यह ज्ञात होता है कि जिस जीवन

---

१. "Realism to my mind implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances." Frederick Engels, 'Letters to Margaret Harkness.'

२. "But for the form of writing which substitutes the opinion of the author for the living actions of human being they (Marx & Engels) always possessed the greatest contempt"—Ralf Fox.

का चित्रण किया जाता है उसकी प्रगाढ़ अनुभूति लेखकों को कम रहती है। सैद्धान्तिक ढंग से तो उस रचना में मार्क्सवादी दृष्टिकोण आ जाता है, किन्तु वह रचना अनुभूति के उथलेपन की वजह से जीवन्त और प्राण-स्पर्शी नहीं हो पाती। स्वयं रूस में जहाँ पर ऐसी रचनाओं का काल करीब ५० वर्ष के आस-पास का होगा, ऐसी एक भी रचना सम्भवतः अभी तक नहीं बन पाई है जिसमें टालस्टॉय की-सी रसलीनता और एकात्मता हो। करुणा, शोक, हर्ष, विनोद या व्यंग्य इस ढंग का मर्मस्पर्शी हो कि पढ़ने वाले का अन्तर्पट भी इन भावों के आवेग से आविल हो सके। जब रूसी साहित्य की यह दशा है तो दूसरे देशों के साहित्यकारों के लिए तो और भी यह दुष्कर कार्य है।

: २ :

हिन्दी में मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अवतारणा सर्वप्रथम 'हंस' में फुटकर लेखों और कविताओं और कहानियों द्वारा हुई। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के बाद उसका सम्पादन जब शिवदानसिंह चौहान के हाथ में आया तो उन्होंने साहित्य की मार्क्सवादी भावनाओं को आग्रहपूर्वक हिन्दी में ग्रहीत कराने का आन्दोलन-सा आरम्भ किया। आरम्भ में मार्क्सवादी और उससे प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य में जिस यथार्थ का विस्तार से चित्रण और निरूपण हुआ उसे हम प्राकृत यथार्थ कह सकते हैं। इसमें सामाजिक संघर्ष की उतनी रुझान नहीं जितनी यौन-स्वच्छन्दता के समर्थन और प्रचार की प्रवृत्ति। बाद में कहीं-कहीं सैद्धान्तिक निष्कर्षों को ऊपर से आरोपित करके कहानियों का ढाँचा खड़ा करने की भी कोशिश दिखलाई पड़ती है। किन्तु यह प्रवृत्ति कुछ थोड़े-से सिद्धान्तवादी लेखकों तक ही सीमित रही। इसके स्थान पर प्राकृत यथार्थ कुछ अधिक सूक्ष्म और कलात्मक रूप धारण करके यशपाल के उपन्यासों में आया। इसे हम रोमाण्टिक यथार्थवाद कह सकते हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में जिस जीवन और चरित्र का निरूपण किया उसकी एक उपलब्धि तो यह है कि वे पात्र किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पड़कर कम्युनिस्ट-संज्ञक प्राणी हो गए हैं और दूसरी उपलब्धि है कि यौन-व्यापार का अवरोध और आकर्षण नये साहसिक कार्यों और कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होता है। उनके उपन्यासों में यौन-वृत्ति का उभार अधिक है और समाजवादी यथार्थ का कम। तीसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं जिनमें सचमुच समाज से और लोक-जीवन से रस ग्रहण करके ऐसे पात्रों और चरित्रों का निर्माण किया गया है जहाँ हम सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व तथा सप्राण व्यक्तित्व दोनों पाते हैं। नागार्जुन की रचनाओं में यह विशेषता सबसे निखरे हुए रूप में मिलती है। कथा और काल की दृष्टि से भी इन उपन्यासों के दो वर्ग किये जा सकते हैं। एक तो वे जिनकी कथावस्तु ऐतिहासिक है और जिनमें विगत समाज की वर्ग-व्यवस्था और द्वन्द्वात्मक बोध चित्रित करने का प्रयास किया गया है। दूसरे वर्ग में वे उपन्यास आते हैं जो आज के सामाजिक जीवन को चित्रित करते हैं। इस लेख की सीमित परिधि में दूसरे वर्ग की विवेचना करना ही सम्भव हो सकेगा। इस वर्ग के सबसे प्रतिष्ठित लेखक यशपाल कहे जा सकते हैं।

यशपाल ने आधुनिक सामाजिक समस्याओं का चित्रण अपने 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'पार्टी कामरेड' उपन्यासों में किया है। 'दादा कामरेड' उनका पहला उपन्यास है, जिसने उन्हें हिन्दी में उपन्यासकार की दृष्टि से ख्याति दी। उनका 'देशद्रोही' उपन्यास उसी ढर्रे और शैली का

दूसरा उपन्यास है। जिसमें उनका नायक विभिन्न देशों की सैर करता हुआ भारत में कम्युनिस्ट-पार्टी के कार्यक्रम और सिद्धान्त के साथ-ही-साथ प्रेम-कला के अनेक पाठ सीखता हुआ अन्त में अपने को बलिदान कर देता है—कहा नहीं जा सकता प्रेम की वेदी पर या कम्युनिज्म की वेदी पर। उसी प्रकार 'पार्टी कॉमरेड' की भी कहानी है। इसमें भी नायक को अन्त में शहादत मिलती है लेकिन इसका निपटारा करना कठिन है कि वह शहादत प्रेम की है अथवा सिद्धान्त और आदर्श की। यशपाल जी ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने खुलकर अपने उपन्यासों में साम्यवाद के समर्थन का ध्येय स्पष्ट किया है और उन्होंने मार्क्स के इस कथन की सर्वथा उपेक्षा की है कि लेखक का दृष्टिकोण जितना ही प्रच्छन्न रहे कलात्मक सौष्ठव के लिए उतना ही अच्छा है। उदाहरण के तौर पर यदि हम 'देशद्रोही' उपन्यास की ही किंचित् विस्तार से चर्चा करें तो इसमें रोमांस और साम्यवाद का ऐसा अपूर्व गठबन्धन मिलेगा कि यह निर्णय करना कठिन है कि रोमाण्टिक यथार्थ ही चित्रण करना तो लेखक का उद्देश्य नहीं है। इनके तीनों उपन्यासों को पढ़कर विवश होकर इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि बिना प्रेम किये साम्यवाद की निष्णता नहीं प्राप्त हो सकती।

'देशद्रोही' केवल भगवानदास खन्ना के ही रोमांस और भ्रमर-वृत्ति की कहानी नहीं है वरन् उसमें आनुषंगिक रूप से अन्य भी कई रोमांस फूटते हैं। बद्रीबाबू और राज का रोमांस अन्त में विवाह में परिणत होता है। लेखक ने इस रोमांस का वर्णन भी गांधीवादी (!) ढंग से किया है। अर्थात् उनके प्रेम का प्रत्यक्ष और खुला वर्णन नहीं किया गया है। वरन् वह रहस्यात्मक ढंग से अन्तराल में विकसित होता रहता है और एक दिन अत्यन्त सादगी से दोनों में विवाह हो जाता है। सुजान और यमुना में भी इसी प्रकार का प्रेम-व्यापार चलता रहता है। सुजान (बदला हुआ अफगानिस्तान का निसार) विवाह को एक बूर्जुआ फैशन समझता है और मैत्री को ही वह उपादेय मानकर उसीको रक्षणीय समझता है। इस प्रकार यही तीन स्त्री-पात्र इसमें हैं, सभी वैध या अवैध प्रेम में ग्रस्त हैं। कम्युनिस्ट आदर्श और जीवन का यही चित्रण है।

उपन्यास में चमत्कारपूर्ण घटनाओं का संघटन कथा में कौतूहल की वृद्धि भले ही करे किन्तु उसमें संगति, स्वाभाविकता और मर्यादा का निर्वाह नहीं हो पाया है। सभी पात्र इतने क्षीण, लघु व्यक्तित्व के हैं कि यह स्पष्ट हो जाता है कि कम्युनिस्ट समाज में सचमुच समाज की सर्वग्रासी सत्ता व्यक्तित्व के विकास और प्रसार को कुण्ठित कर देगी।

नारी-चरित्रों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। क्या नर्गिस, क्या गुलशन, क्या चन्दा और क्या राज और यमुना-सभी जैसे आत्मदान को, नारीत्व को समर्पित करने के लिए व्यग्र और आतुर हैं। नारीत्व का बोझ जैसे उनके लिए असह्य है। अवसर-अनवसर यशपाल जी के जिस किसी पात्र से उनकी भेंट हो जाय इस दुर्वह भार को उतार फेंकती है। यह है एक साम्यवादी की नारी-मूर्ति की कल्पना।

शिवनाथ के व्यक्तित्व को हल्का करने का लेखक ने जान-बूझकर प्रयत्न किया है। युद्ध-काल में कम्युनिस्ट-पार्टी की नीति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए खन्ना के चरित्र को माध्यम बनाया है। वे दलीलें अत्यन्त लचर और थोथी हैं। किन्तु शिवनाथ का चरित्र जैसे अनजाने में गरिमापूर्ण हो गया है। उसके सोशलिस्ट होने पर भी उसका अंकन करने में जैसे लेखक की कलम ने या उसकी चेतना ने, उसे धोखा दे दिया हो।

'पार्टी कामरेड' यशपाल जी के उपन्यासों में सम्भवतः सबसे अन्तिम रचना है, अतः उसे सबसे प्रौढ़ भी होनी चाहिए। पदुमलाल मावरिया नाम का लखपती किन्तु लफंगा व्यक्ति किस प्रकार गीता नाम की कम्युनिस्ट लड़की के प्रेम में धीरे-धीरे सुधरता हुआ अन्त में अपने को बलिदान कर देता है; यही कहानी इस छोटे से उपन्यास में लिपिबद्ध है। इस कहानी में मावरिया का चरित्र-परिवर्तन ही लेखक का उद्देश्य प्रतीत होता है मावरिया के चरित्र का जो विकास लेखक ने दिखाया वह केवल उसकी प्रेमासक्ति के कारण है। हाँ उसकी प्रेम-भावना में अन्तर अवश्य आ जाता है। पहले जहाँ उसके लिए नारी एक मन-बहलाव की वस्तु है वहाँ अब गीता के प्रति उसकी ममता बहुत गहरी हो जाती है। भावना का हल्कापन नष्ट हो जाता है और उसका स्थान ले लेती है प्रेम की तीव्र और प्रगाढ़ अनुभूति। इसी कारण वह अन्त में सिपाही-विद्रोह में बलिदान होता है। लेखक यह नहीं दिखला पाया है कि मावरिया के हृदयमें सामाजिक न्याय की प्रेरणा आ गई थी या नहीं। वह गीता की प्राप्ति की इच्छा से आगे बढ़ा था। प्रेम के लिए जैसे बहुत लोग बलिदान होते हैं उसी प्रकार मावरिया भी हुआ। अन्तर इतना ही है कि छुरे के फले के समान तीखी आँख वाली वह लड़की एक कम्युनिस्ट थी। सामाजिक न्याय का बिना बोध हुए यदि यही साधन कम्युनिज़्म के प्रचार का प्रभावशाली हथियार है तो हमें कुछ नहीं कहना है। क्या कम्युनिस्ट इसे स्वीकार करेंगे? किन्तु यशपाल जी में यह संस्कार कैसे आया? क्या 'साध्य की प्राप्ति ही साधन की सार्थकता है' इस सिद्धान्त के कारण! किन्तु इस प्रकार अर्जित किया हुआ साम्यवाद किस प्रकार के समाज की रचना करेगा?

रांगेय राघव ने 'विषाद मठ' और 'हुजूर' नामक दो उपन्यासों में आज के समाज के शोषण, नग्नता, दारिद्र्य और परवशता का चित्रण किया है। इन दोनों ही उपन्यासों में लेखक ने पाठकों की संवेदना को गहराई से स्पर्श किया है। 'विषाद मठ' में बंगाल की अभिशप्त मानवता का अत्यन्त हृदयद्रावक चित्रण है। बंगाल के एक गाँव को केन्द्र बनाकर लेखक ने अकाल की विभीषिका के विभिन्न पहलुओं का चित्रण किया है। एक मुट्ठी अन्न के लिए घर, खेत शरीर के बेचने का यह वर्णन अपने कटु यथार्थ में अत्यन्त दर्दीला है। कई पात्रों को लेकर लेखक अपने इस चित्र के विभिन्न दृश्यों को समग्र रूप से उपस्थित करता है। इस उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक आक्रोश और पूर्वग्रह से मुक्त होकर समाज की दारुण अवस्था का अत्यन्त यथार्थ चित्र खींचा है और अपनी सच्ची यथार्थता के कारण उपन्यास अत्यन्त संवेदनात्मक हो गया है। इसमें नग्न नारी है, किन्तु उसकी नग्नता, करुणा का उद्रेक अधिक सफलता से करती है। कामुकता तो उस करुणा के आवेग से धुलकर न जाने कहाँ लुप्त हो जाती है।

'हुजूर' बीस वर्ष के आधुनिक युग के क्रमानुसार भिन्न-भिन्न चित्रों का एक लड़ी में पिरोया हुआ उपन्यास है। एक विलायती कुत्ता पहले अंग्रेज सुपरिंटेंडेण्ट के यहाँ की शान-शौकत, शासन और हुकूमत, प्रतारणा और अत्याचार का वर्णन करता है। फिर वह हरिप्रसाद के यहाँ का अनुभव सुनाता है। वह पुराने रईसों, विलासिता, आय-व्यय, चमक-दमक सबमें अजीब। भीतर की कुत्सा और बाहर का रौब दोनों में घोर विषमता। हरीप्रसाद का जमाना बिगड़ जाता है। फिर एक मेहतर के घर और वहाँ से मटरूमल के यहाँ उसे पनाह मिलती है। मटरूमल की जमींदारी जब बिक जाती है तो वह एक ग़रीब चित्रकार के यहाँ जाता है। वहाँ के जीवन की घुटन और कुण्ठा और मजबूरी का दुःखद दृश्य। फिर एक मध्यम वर्ग के जीवन का अनु-

भव और वहाँ ग़रीब पादरी, हताश लेखक और सालिगा-जो ताँगा वाला था—सबका एकत्र अनुभव। शिवसिंह के साथ रहकर मध्यम वर्ग की दुर्बलता, ऊपरी मुलम्मे और भीतरी खोखला-पन का अनुभव। आखिर में निराश्रित एक नितान्त भूखी भिखारिन की बगल में बैठा एक दृश्य देखता है और इसी दृश्य में जैसे सारे दृश्यों का समाहार हो जाता है: "एकाएक मैं चौंक उठा। कुछ विलायती अफ़सर भारत आये थे। उनका सरकारी इन्तजाम था। मेरी और जो ओ कोहन (भूतपूर्व सुपरिंटेंडेण्ट की पुत्री और दामाद (लें०)) के साथ मटरूमल और एम० एल० ए० चमन मोटर में ताज देखने जा रहे थे। उनके पीछे मोटर में वही थानेदार था जो साहब के यहाँ आता था, वह अब डी० एस० पी० हो गया था, क्योंकि अंग्रेजों ने उसके कारनामों की बड़ी तारीफ की थी। इसी मोटर में बिगड़े रईस रमेशसिंह भी खुशामद में बैठे थे। नवाब तो पाकि-स्तान चले गए थे, पर उनके कांग्रेसी भाई भी थे। थोड़ी देर बाद एक खूबसूरत तवायफ को लिये मटरूमल का बेटा उसी सड़क से सिकन्दरे की तरफ मोटर में गया। वह भी नेता था। तवायफ ऐसी बनी-ठनी थी जैसे उच्च-वर्ग की स्त्री हो। मैं देखता रहा। शाम को सुखराम, भैया, भिशन और हरवंश को साइकिलों पर दफ्तरों में बबुआई बजाकर लौटते देखा। उनके कटोरदान साइकिलों पर रखे थे। वे हारे हुए, थके हुए थे। सालिग रिक्शा खींच रहा था। वह और गरीब हो गया था, मरियल हो गया था। मैंने देखा उस रिक्शे में घबराया-सा लेखक था और वही पादरी उसके सामने हाथ फैलाकर खड़ा हुआ। लेखक ने दो पैसे उसके हाथ पर डाल दिए। रिक्शा चला गया। पादरी झुका हुआ-सा धीरे-धीरे चला गया।"

"वही अनाड़ी वकील इस वक्त बड़ी मोटर में जा रहा था।....उसका भी कांग्रेस में रिश्ता था।....तभी गुरु, शिवसिंह, मदरासी लेखक और सरल हृदय रामसिंह तथा मुसाफिरलाल मकान ढूँढ़ते हुए दिखाई दे रहे थे। आजकल वे सब सड़क के बाशिन्दे थे जिसे अंग्रेजी में कह सकते हैं 'केयर ऑफ़ फुट पाथ।"

"मैं हँसा। न जाने क्यों और कैसे मैं हँसा।....लौट चला। मन्दिर में सामने देखा मटरू-मल की वही बीबी डेढ़ मन घी का दीपक जलवाकर निकली थी"......पुण्य कमाने का तरीका सीधा ही था।"

जैसा कि इस अन्तिम उद्धरण से स्पष्ट है, लेखक ने भिन्न-भिन्न वर्ग का जीवन-दृश्य भिन्न-भिन्न खण्ड-चित्रों के रूप में उपस्थित किया है और अपनी ओर से कोई आलोचना या उपदेश न देकर सांकेतिकता के आधार पर विभिन्न वर्गों की स्थिति और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से इस उपन्यास में शोषक-समाज पर कड़ी चोट वह करता है। सशक्त भाषा में वह समाज के गलित घृणित शोषक-वर्ग की तसवीर खींचता है। इन खण्ड चित्रों की एकसूत्रता बराबर कायम रखी गई है और बदलते हुए जमाने के बीच लेखक ने दिख-लाया है कि ऊपरी परिवर्तन हुए, मनुष्य के अनुबन्ध-मात्र, बदले किन्तु समाज के शोषित मानव और प्रताड़ित नारी उसी प्रकार, सम्भवतः उससे भी अधिक हीनतर जीवन बिता रहे हैं।

इस पुस्तक में शासक, शोषक, पूँजीपति और पेशेवर नेताओं के जीवन में नैतिक पतन और चारित्रिक ह्रास दिखाते हुए ऐसे चित्र उपस्थित किये गए हैं जिनसे उत्कट विलासिता की गन्ध आती है। शोषक-वर्ग का यह नैतिक ह्रास दिखाना इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि गरीबी की कितनी बड़ी कीमत शोषित समाज को चुकानी पड़ती है। अंग्रेज-अफ़सर के घर उसकी पुत्री

की कामुकता और मतलब निकल जाने पर धोबी के लड़के की निर्मम हत्या, सेठ हरिदास के घर में खुला व्यभिचार, मटरूमल और उनके पुत्र का नग्न अनाचार, मसूरी में सौन्दर्य और नारीत्व का खुला क्रय-विक्रय, मटरूमल की जमींदारी में कारिन्दे और मैनेजर की ऐयाशी—इनमें चित्र कुछ अतिरंजित अवश्य हो गए हैं, फिर भी उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न करने के लिए ही उनका विधान किया गया है। इस पुस्तक में व्यंग्य अत्यन्त तीखा और चुटीला है।

नागार्जुन मार्क्सवादी लेखकों में ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में भूमि से—सीधे लोक-जीवन से—रस ग्रहण करके उन्हें रसमय-संवेदनपूर्ण बनाया है। 'रतिनाथ की चाची' 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' चारों की रचनाओं में मैथिल प्रान्त की शस्य-श्यामला भूमि, सघन आम की अमराइयाँ और तालाब-पोखरों से निरन्तर सिंचित कृषि आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। वहाँ के निवासी, स्त्री-पुरुष अपने सहज रूप में चित्रित किये गए हैं। वहाँ के ग्रामीण समाज का पूरा संश्लिष्ट चित्र-सा आँखों के सामने तैरने लगता है। 'रतिनाथ की चाची' में उन्होंने विधवा ब्राह्मणी के करुणा-विगलित जीवन का आँसुओं से भीगा चित्र उपस्थित किया है। इस उपन्यास में लेखक समाज की विषमता, स्वार्थपरता और उसके बीच नारी का उत्पीड़न बड़े ही मार्मिक ढंग से उपस्थित करता है। वह मूलतः सामाजिक समस्या को ही लेकर समाज के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है। इसमें वह बहुत अंश में सफल भी होता है। देश की धरती से उत्पन्न पात्र और उसके रहने वाले निवासियों की वास्तविक समस्याएँ, सब-कुछ स्वाभाविकता की मिठास लेकर आती है। हाँ, कहीं-कहीं कुछ वर्णन और प्रसंग अनावश्यक हैं, जैसे रतिनाथ के जीवन में अप्राकृतिक व्यभिचार की चर्चा इसी प्रकार अन्त में चाची का कम्युनिस्ट हो जाना और रूस की विजय चाहने लगना अत्यन्त अस्वाभाविक और ऊपर से थोपा हुआ-सा लगता है।

'बलचनमा' में उन्होंने उसके मुँह से ही उसकी जीवन-कथा कहलाई है। बलचनमा देहात के भूमिजीवी श्रमिक का लड़का है। लड़कपन से ही वह जमींदार के घर भैंस चराने के लिए नियुक्त हो जाता है। फिर उनके रिश्तेदार फूल बाबू के साथ पटना जाता है। वहाँ की जिन्दगी देखता है। सत्याग्रह-आन्दोलन में फूल बाबू जेल चले जाते हैं। लौटकर आने पर वे एकदम गांधीवादी हो जाते हैं। उनके साथ कुछ समय बिताकर वह फिर घर आता है। उसके जमींदार मालिक उसकी सयानी बहन रेवती के साथ छेड़खानी करते हैं। वह दाँत से काट लेती है। बड़ा हल्ला मचता है। बलचनमा पर थाने में चोरी की रिपोर्ट होती है। वह भागकर फूल बाबू के यहाँ जाता है। कांग्रेसी सत्याग्रहियों का आश्रम है। वहाँ फूल बाबू से भेंट होती है। किन्तु फूल बाबू इस मामले में उसकी अवज्ञा कर जाते हैं। वहीं राधे बाबू से भेंट होती है, जो इस आश्रम के संचालक हैं। वह उनकी सेवा में नियुक्त हो जाता है। यहाँ रहकर उसे इन सत्याग्रहियों के जीवन का समीप से परिचय मिलता है। राधे बाबू से अलग होकर घर पर गौना कराने आता है। विवाह के बाद वधू आती है। गृहस्थी मजे से चल निकलती है। इसी बीच खेतों पर संघर्ष होता है। जमींदार किसानों की भूमि से वंचित करने के लिए सारी ताकत लगा देते हैं। संघर्ष को बलचनमा संगठित करता है। एक रात सोते में जमींदार के आदमी अचानक उस पर हमला करते हैं और मरणान्तक चोट से उसे जख्मी कर छोड़ जाते हैं। इस उपन्यास में भी लेखक ने मिथिला के जीवन का बड़ा सजीव चित्र खींचा है। सभी वर्णनों से उनकी

अभिज्ञता और वहाँ की भूमि और जीवन से निकट सम्बन्ध और ममत्व टपकता है।

बलचनमा के चरित्र में फिर भी आखिर में असाधारण त्वरा आ गई है। जमीन के संघर्ष में जिस प्रकार वह नेतृत्व ग्रहण करता है और बुनियादी बातों की पकड़ जितनी दृढ़ हो जाती हैं उसके लिए कुछ और भी उपयुक्त पृष्ठभूमि बनानी चाहिए थी।

इस उपन्यास में राजनीतिक सिद्धान्तों को लेखक ने आग्रह के साथ आरोपित किया है। फूल बाबू और राधे बाबू तथा अन्य कांग्रेसियों के प्रति उसका व्यंग्य तो तीखा और मार्मिक है और उसकी पृष्ठभूमि भी वह उपयुक्त ढंग से उपस्थित करता है। किन्तु बलचनमा की प्रेरणा का स्रोत क्या है, ठीक समझ में नहीं आता। सोशलिस्ट-आन्दोलन का समर्थन और अभिनन्दन उन्होंने किया है, जो भूमि-आन्दोलन की लड़ाई को आरम्भ करते हैं। किन्तु अपने को कम्युनिस्ट घोषित करने वाले नागार्जुन ने यह श्रेय सोशलिस्ट-आन्दोलन को कैसे दिया जब कि इनके अन्य साथी उन्हें गद्दार और दूसरे सुन्दर विशेषणों से सम्बोधित करते हैं। यदि दृष्टि की व्यापकता का यह सूचक है तो दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। कम्युनिस्ट-पार्टी में सहिष्णुता और उदारता तथा अपने से अतिरिक्त दूसरों की नीयत के प्रति असन्दिग्ध होना असम्भव-सा है। साहित्यकार तो जब तक उदारता से व्यापक जीवन में सहानुभूति से प्रवेश करके वहाँ के सत्य को नहीं देखने की चेष्टा करता तब तक उसकी रचना में वह भावभूमि नहीं आ पाती जहाँ पाठकों की चेतना पूर्णरूपेण विकसित हो सके।

नागार्जुन ने इस उपन्यास में और दूसरे भी उपन्यासों में कहीं-कहीं उच्छृङ्खलता का परिचय दिया है। 'रतिनाथ की चाची' में अप्राकृतिक व्यभिचार का और इसमें अत्यन्त फूहड़ शब्दों के प्रयोग का। यह मानते हुए भी कि उन शब्दों के अर्थ सम्भवतः दूसरे शब्दों से व्यक्त नहीं हो सकते फिर भी उनका प्रयोग अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः ऐसा करके वे अपने को सोलहों आना यथार्थवादी सिद्ध करना चाहते थे। किन्तु उनका ध्येय तो समाजवादी यथार्थ का चित्रण करना है; प्रकृतिवादी यथार्थ नहीं।

'नई पौध' सम्भवतः नागार्जुन की सबसे नई रचना है। इसका कथानक और वस्तु यद्यपि बहुत पुरानी है किन्तु लेखक ने उसको बिलकुल नये अनुबन्ध, नई परिस्थिति और नये वातावरण में चित्रित करके सर्वथा मौलिक रूप में उपस्थित किया है। खोखाइ झा की नतिनी विश्वेश्वरी विवाह-योग्य हो गई है। मिथिला में सोराठ का मेला लगता है और वहाँ पर विवाहेच्छु बहुत-से वर एकत्र होते हैं। वहीं पर कन्याओं के अभिभावक जाकर दूल्हे ठीक करते हैं। खोखाइ झा बड़े चलते आदमी थे! अपनी हरेक कन्या के विवाह में उन्होंने अच्छी रकम खड़ी कर ली थी। इस बार भी नहीं चूकना चाहते थे। एक साठ वर्ष का कई बच्चों का पिता, वह उन्होंने ठीक किया। गाँव में कुछ नौजवानों का गिरोह था। उसने निश्चय कर लिया था कि यह अनमेल विवाह नहीं होगा। उन्होंने इतनी युक्तिपूर्वक साथ ही दृढ़ता से विरोध किया कि द्वार पर आये हुए बूढ़े दूल्हे को निराश हो लौट जाना पड़ा। फिर दूल्हे और खोखाई झा का षड्यन्त्र चलता रहा। इसी बीच इन नौजवानों के नेता दिगम्बर ने वाचस्पति नामक अपने एक बाल्य मित्र को, जो सोशलिस्ट होकर सारा समय जन-आन्दोलन में लगा रहा था विवाह के लिए तैयार कर लिया। अन्त में बड़ी सादगी से यह विवाह सम्पन्न हुआ और सारे गाँव को अपार सन्तोष हुआ। यह कहानी, जैसा स्पष्ट है, एकदम पुरानी थीम के आधार पर है। फिर

भी नये पात्र, नई विशेषता और नई भूमिका में सभी चीजों में अपूर्व आकर्षण है। लेखक ने इस उपन्यास में भी सामाजिक समस्या को ही मुख्य वस्तु के रूप में अपनाया है। किन्तु उसीके चित्रण में उसने अभिप्रेत सभी समस्याओं का थोड़ा-बहुत निर्देश कर दिया है। इस उपन्यास में भी मैथिल-जीवन जैसे मुखर हो गया है। लोक-जीवन से इतनी अभिन्नता लेखक ने स्थापित कर ली है कि उसकी रचना इससे ओत-प्रोत है। यह रचना अपनी सभी पहली खामियों से वंचित है। न तो इसमें कहीं भद्दगी है और किसी प्रकार के राजनीतिक या सैद्धान्तिक विचारों का अंध मोह ही है। कवि, लेखक और कलाकार को जिस प्रकार क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठकर जीवन में मुक्त-हृदय होकर प्रवेश करके उसकी रसानुभूति करनी चाहिए वैसी दृष्टि नागार्जुन की इस नये उपन्यास में है।

भैरवप्रसाद गुप्त भी नये उपन्यास-लेखकों में कम्युनिस्ट-पार्टी के समर्थक हैं। उनके उपन्यासों में उनका पार्टी-रूप ही मुखर हो पाया है, कलाकार-रूप अभी तक पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं हो पाया है। उन्होंने अपने उपन्यास 'मशाल' में यद्यपि कहानी का ढाँचा खड़ा कर लिया है, किन्तु उसमें स्वाभाविकता और स्वानुभूति दोनों का शोचनीय अभाव है। बौद्धिक रूप से साम्यवादी होकर उनके हृदय, भाव और दृष्टि में वह दर्शन समरस नहीं हो पाया है। लेखक ने नरेन को कहीं-से-कहीं लाकर पटक दिया है।

संक्षेप में, हिन्दी में लिखे गए मार्क्सवादी उपन्यासों का यही इतिहास है। कम्युनिस्ट साहित्यकार जिस जोश, उफान और आग्रहपूर्वक जन-जीवन की चर्चा करते हैं उसका यथार्थ रूप हमें उनकी रचनाओं में बहुत कम मिलता है। लोक-जीवन की चर्चा तो बहुत होती है किन्तु उस जीवन से एकात्मकता स्थापित करके उसका संवेदनात्मक चित्रण—स्वाभाविक और यथार्थ रूप में—ये उपन्यासकार बहुत कम कर पाये हैं। इनमें अधिकांश मार्क्सवादी दर्शन के सिद्धान्तों और मोटी मान्यताओं से परिचित हैं और उस दर्शन की मान्यताओं को आँख मूँदकर अपनी रचनाओं में विभिन्न शैलियों और साहित्य-प्रकारों का जामा पहनाकर उपस्थित करते हैं। हम हिन्दी के किसी भी कम्युनिस्ट उपन्यासकार के चरित्र-चित्रण और पात्रों में देश के सच्चे रूप का प्रतिबिम्ब नहीं पाते हैं। जन-जीवन और लोक-चेतना के सच्चे रूप को समझने और चित्रित करने की क्षमता बहुत कम कम्युनिस्ट उपन्यासकारों ने दिखाई है। वे तो क्रान्ति की पूर्णता केवल मजदूरों के श्रेणीबद्ध आन्दोलन के द्वारा ही सम्भव मानते हैं, क्योंकि मार्क्स और लेनिन ने ऐसा कहा है। हिन्दुस्तान-जैसे पिछड़े देश में जहाँ उद्योगीकरण अपनी शैशव अवस्था में है, मुट्ठी-भर मजदूर कैसे जन-क्रान्ति कर सकते हैं, यह स्थूल सत्य उनकी समझ में नहीं आ पाता है। भारतीय जीवन के सच्चे रूप की अवतारणा करने की जो स्वस्थ परम्परा प्रेमचन्दजी ने आरम्भ की थी वह आज भी हिन्दी में बेजोड़ है। नागार्जुन का इस दिशा में प्रयास अवश्य अभिनन्दनीय है। लोक-जीवन के प्रति सच्ची व्यथा और सहानुभूति जब तक हमारे कलाकारों के हृदय में नहीं उत्पन्न होती तब तक केवल बौद्धिक ममत्व के आधार पर अच्छी रचना वे नहीं दे पाएँगे। हमारे यहाँ के कम्युनिस्ट उपन्यासकारों की रचनाएँ इसी कारण जन-मन को छू सकने में असमर्थ रहेंगी।

आवश्यकता आज यह है कि हमारे साहित्यकार अन्य देश, काल और परिस्थिति के अवलोकन से स्थिर की गई मान्यताओं का अन्धानुकरण करना बन्द करें। ऐसा न करना बुद्धि, समझ तथा प्रतिभा सबके बन्ध्यापन को प्रमाणित करना होगा। हमारे यहाँ प्रेरणा का ?

अजस्र उत्स है—उस विशाल भारत-भूमि के प्रांगण में रहने वाले अनन्त जाति, विचार और परिस्थिति-पालित निवासियों का बहुरंगी जीवन। आज का युग-सत्य हमारे कलाकारों को अभि-व्यंजना देने के लिए आवाहन कर रहा है।

प्रभाकर माचवे

समकालीन भारतीय उपन्यास

(प्रस्तुत निबन्ध में जितनी भी भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का विकासेतिहास मुझसे जमा हो पाया है मैंने दिया है और इधर का स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय उपन्यास की स्थिति का चित्र देकर भावी सम्भावनाओं की ओर इंगित किया है। स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययन में संकलन का कार्य अधिक है, स्वतन्त्र अथवा मौलिक चिन्तन का कम। मेरा कार्य केवल जानकारी एक स्थान पर जमा-भर करने का रहा है, अतः सारा श्रेय, जिन अनेक अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के लेखों-पुस्तकों आदि से लाभ उठाया है, उन्हें है। —लेखक)

तेलुगु

दक्षिण भारत में सर्वधिक हलचल मलयालम और तेलुगु भाषाओं में दिखाई देती है। तेलुगु में जेम्स ज्वाइस के ढंग पर 'संज्ञा-प्रवाह'-शैली में 'बुचीबाबू' नामक लेखक ने दो उपन्यास लिखे हैं। एक है 'चैतन्य-स्रवन्थी'। इसमें मद्रास की एक ट्राम में जाने वाले अफसर किस्म के एक आदमी के मन में आधे घण्टे में जो-कुछ घटित होता है, वह दरसाया गया है। बातचीत के साथ-साथ उसका मन अन्तर्मन में भी डुबकी लेता जाता है और इस प्रकार से अबाध-अमर्याद ढंग से मध्यवित्त वर्ग के सहप्रवासी ट्राम-यात्रियों का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। बुचीबाबू का दूसरा उपन्यास है 'चिवरकु मिगिलेदी' (जो शेष है !) इसमें आधुनिक आंध्र युवक के आदर्शों की उपलब्धि और प्रयत्नों का लेखा-जोखा है। इस कथा का नायक दयानिधि अपने आस-पास की दुनिया को समझने की जान लड़ाकर कोशिश करता है, पर आस-पास की दुनिया है कि उसे बिलकुल नहीं जानना चाहती। न उसे सुख मिलता है न उसकी प्रेयसी कोमली को; पर वह फिर भी अपने आदर्शों के प्रति एकनिष्ठ है। इसीमें उसके जीवन की ट्रेजेडी घटित होती है। रचकोंडा विश्वनाथ शास्त्री का 'अल्पजीवो' अर्थात् अतिसाधारण, नगण्य व्यक्ति एक दूसरा आधुनिक उपन्यास है। यह अभी पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुआ परन्तु सुब्बैय्या नामक अत्यन्त सामान्य व्यक्ति की कहानी इसमें इस प्रकार से कही गई है कि वही असामान्य हो उठी है। इसमें भी मनोवगाहन का प्रयोग खूब किया गया है। सीधे वर्णन और वृत्त-कथन कम-से-कम काम में लाये गए हैं। सुब्बैय्या की विचार-श्रृङ्खलाएँ अनवरत चलती हैं, दफ्तर में वह अफसर द्वारा घुड़कियाँ खाता है और घर में पत्नी की ओर से उपेक्षा और विडम्बना; फलतः वह स्कूल की अध्यापिका के साथ अनैतिक सम्बन्ध-जैसे कुछ प्रेम में समाधान खोजने का विफल प्रयत्न करता है। जी० वी० कृष्णराव का प्रथम श्रेणी का उपन्यास है 'किलु बोम्मुलु' (कपड़े की दुकान में बाहर सजाव के लिए रखी हुई पुतलियाँ)। एक गाँव का चित्रण इसमें है। गाँव शहर के बहुत नजदीक है। इसमें घोर स्वार्थ और भयानक अनुत्तरदायित्व के साथ-साथ देश-प्रेम

और स्वार्थ-त्याग का चित्रण भी चलता है। यह उपन्यास यथार्थवादी है और सब पात्र परिस्थितियों के हाथों की कठपुतलियाँ हैं, ऐसा दिखाया गया है।

मलयालम

स्वातंत्र्योत्तर मलयाली उपन्यास में दलित और उपेक्षित वर्गों के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। विशेषतः चरित्रों में मुस्लिम तथा ईसाइयों के चित्र बहुत अच्छे खींचे गए हैं। थकाजी, बशीत, केशव देव और एस० के पोट्टेकाट ने छोटे उपन्यास और कहानियाँ रचीं। देव की 'ऑडयिल निन्नु' (वंशी से), थकाजी के (या तच्चि), 'थोट्टियुदे मकन' (भंगी का लड़का) और 'रंदिडु गाजी' (दो नाप) और पोट्टेकाट के 'मूडपटम्' (घूँघट) और 'विषकन्यका' आदि उपन्यास समकालिक जीवन और समस्याओं को अधिक स्पष्टता से उभारकर रखते हैं। विदेशी उपन्यासों में से कई श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद मलयालम में हुए हैं : यथा हार्डी की 'टेस', फ्लाबेयर की 'मदाम बॉवरी', तालस्ताय का 'पुनर्जन्म', गोर्की की 'माँ', पर्लबक की 'अच्छी धरती' आदि।

मलयालम में उपन्यास-साहित्य जब आरम्भ हुआ तब बंगाली-उपन्यासों के अनुवादों से। कुछ अनुवादक मूल का नाम देते थे और कुछ वैसे ही उड़ा लेते थे। ये आरम्भिक उपन्यास एक तरह के रोमान्स ही थे। परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में नवयुग आने के लिए बहुत लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी। बशीर, तच्ची, शिवशंकर पिल्लै (जिनके एक उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है), पी० केशवदेव आजकल के प्रमुख उपन्यासकार हैं। त्रावनकोर-कोचीन में साक्षरता सर्वाधिक है और अंग्रेजी पढ़कर उपन्यास की क्षुधा का समाधान अधिकांश ईसाई, पोप्ला मुसलिम आदि केरलवासी कर लेते हैं। परन्तु इधर जातीय चेतना के विकास के साथ-साथ व्यंग-प्रधान, सामाजिक आशयपूर्ण प्रगतिवादी कथा-साहित्य मलयालम में जोरों से निर्मित हो रहा है। प्रेमचन्द, प्रसाद, टैगोर, घोष, चटर्जी, डी० एल० राय, किशनचन्दर, अब्बास आदि की रचनाओं के अनुवाद मलयालम में हो रहे हैं और सवा करोड़ मलयालम भाषी जनता उत्तरोत्तर 'सामाजिक यथार्थवाद' से भरे साहित्य की ओर आकृष्ट हो रही है। यहाँ तक कि 'अवन्तिका' के एक अंक में किसी सज्जन ने लिखते समय उसे 'सोवियट रीयलिज्म' कह डाला।

तमिल

उपन्यासकारों में सर्वप्रथम नाम रा० कृष्णामूर्ति 'कल्कि' का लिया जाता है। गये बीस वर्षों से पता नहीं किस अखण्ड प्रेरणा-स्रोत से वे प्रति सप्ताह पन्द्रह से बीस पृष्ठ पहले 'आनन्द-विकटम्' के और अब 'कल्कि' के एक-न-एक सामाजिक-ऐतिहासिक धारावाहिक उपन्यास के लिखते-छपाते ही जाते हैं। यह क्रम कभी टूटा नहीं है और तमिल जनता का रस भी उनकी चीजों में अटूट है। 'कल्कि' लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। पी० एम० कन्नान के उपन्यासों की कई आवृत्तियाँ (संस्करण) हुई हैं। 'वाज्भविन् ओलि' (जीवन-ज्योति) को कळाई वेलर्चि कळागम् (कला-साहित्य-संघ) की ओर से सर्वश्रेष्ठ उपन्यास का पुरस्कार दिया गया। उस उपन्यास में मानव-मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन है। उनका सबसे नया उपन्यास है 'कन्निकादानम्' (कन्या-दान), जो उनकी पहली कृतियों से और भी अच्छा है। शंकरराम अँग्रेजी और तमिल दोनों में

बड़ी खूबी से लिखते हैं। वाइ, महालिंगम् शास्त्री संस्कृत के पण्डित हैं; साथ ही समाज-सुधारपरक एक उपन्यास 'नामोन्द्र निनैक्क' ('मेरे मन कछु और है, विधना के कछु और' या 'मनसा चिन्तयेतम् कार्यम् दैवमन्यत्रचिन्तयेत्') में अमीर घर के विवाह-उत्सवों की मूर्खताओं का दम्भ-स्फोट किया गया है। 'कळाइमगळ' नामक पत्रिका प्रतिवर्ष सर्वोत्तम तमिल-उपन्यास को १०००) का पुरस्कार देती है और वही उपन्यास धारावाहिक रूप से उस श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका में छपता रहता है। इसके द्वारा कई लेखिकाएँ सामने आईं जैसे राजम् राममूर्ति, के० सरस्वती अम्माल, 'अनुत्तमा' राजम् कृष्णन् आदि। का० श्री० श्रीनिवासाचार्य ने महाराष्ट्र के वि० स० खांडेकर के उपन्यासों के अनुवादों से बड़ी ख्याति पाई है। 'क्रौंचवधम्', 'तरिन्-नक्षत्रम्' (उल्का, इसका अनुवाद मैंने हिन्दी में किया है; का० श्री० श्री० के अनुवाद तमिल में चार संस्करणों में गए हैं) आदि खाण्डेकर के तमिल अनुवादों में प्रमुख हैं। मुझसे श्री० वि० स० खाण्डेकर बतला रहे थे कि मूल मराठी से उन्हें जितनी आय हुई उससे अधिक अन्य तमिल अनुवादों से उन्हें हुई। खाण्डेकर गुजराती में भी अनुवादित हुए हैं। अखिलन नामक लेखक ने 'नेन्जिन् अलह-गल' (हृदय की लहरें) लिखकर अपनी पुरानी सब कृतियों से अधिक ख्याति पाई है। चिदम्बर सुब्रमणियन् ने 'हृदय नादम्' (हृदय का नाद) नामक उपन्यास में संगीत तथा मौन में प्राप्त वास्तवता की खोज का चित्रण किया है। का० ना० सुब्रमणियन् ने अपने 'पोइत्तेवु' (मिथ्या प्रकाश) और 'ओरु नाल' (एक दिन) उपन्यासों में हिन्दू-समाज में होने वाले आधुनिकता-जन्य परिवर्तनों का चित्रण किया है। उपन्यासकारों में सबसे नये हैं 'आरवी'; जिनके 'युवथी' (युवती) और 'अनैय्य विलक्कु' (न बुझने वाला दिया) में प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व तथा विवाह-सुधार का सनातन-सम्मत समाधान दरसाया गया है। डॉक्टर त्रिपुर सुन्दरी अथवा 'लक्ष्मी' ने कई पठनीय उपन्यास लिखे हैं। एम० वरदराज नार को इस वर्ष का सर्वोत्तम उपन्यास का पुरस्कार मिला है। वह उपन्यास है 'कल्लो काव्यियो' (पत्थर है या काव्य ?)। इस उपन्यास में दाक्षिणात्य शिल्प-कला के इतिहास की कहानी कलात्मक ढंग से कही गई है। विदेशी उपन्यासकारों का प्रभाव पड़ा है, पर कम। तमिल-साहित्य में वैसे भी सहसा नये प्रयोग नहीं होते; उसके प्राचीन साहित्य की विरासत का बोझ बहुत भारी है। उपन्यास लिखने वाले बढ़ रहे हैं परन्तु उनमें गुणात्मकता बढ़नी जरूरी है। अण्णादुराई, करुणानिधि आदि लेखक प्रगतिशील उपन्यास भी लिख रहे हैं और उनमें मूर्तिभञ्जन और विद्रोह का आक्रोश अधिक है। १९५३ में 'पेण कुरल' (नारी-स्वर) नामक उपन्यास को कलैमहल ने पुरस्कार दिया है। उसीमें मायावी का 'अपिन ओली' (प्रेम की झंकार) नामक उपन्यास भी छपा है। दिनमणि कदिर तुमिलन का 'विवाह-टूट गया' नामक उपन्यास क्रमशः छप रहा है। 'कावेरी' में ति० शेषाद्रि का 'नीरोट्टय' (धारा-प्रवाह) छपा है। इस उपन्यास में भूदान के आधार पर जमीन के बँटवारे, साम्प्रदायिकता-विरोध आदि समस्याएँ हैं। लक्ष्मी का उपन्यास 'अड्डत्तवीड्ड' (पड़ोसी घर) 'आनन्द विकटम्' में धारा-वाहिक छपा। 'बंगला' से वन्दना और गुजराती से 'मनोरमा' उपन्यास अनूदित हुए हैं।

कन्नड़

लघु कथाकारों ने उपन्यास लिखने शुरू किये और उपन्यास ही अधिक लिखते रहे। शायद मूल कारण आर्थिक है। उपन्यास अधिक बिकते हैं, कहानी-संग्रह कम। कई उपन्यास कहने के

लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर हैं, पर हैं वे निरे रोमांस! राष्ट्रीयता बरायेनाम होती है। एम० एस० पुट्टण्णा, बी० वेंकटाचार और वी० गलगनाथ को छोड़ दें तो कारन्थ सबसे बड़ा नाम इस दिशा में है। उनके प्रथम उपन्यास 'कन्याबालि' से वे आगे बढ़ते गये और 'मरलि मण्णिगे' (धरती की ओर, इस उपन्यास का अनुवाद बाबूराव कुमठेकर ने हिन्दी में किया है और वह अप्रकाशित है।) अँग्रेजी में भी इसका अनुवाद 'बैक टु स्वायल' नाम से हुआ है। 'मुंगिद युद्ध', 'औदर्यंड उरुलल्लि', 'कुडियर कूसु' आदि कारन्थ के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिने जाते हैं। ए० एन० कृष्णराव ने कन्नड में सबसे अधिक संख्या में उपन्यास लिखे हैं। सभी अच्छे नहीं हैं। उन पर आरोप है कि उनके कई उपन्यासों में सैक्स का नंगा और पिपासामय चित्रण है। इन सब आरोपों के उत्तर में कृष्णराव ने एक पुस्तक लिख डाली—'कामप्रचोदने मट्टु साहित्य'। उनकी शैली बहुत रोचक है। उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है 'संन्ध्या राग'। इधर के उनके उपन्यासों में 'नटसार्वभौम' बहुत सफल बन पड़ा है। इसमें कन्नड-रंगमंच के इतिहास की झलक तो है ही, पर साथ ही एक नटश्रेष्ठ के जीवन के उत्थान और पतन का मार्मिक अभिव्यंजन है। ए० एन० कृष्णराव को गत बीस वर्षों का रंगमंचीय अनुभव है। उसका उत्तम उपयोग इस उपन्यास में उन्होंने किया है। बी० एम० इनामदार के 'शाप' में आनुवंशिक दोषों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। क्या इस प्रकार के शाप से कोई मुक्ति है? भोले-भाले गरीबों पर यह कैसा सितम है? चरित्र कम हैं, चित्रण हृदयग्राही। बसवराज कट्टिमणि, कुलकुन्द शिवराव व्यंगमय शैली के उस्ताद हैं। अन्य सामाजिक उपन्यासकारों में कृष्णमूर्ति पुराणिक, के० अश्वत्थ-नारायण राव, एम० वी० सीतारमैया तथा श्रीमती इन्दिराबाई प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक उपन्यास-कारों में मास्ति वेंकटेश ऐयंगार के 'छिन्नबसयनायक' की बड़ी धूम है। वीरकेसरी का 'नगर-पारणी', ता० रा० सु० का 'नृपतुङ्ग', एम० एन० मूर्ति का 'चिक्कदेवराज' आदि अन्य ऐति-हासिक रचनाएँ हैं। पौराणिक उपन्यासों में 'विश्वामित्र' के वर्गहीन समाज-स्थापना के स्वप्न को लेकर लिखा हुआ श्री देवुडु का 'महाब्राह्मण' एक सशक्त, अध्ययनपूर्ण और प्रेरणादायक उप-न्यास है। ता० रा० सु० ने एक उपन्यास 'पुरुषावतार' नाम से लिखा है जिसमें भिखारियों की समस्या का समाधान है। एम० राममूर्ति ने कई जासूसी उपन्यास लिखे हैं।

मराठी

श्री० ना० पेंडसे के १६४८ से १६५२ में प्रकाशित तीनों उपन्यास एक-से-एक बढ़कर हैं। वे उत्तर कोंकण के ग्राम-जीवन का चित्रण बड़ी ही खूबी से करते हैं। उनके नाम हैं 'एल्गार', 'हद्दपार' और 'गारंबीचा बापू'। 'एल्गार' में हिन्दू-मुस्लिम-दंगे का वस्तुनिष्ठ चित्रण है। १६४७ में प्रकाशित बिवलकर की 'सुनीता' में लेखक द्वारा स्वयं नोआखाली की यात्रा के बाद पाये अनुभवों का मार्मिक मानवतापूर्ण चित्रण है। विभावरी शिरूरकर ने एक जरायमपेशा आदिवासी जाति के जीवन पर आधारित 'बलि' नाम का उपन्यास लिखा है, जिसके वर्णन और अपने विषय का ज्ञान अद्भुत है। वि० वा० शिरवाडकर 'कुसुमाग्रज' ने दो उपन्यास लिखे, जिनमें 'वैष्णव' में गांधीवाद का समर्थन है। मामा वरेरकर ने सामाजिक प्रश्नों को लेकर बराबर उपन्यास लिखे हैं। साने गुरुजी ने कुमारों और किशोरों के लिए बहुत प्रभावपूर्ण साहित्य लिखा। उपन्यासकारों की पुरानी बृहत्त्रयी-फडके-खांडेकर-माडखोलकर इस बीच में लिखते ही

रहे और प्रो० ना० सी० फड़के ने तो अब अपने उपन्यासों की संख्या सौ तक ले जाने की प्रतिज्ञा पूरी की है। परन्तु इन तीनों लेखकों के आरम्भिक उपन्यासों-जैसी महत्ता, साहित्यिक और कलात्मक गुणात्मकता अब इधर के उनके लेखन में नहीं पाई जाती। उनकी लेखनियाँ जैसे वृद्ध होती जा रही हैं। वार्धक्य को बाल्य का दूसरा संस्करण भी कहते ही हैं। वि० स० खाण्डेकर ने ग्यारह बरस बाद 'अश्रु' उपन्यास मराठी को दिया, जिसमें उन्होंने अपनी पुरानी लेखन-शैली और आदर्शवादी कुहालि मान्यताएँ भी बदल दी हैं। आलोचक अदवन्त के शब्दों में—"इस उपन्यास से खाण्डेकर ने एक नया काल-खण्ड अपने साहित्य-जीवन में शुरू किया है।" इसमें शंकर नामक निम्नमध्य वर्ग के पात्र का जीवन अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक और यथार्थवाद से युक्त चित्रित है। मराठी उपन्यास का एक नया आशा-स्थान है गोपाल नीलकण्ठ दांडेकर। आपकी 'शितू' और सम्प्रति 'सत्यकथा' में क्रमशः छपने वाली 'पडघवली' कोंकण की चित्ररम्य पार्श्वभूमि पर ग्रामीण मानवों के सशक्त चरित्र-चित्रण का अभूतपूर्व कलात्मक आविष्करण है।

प्राध्यापक वि० वा० आम्त्रेकर के शब्दों में आधुनिक मराठी उपन्यास की स्थिति कुछ इस प्रकार की है :

"इस उपन्यास-साहित्य में आपको सर्वहारा-वर्ग का चित्र मिलेगा, राजकीय संघर्ष का वर्णन मिलेगा, हड़तालें, सत्याग्रह, मजदूरों का संघर्ष, वैवाहिक जीवन की चिकित्सा, प्रणय की रंगीनियाँ, साम्प्रदायिक दंगों का दर्शन, मध्य वर्ग की गरीबी का दैन्य, स्त्रियों की परवशता, लैंगिक स्वैराचार का स्वातन्त्र्य व उसका महत्त्व आदि बहुत-सी बातें मिलेंगी। सुप्त मन की कुण्ठाओं का ताण्डव, व्यावहारिक जीवन के आचरण का भ्रष्ट स्वरूप, भ्रष्टता का समर्थन भी कहीं-कहीं मिलेगा। कहीं नीति व अनीति के क्षेत्र एक-दूसरे में मिल गए हैं इसका प्रतिपादन आप पायेंगे तो कहीं स्त्री यह केवल उपभोग की सामग्री है ऐसा दृश्य आपको मिलेगा। कहीं तलाक की माँग है, तो कहीं एक-पत्नीव्रत का महत्त्व, तो कहीं पतिव्रत-भंग का औचित्य भी सामने आया है। कहीं पर विवाह और प्रेम समानार्थक हैं, भिन्न नहीं, इसकी अभिव्यक्ति हुई है; तो कहीं शरीर-सम्भोग और मनोधर्म इनका किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं इस प्रकार तात्त्विक मीमांसा भी दिखाई देगी। मराठी उपन्यासों के ये विविध विषय हैं जिनको उपन्यासकारों ने इन तीन वर्षों में छुआ है। उपन्यासकारों की लेखनी के ये विचित्र रंग-बिरंगे चित्र हैं। इस प्रकार इन कृतियों का उचित मूल्यांकन हो ऐसा आग्रह यदि ये उपन्यास करें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पाठक जैसा चाहते हैं वैसा यदि वे माँगें तो उनका भी कहना सही है। पर यहाँ तो सौदा करने वाले और सौदागर दोनों ही इस विचित्र व्यापार में ऐसे उलझे हुए दिखाई देते हैं कि अच्छे-अच्छे पारखी भी स्तब्ध होकर सोचने लगते हैं। तीस वर्षों में से इधर के पन्द्रह वर्ष विशेष अंधड़ से परिपूर्ण दिखाई देते हैं। पहले लेखकों की श्रेणी में, दिघे, बोरकर, शिरवाडकर, श्रीधर देशपाण्डे, विभावरी शिरूरकर, गीता साने, शान्ता शेलके, ठोलल, मर्ढेकर, पेंडसे, बिवलकर, प्रेमा कण्टक आदि अनेक लेखक व लेखिकाएँ अपनी औपन्यासिक कृतियों से उपन्यास के स्वरूपों में, शैलियों में, रचना में, कथोपकथन में, कथानकों में वैचित्र्य-पूर्ण परिवर्तन करने वाले सिद्ध हो चुके हैं। यह परिवर्तन इन्होंने बुद्धि-पुरस्सर किया है।"

पंजाबी

पंजाबी उपन्यास का जन्म-काल हिन्दी-उपन्यास के जन्म के समान ही उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिमकाल है। पंजाबी के सर्वविख्यात भाई वीरसिंह ने अपना ऐतिहासिक उपन्यास 'सुन्दरी' सन् १८९७ में लिखा। १८९९ में 'विजयसिंह' और १९०० में 'सतवन्तकौर' लिखे। सिख-इतिहास इन आरम्भिक उपन्यासों का मूलाधार था। भाई मोहनसिंह वैद्य (१८८३ से १९३१) ने हिन्दी और बंगाली उपन्यासों के पंजाबी में अनुवाद किये और धीरे-धीरे पाठकों में ऐयारी-तिलिस्मी से अलग और तरह के उपन्यास पढ़ने का भी चाव बढ़ता गया। नानकसिंह का पहला उपन्यास सन् १९२८ में 'मतरेई माँ' (सौतेली माँ) नाम से निकला। इसमें लेखक के शब्दों में यह विषय है—"मेरी गली में एक दरजी ने नया विवाह किया। उसकी पूर्वपत्नी से एक पुत्र था। उस माँ-विहीन बालक की कहानी ने इस उपन्यास को कथानक दिया।" अब तक नानकसिंह २४ उपन्यास लिख चुके हैं। इनके उपन्यासों के विषय स्पष्टतः सामाजिक सुधार के आदर्श से अनुप्राणित हुए हैं। जालन्धर-रेडियो-स्टेशन से 'मैं कैसे लिखता हूँ' वार्ता में उन्होंने कहा था—"मेरा धर्म, मेरी प्रियतमा, मेरा इष्टदेव है केवल एक ही वस्तु 'मनुष्यता' और केवल 'मनुष्यता'।"

१९४७ के बँटवारे का सर्वाधिक असर पंजाबी-साहित्य पर पड़ा। इस बँटवारे को लेकर पंजाबी में करतारसिंह दुग्गल, नानकसिंह, अमृता प्रीतम और सुरिन्दरसिंह नरूला ने एक-एक उपन्यास लिखा। दुग्गल चरित्र-चित्रण की कला में विशेषता रखते हैं और साधारण पाठक को उनकी लेखनी अच्छी तरह पकड़ लेती है। सुरिन्दरसिंह नरूला ने इधर चार उपन्यास लिखे हैं। नानकसिंह के बाद नरूला का नाम लिया जाता है। नानकसिंह की ही तरह नरूला भी यथार्थ-वादी हैं; परन्तु कथानक की 'गुँधावट' (गुम्फन, गूँथना) उतना अच्छा नहीं होता और चरित्रों में भावुकता की ऊष्मा कम पाई जाता है। नरिन्दरपालसिंह ने इधर तीन उपन्यास लिखे हैं। सन्तसिंह सेखों का 'लहू मिट्टी' भी इसी काल की रचना है। नानकसिंह ने छः उपन्यास लिखे हैं। नरूला ने एक किताब पंजाबी उपन्यासकारों को लेकर लिखी है।

अमृता प्रीतम के उपन्यासों में एक खास तरह की ताजगी और दिल को छूने वाला दर्द है। उनके तीन उपन्यास हिन्दी में भी आ गए हैं : 'डाक्टर देव', 'पिंजर' और घोंसले'। अमृता-प्रीतम और करतारसिंह दुग्गल के पंजाबी से हिन्दी में आये उपन्यासों को देखकर एक ही शिका-यत करने का मन होता है और वह है भाषा। पहले पंजाबी-लेखक यथा सुदर्शन, 'अश्क' आदि उर्दू की मारफ़त हिन्दी में आये। उनकी भाषा ज्यादह मँजी हुई है। परन्तु अमृता और दुग्गल यद्यपि अपनी पुस्तकों पर अनुवादकों के नाम नहीं देते फिर भी जाहिर है कि यह हिन्दी उन दोनों की लिखी हुई नहीं है। वे पंजाबी से अनुवाद किसी भी साधारण भाषाविद् से करा लेते हैं और बाद में किसी माहिर से शायद सुधरवा लेते हैं। इस सेकेण्ड-हैण्ड, थर्ड-हैण्ड अनुवाद में भाषा के साथ बड़ी स्वतन्त्रता ले ली जाती है।

गुजराती

ग्रामीण जनता का पूर्वग्रह-विरहित-चित्रण ईश्वर पेटलीकर और चुनीलाल माडिया ने किया। विनोदिनी नीलकण्ठ ने ग्राम-जीवन की लोक-सम्मत प्राचीन रीति-नीतियों पर प्रकाश डाला

है। मनुभाई पंचोली का नाम उपन्यासकारों में गौरव से लिया जाता है। सरोजिनी मेहता ने अपने उपन्यास 'अमरवेल' में हिन्दू-समाज-व्यवस्था का पूरा व्यवच्छेदन किया है। किशनसिंह चावड़ा का 'अमासनाँ तारा' रेखाचित्रों का संग्रह है जिसमें उन्होंने छोटी-छोटी चीजों को बहुत गहराई से देखा है और उन्हें नई सार्थकता अर्पित की है। इधर झवेरचन्द मेघाणी की मृत्यु से गुजराती साहित्य की एक अपूरणीय क्षति हुई है।

गुजराती उपन्यास-साहित्य के विकास में मुन्शी-दम्पति, रमणलाल वसन्तलाल देसाई, स्नेह-रश्मि आदि पुराने लेखकों के दीप-स्तम्भ अक्षय कीर्तिवान हैं। परन्तु अब नई चेतना को लेकर जो कुछ लिखा जा रहा है उसे पन्नालाल पटेल ने अधिक उभारा। बीच में 'सरी जाती रेती' को लेकर बहुत वाद-विवाद मचा, हिन्दी के 'नदी के द्वीप' की तरह। परन्तु वह धूल उठकर नीचे दब भी गई। गुजराती ने इस काल-खण्ड में इस दिशा में कोई बहुत बड़ी, असाधारण उपलब्धि नहीं की।

उड़िया

नित्यानन्द महापात्र, हरेकृष्ण मेहताब, शुकदेव साहु आदि ने सामाजिक उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में यथार्थवाद पर अधिक जोर है। अतः चरित्र-चित्रण के पुराने आदर्श जैसे इधर उपेक्षित होने लगे हैं। कालिन्दीचरण पाणिग्राही लिखते हैं—"वर्णनों या विचारों की नवीनता का प्रायः अभाव होता है। आकारहीन, उद्देश्यहीन उनका स्वरूप है, जिनसे उन्हें बचाना आवश्यक है। उनमें कला कम और कृत्रिमता अधिक बढ़ती जा रही है।" कान्हुचरण महन्ती मार्क्सवाद से प्रभावित लेखक हैं। मानव-जाति की कथा के रूप में आरम्भ-काल से अब तक की इतिहास-गाथा वे लिख रहे हैं, जिसका पहला भाग 'शर्वरी' प्रकाशित हो चुका है। गोपीनाथ महन्ती जी उनके भाई हैं उन्होंने 'परजा' नामक उपन्यास में उड़ीसा की आदिम जाति का वर्णन दिया है। पुस्तकों की बिक्री का वही हाल है जो और भाषाओं में : ५०० से से १००० तक का पहला एडीशन मुश्किल से बिक पाता है। दूसरे संस्करण बहुत कम किताबों के होते हैं। इस प्रकार से फकीर मोहन द्वारा लगाया हुआ और 'सब्ज-युग' के अन्नदाशंकर राय-जैसे लेखकों से बढ़ाया हुआ यह उपन्यास का पौधा लहलहा रहा है, सुपुष्पित और सुफलित हुआ है। वामपक्षीय झुकाव बहुत स्पष्टतया लक्षित है।

असमिया

उपन्यासों में एक अभिनूतन पुनर्चेतना के दर्शन होते हैं। जीवन के प्रति अधिक सजगता, चरित्र का गहरा ज्ञान आदि ने उपन्यासों को अधिक सघन, अधिक बौद्धिक बना दिया है। अब सच्चे स्त्री-पुरुष निर्माण करने की ओर लेखकों का ध्यान अधिक है। मथुरा डेका का 'हुमुनियाह' (आहें) केवल मनुष्य की वेदना को लेकर लिखा गया है। प्रफुल्लदत्त गोस्वामी का 'केचा पतर का पानी (काँपते हुए पत्ते) युवकों के वासनामय, क्रोधमय, आर्थिक संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करता है; राधिकामोहन गोस्वामी के 'चकनैया' (मध्यबिन्दु) में एक भलामानुस समाज के साथ समझौता करने का यत्न करता है। 'कपिलि परिया साधु' नामक नवकान्त बरुआ के उपन्यास में कपिलि नदी के किनारे लोगों के हृदय में उठने वाली आशाओं और निराशाओं का चित्रण है।

असम के पल्ली-जीवन पर आधारित 'जीवनार बातत' नामक उपन्यास का पुनर्मुद्रण हुआ है। जोगेशदास ने उसका परिवर्द्धित संस्करण छापा है। उन्हींका दूसरा उपन्यास है 'शहरी पाई'। हितेश डेका के 'अजीर मानुह', आद्यानाथ शर्मा के 'जीवनेर तीनि अध्याय', घनकान्त गोगोई के 'सोनार, नांगल', गोविन्द महन्त के 'कृशकर नाति' आदि कुछ इस काल के उल्लेख-योग्य उपन्यास हैं। कुमुदेश्वर बरठाकुर और प्रेमनारायणदत्त ने इधर कई जासूसी उपन्यास लिखे हैं।

बँगला

माणिक बन्दोपाध्याय का 'तेइस बछर आगे परे' और नारायण गंगोपाध्याय का 'एकतला', असीम राय का 'ए कालेर कथा' वरेन बसु के 'रंगरूट' और 'महानायक' एक ही प्रकार के कटु-तिक्त उपन्यास हैं। नये उपन्यासों में विमल राय का 'साहेब बीबी गुलाम' ईस्ट-इण्डिया कम्पनी से अब तक के कलकत्ता की कथा है। अन्नपूर्णा गोस्वामी की 'मृगतृष्णिका' मनोविश्लेषण के नाम पर सैक्स का चित्रण है।

अचिन्त्यकुमार सेन गुप्त, अन्नदाशंकर राय, आशापूर्णा देवी, विभूति मुकर्जी, बनफूल (बल ईचन्द मुखोपाध्याय), बानीराय, विभूति बनर्जी, बुद्धदेव बसु, धूर्जटि मुखर्जी, गजेन मित्तिर, यायावर (विनय मुखर्जी), माणिक बनर्जी, मनोज बसु, ननि भौमिक, नारायण गांगुलि, नरेन्द्र मित्तिर, प्रेमेन्द्र मित्तिर, रमेश सेन, शैलजानन्द मुखर्जी, समरेश बसु, सरोजराय चौधरी, शरदिन्दु बनर्जी, सतिनाथ भादुरी, सुबोध घोष, सुबोध बसु, ताराशंकर बनर्जी, प्रतिभा बसु, उपेन्द्र गाँगुली आदि उपन्यासकारों के नाम गिनाकर जोगेन्द्रनाथ गुप्त लिखते हैं कि "सन् ४० के बाद बंगाली उपन्यासकारों की राजनीतिक चेतना प्रखर होती गई। उनके साहित्यकार पर भी उसका असर पड़ा। कई आधुनिकता-प्रेमी लेखकों ने पाश्चात्य विचार और रचना-शैली को अपनी कृतियों में उतारा और इस प्रकार से मनोविश्लेषण और यौन-समस्याओं पर जोर दिया। उनमें से बहुत कम लेखक दयापूर्ण या आशापूर्ण उच्चतर जीवन की आकांक्षा का चित्र दे पाते हैं। वे मनुष्य के भीतर की आत्मिकता को जैसे भूल गए हैं। यौन चित्रण होने से लोकप्रियता तो बढ़ती है, पर विवेकवान साहित्य-समालोचक उसकी निन्दा करते हैं।"[1]

उर्दू

घनश्याम सेठी के अनुसार "गए छः-सात बरसों में प्रकाशित उपन्यासों की संख्या गए बीस वर्षों में प्रकाशित उपन्यासों से कहीं अधिक है। अजीज अहमद, अबु-सईद कुरैशी, कृशनचन्दर, ए० हमीद, इन्तज़ार हुसैन, फिक्र तौंसवी, बलवन्तसिंह, हयातुल्ला अन्सारी, गुरुबख्श सिंह, जमील, परवेज, एम० असलम, रईस अहमद जाफ़री, महेन्द्रनाथ, इम्तयाज अली ताज, जमनादास अख्तर आदि ने उपन्यास के क्षेत्र में नये-पुराने प्रयोग किये हैं। अजीज अहमद के 'ऐसी बुलन्दी ऐसी-पस्ती' में हैदराबाद के नीचे-ऊँचे वर्गों की आचार-विधियों का बारीक अध्ययन है, ट्रैजेडी है। मगर वह समाज के कारण, व्यक्ति के चरित्र के कारण नहीं। कृशनचन्दर का 'तूफान की-कलियाँ' निरा तूफान-ही-तूफान है, कलियाँ हैं' मगर मसली हुई। अपने इन नये नाविलों

१. पी० ई० एन० के १९५४ के चिदंबरम् अधिवेशन में पठित निवन्ध १९४८ से १९५३ की बंगला-साहित्य की प्रगति से।

में रोमान की पृष्ठभूमि में कृष्णचन्द्र राजनीतिक रुझानों को प्रस्तुत करने का जो प्रयोग कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप ठोस मवाद उनके पाँव के नीचे से खिसक-खिसक जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्दों का एक रंगीन जाल उनके पास है, जिसमें वे अपने पाठक को बाँध लेते हैं, फिर भी ऐसा लगता है कि उनकी कला में वह पहले-सा शऊर और ठहराव कम होता जा रहा है। उनका नया उपन्यास 'जब खेत जागे' मेरे इस कथन का प्रमाण है। सन्देह नहीं कि कृष्णचन्द्र की जादूकार लेखनी ने इसमें रंगीनी भर दी है। पर इस छिछलेपन और साहित्यिक पक्ष की उपेक्षा का क्या किया जाय? स्वयं उर्दू के प्रगतिशील लेखकों में ही इस उपन्यास पर आपस में बड़ी ले-दे हुई है। मखदूम ने इसे 'घटिया और आमियाना' बताया है, और मजे की बात है, कृष्णचन्द्र ने उपन्यास मखदूम के नाम ही भेंट किया है। बम्बई में बैठकर तैलंगाना के कृषकों के जीवन की अभिव्यक्ति में कृष्णचन्द्र सर्वथा असफल रहे हैं।"

फिक्र तौंसवी के 'बीस हजार चिराग' में यही दोष है कि उपन्यास में मार्क्सवाद छलक-छलककर ऊपर उभर आया है। इसमें हयातुल्ला अन्सारी का 'माँ-बेटा' एक गांधीवादी तस्वीर पेश करता है और अधिक सफल है। रईस अहमद जाफरी-जैसे लेखकों का भी वही हाल है कि सस्ते-पन की ओर झुक रहे हैं। 'रूस्याह' फहासीयत तक पहुँचा है। महेन्द्रनाथ के 'आदमी और सिक्के' के सब पात्र ऐसी ही सैक्स की बीमारी के मरीज हैं। ए०-हमीद का 'दुरबे' विभाजन पर रामानन्द सागर के बाद एक अच्छी चीज पेश करता है। इन्तजार-हुसैन और जमनादास अख्तर ने अपहृताओं का प्रश्न उठाया है। ताज की बीबी हजाब ने मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का पहला उर्दू-प्रयोग 'अंधेरा ख्वाब' लिखा है।

हिन्दी

चलते-चलते हिन्दी की भी चर्चा कर लें। हमारे मत से स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में किसी महान् औपन्यासिक कृति की रचना नहीं हुई। जैनेन्द्रकुमार का 'त्याग-पत्र' या 'अज्ञेय' का 'शेखर' या यशपाल का 'देशद्रोही' या भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' अपने स्थान पर अभी भी हैं। इन सब लेखकों ने बाद में उपन्यास लिखे हैं। हिन्दी-साहित्य में 'मनुष्य के-रूप' और 'नदी के द्वीप' और 'विवर्त' और 'आखिरी दाँव' के रूप में बहुत-कुछ लिखा है। अच्छा, इन पूर्व सूरियों के अलावा किसी नये लेखक ने कोई मैदान मारा हो तो सो भी सच नहीं। वृन्दावनलालजी की 'झाँसी की रानी' की अभी भी धूम है और राहुलजी के 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' ही ज्यादा याद किये जाते हैं। केवल 'अश्क' ने प्रगति की है। कुछ पाठकों के अनुसार 'गर्म राख' में 'गिरती दीवारों' से ज्यादह गर्मी है; परन्तु उन्हींके समप्रान्त भाई देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिये' को न तो गोंड-जीवन की कहानी रखा, न म्यूजियम-पीस। नागार्जुन का 'बलचनमा' एक अस्ति-पक्ष में समझ लीजिये; वैसे आफीशियल प्रगतिशील 'गंगा मैया' और 'बीज' को भी मानते हैं। और मनोविश्लेषणवादियों ने, यथा डॉ० देवराज के 'पथ की खोज' (दो भाग), डॉ० धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', लक्ष्मीनारायणलाल का 'बया का घोंसला और साँप', और वैसे आत्म-श्लाघा बुरी मानी गई है 'परन्तु'....। इस उपन्यासावलि ने हिन्दी आख्यान-साहित्य को तीसरा आयाम दिया, नई डाइमेन्शन दी।

आई० ए० एक्स्ट्रास

समकालीन विश्व-उपन्यास : स्तर और आयाम

जैसा कि मैं अपने पिछले निबन्ध में कह चुका हूँ कि आधुनिक विश्व में मानवता के प्रति सबसे बड़ा अपराध, मानव की भौतिकता ने ही किया है।[1] राजनीतिकों, अर्थ-शास्त्रियों, वैज्ञानिकों, शिक्षकों तथा लेखकों से मनुष्य को ईश्वर से बिना सम्बन्धित किये हुए ही उस पर सोचना प्रारम्भ कर दिया है। मानव-जीवन के अर्थ तथा यथार्थ को समझने के लिए उन्होंने धर्म को अप्रासंगिक कहकर टाल दिया है। उन्होंने इस वास्तविकता से दृष्टि फेर ली है कि मनुष्य अनौपचारिक ढंग से धार्मिक है, ईश्वर पर केन्द्रित है, और यदि उसे ईश्वर से वंचित कर दिया गया तो अपनी इस दैवी भूख की तृप्ति के लिए वह विचित्र एवं भयावह ईश्वर की सृष्टि करेगा और उनको अपनी पूजा अर्पित करेगा—जैसे राज्य, जाति और मानवता।

परम्परागत दृष्टि के अनुसार मनुष्य अपनी समस्त सत्यता एवं गहराई से, अपनी सम्पूर्ण सत्ता से ईश्वर का प्रेमी है। वह तभी मनुष्य-रूप में सत्य है, तभी अपनी प्रकृति के प्रति सबसे अधिक ईमानदार है, तभी वह वह है जो वह होना चाहता है, जब वह ईश्वर को पूर्णतया प्यार करता है और ईश्वर को अपनी समस्त महत्त्वाकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य तथा अपने समस्त क्रिया-कलापों का एक-मात्र केन्द्र मानता है, चाहे उसे पाने का मार्ग एकान्त-साधना या रहस्यमयी समाधियों द्वारा हो, चाहे मानव-मात्र की सेवा में ही उसका ईश्वर-प्रेम तथा उसकी ईश्वर-सेवा अभिव्यक्त हो। इस दृष्टि के अनुसार मानव अपने मूल्य तथा अर्थ ईश्वर से ग्रहण करता है। मूल्य—आध्यात्मिक प्रकृति के कारण ईश्वर के स्वरूप में निर्मित होते हैं और अर्थ—जीवन को ईश्वर की अनवरत खोज में ही बिताने के कारण नियति में व्यक्त होता है—यही उपलब्धि है, सुख है तथा ईश्वराधिकार है।

मनुष्य की लगन इतनी अधिक समृद्ध तथा शक्तिशालिनी है कि वह उसकी सत्ता को, उसके जीवन तथा कर्मों को एक अलौकिक अर्थ प्रदान करती है। मानववाद का यही वास्तविक आधार है और मानेयर (Mounier), जैक्वीज मैरिटेन (Jaques Maritain) और बर्दयेव (Berdyaev) आदि कुछ महत्त्वपूर्ण आधुनिक लेखक यह मानते हैं कि वास्तविक व्यक्तिनिष्ठा का भी यही एक मात्र सम्भव आधार है। इस पर तब अधिक आग्रह नहीं किया जा सकता जब कि मानेयर (Mounier) और मैरिटेन (Maritain) की तरह के व्यक्तिवादी यह कहते हैं कि हर व्यक्ति ईश्वर से ही अपने मूल्य, अपना वैभव तथा अपनी नियति प्राप्त करता है। वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य अपने सहभागियों का साथ छोड़कर महज एकान्त-साधना के

१. 'आलोचना '१०, पृष्ठ ६१।

माध्यम से जीवन के वास्तविक मूल्यों से न तो अवगत हो सकता है और न अपनी नियति को ही प्राप्त कर सकता है। वास्तविक धर्म ने, जो कि व्यक्तिपरकता की पवित्रतम अभिव्यक्ति है, सदैव व्यक्तिगत पूर्णता और स्वार्थपरक व्यक्तिवादिता को महत् पूर्णत्व की प्राप्ति के मार्ग में अस्वीकार किया है। वास्तविक धर्म ने सदैव इस बात पर आग्रह किया है कि मनुष्य जब तक अपने सहमार्गियों को प्यार तथा उनकी सेवा नहीं करता तब तक वह ईश्वर को न तो प्यार कर सकता है और न उसकी सेवा ही कर सकता है।

दुर्भाग्यवश धर्म की इस समृद्ध सामाजिक शिक्षा को उपेक्षित किया गया और यहाँ तक कि इसे 'प्यूरेटिनों' ने और कुछ पूर्वीय रहस्यवादियों ने भी अस्वीकार किया। उन्होंने मानव-मुक्ति को एकाकी व्यक्ति तथा ईश्वर के बीच का एक पूर्णतया व्यक्तिगत आदान-प्रदान माना है। इसने भौतिकवादियों को यह अवसर दिया कि वे धर्म को असामाजिक तत्त्व कहकर दोषी ठहराएँ।

इसके अतिरिक्त मनुष्य से सम्बन्धित बढ़ते हुए विज्ञान ने जैसे प्राणि-विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, सौन्दर्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा राजनीति आदि ने मनुष्य का सम्पूर्ण पक्ष न दिखाकर आंशिक पक्ष दिखाया है। मानव अपने भाष्यों की भटकती हुई भीड़-भाड़ से खो-सा गया है।

यदि हम मानव के प्रति आधुनिक लेखकों के दृष्टिकोणों का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन करना चाहते हैं तो यह दोनों ही बातें मस्तिष्क में रखनी होंगी। वे धर्म की बंजर, असामाजिक आदर्शवादिता पर अविश्वास करते हैं कि यह मनुष्य को सामाजिक कर्तव्यों की ओर से अन्धा बना देती है और उसे कर्म के जीवन से बाहर खींच ले जाती है। इसके अतिरिक्त वे मनुष्य का विज्ञान के विषय के रूप में अध्ययन करते हैं। वे उसे बौद्धिक बनाने का प्रयत्न करते हैं और ऐसा करने में वे उसे नष्ट कर देते हैं। जैसा कि बूबर (Buber) ने कहा है और हम सभी जानते हैं कि मात्र ज्ञान प्राप्त करना जड़ता है। अपने आन्तरिक जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करने, तथा अपने व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए उसे प्रेम का माध्यम अपनाना पड़ेगा। वास्तविक व्यक्ति वह है जो प्रेम का प्रत्युत्तर अपनी सम्पूर्ण सत्ता से देता है और जिसे प्यार करना उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है।

अधिकांश आधुनिक उपन्यासकारों ने उस भद्दी उत्सुकतावश मनुष्य का अध्ययन किया है, जो जीव-शास्त्रियों को कीड़े-मकौड़ों के व्यवहार तथा आदतों (विशेषतया उनके शारीरिक सम्पर्क की आदतों) की ओर प्रेरित करती है। उन्होंने आदमी से उसके मूल्य छीन लिये हैं, उसे उसकी महत्ता से वंचित कर दिया है और उसके व्यक्तित्व के रहस्यों को खोखला कर दिया है। इसमें आश्चर्य नहीं है कि मनुष्य को उसके ही व्यक्ति ने चकमा दिया है। ये लेखक हमें साँचे (Types)-मात्र देते हैं—आर्थिक साँचे, वासना-जनित साँचे, सामाजिक साँचे, सौन्दर्यवादी साँचे, आदर्शवादी साँचे—और इनमें से हर साँचे का सम्बन्ध किसी विशेष विज्ञान के आंशिक तत्त्व से होता है। वे हमें मात्र रेशे देते हैं, लेकिन उसे सम्पूर्ण कहकर प्रस्तुत करते हैं। अपने उपन्यासों में वे अपने कथा-चरित्रों को किसी स्वेच्छाजनित स्थिति में रखते हैं और उनकी मुखाग्रता को जितना अधिक स्वीकार कराने के योग्य बना पाने में समर्थ होते हैं उतना अपने विशेष वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार दिग्दर्शित कराने का प्रयत्न करते हैं।

हम पूछ सकते हैं कि ये कथा के साँचे में ढले हुए चरित्र मानव-प्राणी ही हैं। मैं ऐसा नहीं मानता ! वे ऐसे निश्चित साँचे हैं जिनकी पहले से ही उद्घोषणा की जा सकती है न कि आश्चर्यजनक स्वतः निर्मित व्यक्तित्व। सम्भवतः कॉडवेल (Caudwell) अधिक ग़लत नहीं था जब उसने कहा था कि अधिकांश बूर्जुआ लेखकों के लिए स्वतन्त्रता आवश्यकता की अनभिज्ञता ही है, जिसके अन्तर्गत वह कार्य करता है। स्वतन्त्रता के मूल्य के अभाव में ये कथा-चरित्र व्यक्तित्व के रहस्यमय आयामों से भी वंचित रहते हैं।

जे० मिडिलटन मरे (J. Middleton Murry) कहीं पर यह कहता है कि सौन्दर्य कुछ ऐसी वस्तु है जिसे हम उद्वेगपूर्वक स्मरण रखते हैं। मेरा विचार है कि हम बिना विचारों को क्षति पहुँचाए उद्वेगपूर्ण स्मरण की यह परीक्षा ऐसे व्यक्तियों पर भी लागू कर सकते हैं जिनके साथ हमने अपनी घनिष्ट तथा गहरी अनुभूतियों का आदान-प्रदान, चाहे वह एक क्षण के ही लिए क्यों न हो, किया है। ऐसी स्थिति में जब हम आधुनिक कथा का अध्ययन करते हैं तो हम कुछ क्षण ही चरित्रों के साथ घनिष्टता से व्यतीत कर पाते हैं। हम उनके आन्तरिक पूजा-गृह में प्रवेश पाते हैं और उनकी आशाओं, उनके भय, उनकी महत्त्वाकांक्षाओं और उनकी खीझ को बँटाते हैं। ऐसे कितने, हेमिंग्वे (Hemingway), गॉल्सवर्दी (Galsworthly), जीद (Gide), मॉम (Maugham), हक्सले (Huxley), हावर्ड स्प्रिंग (Howard Spring) तथा इनके समान लेखकों के चरित्र हैं जो वास्तव में अपनी समस्त तीव्रता और गहराई के साथ हम पर छाए रहते हैं। अधिकांशतः वे परछाइयों की आकृतियाँ हैं जिन्हें स्मरण रखने के प्रयत्न की आवश्यकता होगी। उनके सृजनकार लेखकों को उनके रक्त-मांस, उनकी रहस्यमयता, उनके छिछोरेपन, सनकीपन, बेढंगेपन से मतलब नहीं है उन्हें तो केवल अपने वैज्ञानिक साँचों तथा प्रतीकों से मतलब है। ये साँचे कितने भी आकर्षक क्यों न हों, हमारी सहानुभूति जाग्रत नहीं कर सकते, वे मात्र चलती-फिरती रुचि ही जगाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कार्य कितने भी अदने और मामूली हो सकते हैं। उनमें किसी भी गहरे अर्थ तथा मूल्य की कमी रहती है।

दूसरी ओर डिकेन्स के लिए यह वैज्ञानिक फ़ार्मूला बाधक नहीं था। उसने साधारण व्यक्तियों को भी स्नेह दिया और उनके जीवन के रहस्यों में सहानुभूतिपूर्वक प्रवेश किया। इसीलिए वह ऐसे चरित्र देने में समर्थ हो सका जिनसे एक बार मिलने पर हम उन्हें कभी नहीं भूल पाते जैसे डॉजर (Dodger) और लिटिल नेल (Little nell)। टैगोर में भी यही क्षमता थी, इसलिए डिकेन्स की भाँति उनकी कृतियाँ भी मानवीय आयामों की धनी हैं। आधुनिक उपन्यासकारों में भी मॉरिएक (Mauriac) के 'नॉट आफ वाइपर्स' (Knot of Vipers) का 'एमविटर्ड माइजर', 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का 'क्रिस्टन सोनिया' (Kriston Sonia), 'ब्रिटन रॉक' (Brighton Rock) का 'रोज़' (Rosea), 'एण्ड आफ़ एफेयरस्' (End of Affairs) का 'बेन्ड्रिक्स' (Bendrix); 'बर्नेनास' (Bernanos) के 'ज्वाय' (Joy) का 'चेण्टल' आदि कुछ चरित्र आवेशपूर्वक स्मरण रहते हैं।

बर्गसाँ (Bergson) अपने 'टू सोर्सेज़' (Two Sources) में कहता है, "यह समस्त ब्रह्मांड ईश्वर के हाथों में देवताओं के निर्माण के लिए एक बड़ा विशाल यन्त्र है। बर्गसाँ के कथनानुसार मनुष्य वह प्राणी है जो प्रेम करने में समर्थ है और इस धरती पर उसके लिए प्यार

पाना तर्क-सम्मत है। अपनी सृष्टि में ईश्वर सृष्टिकारों को उत्पन्न करता है, जो उसके ही बिम्ब हैं, ताकि वह अपने ही स्वतन्त्र अस्तित्वों से जो उसके प्यार पाने के योग्य हैं, मिल सके। अपनी सृष्टि में ईश्वर सृष्टिकारों की सृष्टि करता है अर्थात् ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तित्वों की, जिनकी नियति कुछ अंशों तक उनके स्वतन्त्र कर्मों का परिणाम है, इस दृष्टि से स्वतन्त्रता आवश्यक वस्तुओं में से चुनाव करने की क्षमता-मात्र ही नहीं है अपितु वह अथाह, रचनात्मक, रहस्यमयी शक्ति है जो नियति का निर्णय करती है। वास्तविक रचनात्मक कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह रचयिताओं की सृष्टि करे। यदि वह अपने चरित्रों को इतना बौद्धिक कर देता है कि वे सम्पूर्णतया अग्राह्य हो जाते हैं तो वह उन्हें नष्ट कर देता है। वह हमें व्यक्ति नहीं देता है बल्कि मात्र कठपुतलियाँ देता है जो डोर के सहारे नाचती हैं, चाहे वह फ्रायडवादी डोर हो, चाहे वह मार्क्सवादी डोर हो। उसे हमें उन स्वतन्त्र अस्तित्वों के रहस्यों से अवगत करना चाहिए, जो अपनी नियति के निर्णय में स्वतन्त्रतापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। सोनिया (Sonia) ऐसा ही व्यक्ति है और ऐसा ही सर्वोपरि व्यक्ति चेण्टल (Chantal) भी है। बेण्ड्रिक्स (Bendrix) स्वयं अपने इस महान् निर्णय से अवगत था, और हम उसके महत्त्व को अनुभव करते हैं।

ग्रीन, मौरिएक, बर्नेनास (Green, Mauriac, Bernanos) की कृतियाँ पढ़ने पर, यदि हम तनिक भी भावुक हैं तो यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि हम छाते हुए यथार्थ और बिगड़ते हुए मूल्यों के संसार में हैं। हम उस प्रश्न पर पुनः आ जाते हैं : 'वह क्या है जो मानव-मूल्यों को जन्म देता है?' मानवीय व्यक्तित्व का मूल्य क्या है? आज यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि किसी व्यक्ति की कीमत, इस बात पर नहीं कि वह क्या 'हो सकता है' बल्कि इस बात पर कि वह 'क्या है', आँकी जाती है। वह एक ऐसा प्राणी है जो स्वतन्त्रता, दिव्यता, सम्पूर्णता के मूल्यों पर मात्र मानव होने के नाते अपना अधिकार घोषित करता है। हम आगे पूछ सकते हैं : "क्या ये मानवीय मूल्य मानव से निकलने पर भी स्वयं में पूर्ण हैं या वे उसकी किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध के कारण अद्भुत हुए हैं, जो समस्त मूल्यों का आधार है।"

वर्तमान धर्म-निरपेक्ष मानववादी, जिनमें जीद (Gide) प्रमुख है, मानव को पूर्ण स्वतन्त्र मानता है, जो अपना मूल्य-मात्र स्वयं से ही प्राप्त करता है। जीद (Gide) का व्यक्ति-नाट्य जो-कुछ उसने लिखा है उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में जैसा क्लाडेल (Claudel) ने कहा था : "अपने औचित्य को स्थापित करने के अतिरिक्त जीद ने एक भी पंक्ति नहीं लिखी। जीद (Gide) का आजीवन प्रयत्न उसकी रक्षा का रहा है, जिसे उसने ग़लती से अपनी सम्पूर्णतया कहा है और जिसको उसने एकाधिकारिता और निरर्थक प्रयत्नों के रूप में समझा है। अपनी इस अतिरेकता की, जो उसे निरन्तर नीचे की ओर अग्रसर कर रही थी, रक्षा का इतना विशाल आयोजन-मात्र ही यह स्पष्ट सूचित करता है कि 'प्रोमेथियस (Prometheus) के बन्दी' होने वाली अपनी स्थिति का प्रदर्शन पूर्णतया असत्य और हास्योत्पादक है।

इसके उपरान्त मैक्स पिकार्ड (Max Picard) के कथनानुसार वर्तमान, अक्रमिक मनुष्य अनिर्मित और अस्थिर है और सदैव पलायन की ओर अग्रसर है और उस पलायन को ही पूर्ण सत्य मानता है—और इस विचित्र मनुष्य का प्रतिनिधित्व सार्त्र (Sartre) ने किया है। ऐसी दयनीय वस्तु के सामने क्या मूल्य हो सकते हैं? जैसा कि मैं अपने पिछले निबन्ध में

कह चुका हूँ मानव-मूल्य अर्थहीन है और वे धर्म-निरपेक्ष मानववादियों के वातावरण में खो जाते हैं।

मार्क्सवादी लेखक व्यक्ति के मूल्य का अनुमान उसके और साम्यवादी राज्य के सम्बन्ध पर लगाते हैं। राज्य ही पूर्ण सत्य है और वही समस्त मूल्यों का आधार है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं, यद्यपि ऑरवेल (Orwell) के अनुसार 'कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक समान हैं'। जैसे सीधे-सादे शब्दों में मेलेनकोव किसी भी अकुशल श्रमिक से अधिक मूल्यवान है। क्योंकि उसका योग अधिक आवश्यक और अधिक जरूरी समझा जाता है। "इण्टरनेशनल फेडरेशन फ़ार माडर्न लैंगुएज एण्ड लिटरेचर—आधुनिक भाषा और साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय संघ की बैठक में, जो कि हाल ही में आक्सफोर्ड में हुई थी, बरमिंघम यूनीवर्सिटी की मिस ई० काण्टैस (E. Kontaiss) ने कहा था कि आधुनिक सोवियत साहित्य में अपने विषय के प्रति लेखक का दृष्टिकोण सामाजिक आवश्यकताओं को देखकर निर्मित होता है। वहाँ की साहित्यिक पत्रिकाओं में वैज्ञानिक कार्यों के प्रस्तुत किये गए विवरणों को पढ़कर उन्होंने इस कथन की पुष्टि की—वे विवरण उपन्यास की शक्ल में तथा विख्यात वैज्ञानिकों के जनप्रिय जीवन-चरित्रों के रूप में पाए जाते हैं। वह न तो पलायनवादी साहित्य है और न ऐसे साँचे का साहित्य है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, व नैतिक तथा दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया जाता है, उसका विषय तो प्रकृति-विजय है, जो नये सोवियत साँचे के ढले हुए आदमी के नैतिक विकास से जुड़ी हुई है।"[1]

सोवियत कलाकारों का यह वर्गीकरण सर्व विदित है। सबसे हाल का उदाहरण ६ मई १९५४ के 'प्रवदा' (Pravda) से लिया जा सकता है, जिसने लिखा है कि सुरोव (Surov) एन० विरटा (N. Virta), टी० गाल्सानोव (T. Galsanov) और एल० कोरोबोव (L. Korobov) आदि लेखकों को नैतिक अपराध के कारण लेखक-संघ की सदस्यता से वंचित कर दिया गया है। उनके विरुद्ध जो दोषारोपण किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि उन्हें अनैतिकता के नाम पर नहीं बल्कि लेखकों और कलाकारों की मानव-मस्तिष्क और समाज दोनों में व्याप्त वास्तविक संघर्ष और तनाव के लिए और अधिक स्वतन्त्रता की साहसपूर्ण माँग पर यह सजा दी गई है।

इस नवीन जन-साहित्य का महत्त्व एवं मूल्य व्यक्ति पर नहीं बल्कि पूरे समाज पर लगाया जाता है। सम्पूर्ण राज्य को एक महान् सत्य के रूप में देखा जाता है जो चींटियों के विशाल अभियान की भाँति किसी दिव्य पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रहा है। किसी चींटी के जीवन का व्यक्तिगत नाट्य अपने समस्त व्यंग, दर्द, आकांक्षाएँ, प्रेम तथा घृणा के उपरान्त भी अहमत्वपूर्ण एवं अप्रासंगिक माना जाता है। मार्क्सवादी साहित्य का यह 'नया व्यक्ति' पूर्णतया मानव-मूल्यों से रहित है। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मार्क्सवाद पूर्णतया व्यक्तिवाद का विरोधी है। अतः मार्क्सवादी आदर्शों पर मानव-मूल्यों के निर्माण की आशा करना व्यर्थ है अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के धर्म-निरपेक्षक जिन दो प्रारम्भिक सत्यों को भूल गए थे उन्हें पुनः सीखने के लिए पश्चिम को मार्क्सवाद काफी मँहगा पड़ रहा है, प्रथम उस व्यक्ति के लिए जिसे किसी भी सीमा तक आर्थिक सहूलियत या रक्षा के साधन न प्राप्त हों, व्यक्तिगत समृद्धि और स्वतन्त्रता-मात्र एक क्रूर व्यंग हैं, दूसरे यह कि व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्व

१. 'लन्दन टाइम्स' से।

से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति के रूप में उसकी नियति और दूसरे व्यक्तियों से जुड़ी हुई है तथा उन पर आधारित है; हर व्यक्ति अपने को पूर्ण करता है और अपनी नियति को मात्र-एकाकी रूप में ही नहीं ग्रहण करता बल्कि उसमें वे सभी लोग, जो समाज को बनाते हैं, भाई-चारे के रूप में सम्बन्धित रहते हैं। क्या आवश्यक है कि उन दो प्रारम्भिक और स्वतः सिद्ध बातों को सीखने के लिए हम इतना करुणाजनक मूल्य दें?

यदि उस वन-पक्षी की स्थिति को, जो जीवन-पर्यन्त किसी सूने घर की खिड़कियों पर अपना पंख पटकता रहा हो, जिसमें कभी वह रह चुका, आप अकथनीय कारुणिक घटना मान पाते हों, समझ सकते हैं कि इससे भी कितनी अधिक करुणाजनक स्थिति उस व्यक्ति की हो सकती है जो अपने जीवन-पर्यन्त इस भौतिक जगत् की दीवारों से अपना सिर पटकता रहा है जिसे उसने अपनी मूर्खतावश बन्दीगृह बना लिया था। उसकी आत्मा असीम के लिए बनी है और असीम के प्रति अपनी इस लगन को वह कभी नष्ट नहीं कर सकता।

आस्था का आधार जिन लेखकों को प्राप्त है उन्हें मानव-नियति की तृप्ति के लिए इस संसार का रंगमंच अपर्याप्त लगता है, क्योंकि मनुष्य इस क्षणभंगुर और उस चिरन्तन दोनों ही संसारों का प्राणी है। यद्यपि वह अपनी नियति का निर्माण-काल और परिवर्तनों से बँधे हुए इस संसार में कर रहा है उस पर भी उसकी नियति इस संसार से ऊपर उठ जाती है, क्योंकि वह असीम है। आस्थावादियों के लिए मानव-जीवन, मानव का ईश्वर के प्रति अभियान-मात्र ही नहीं है अपितु वह ईश्वर का मानव के प्रति अभियान-नाट्य भी है। जैसा कि बर्दयाव (Berd-yaev) ने कहा है 'मानवीय नाट्य में ईश्वर का इतनी गहराई से बँधा होना' उस आस्था का आधार है जिस पर ग्रीन (Green), मौरिएक (Mauriac), बर्नेनास (Bernanos) और क्लाडेल (Claudel) आदि लेखक खड़े हैं। ईश्वर का यह बन्धन प्रत्यक्ष रूप से मानव-नाट्य को नवीनतर तथा उच्चतर स्तरों पर ले जाता है, वह मानव-जीवन की उपयोगिता और अधिक बड़े महत्त्वों के लिए मानता है और उसे एक नवीन और असीम आकार प्रदान करता है। इसी-लिए इन लेखकों की पुस्तकें पढ़ने पर मैंने कहा था कि हम गिरते हुए मूल्यों और उभरते हुए यथार्थ के युग में हैं। जहाँ मानववादी लेखक मात्र व्यवहारों के साँचे देखता है, ये लेखक निर्माण को और अक्सर एक असीम नियति के लिए तीव्र उत्सुकता और दर्द के साथ खड़े होते हैं। क्योंकि मानव-स्वतन्त्रता उनके लिए एक अथाह शक्ति है जिसके बल पर ही मानव असीम की चुनौती स्वीकार करता है और अपने हर निर्णय में असीम का सामना करता है। यह एक साहसपूर्ण कार्य है जिसके कारण मनुष्य स्वेच्छा से अपनी सत्ता को सौंपता है और इस सौंपने के सृष्टि-व्यापी परिणाम हैं। मनुष्य को ही यह आश्चर्यजनक शक्ति प्राप्त हुई है कि वह 'हाँ' या 'नहीं' कर सके, अपनी सत्ता को शक्तिपूर्वक, महत्त्वपूर्ण मानकर स्वीकार कर सके या अस्वीकार कर दे। इस स्वतन्त्रता का उपयोग एकांत साधना की रहस्यवादी अनुभूति में ही नहीं है अपितु दैनिक जीवन से भी है, साधारण मानवीय सम्बन्धों में है, ग्रीन (Green) की 'ह्विस्की प्रीस्ट' (Whiskey Priest) के पीड़ित, तीव्र निर्णयों में है, बेण्ड्रिक्स (Bendrix) की भयावह उपेक्षा में है, शेण्टल (Chantal) की हँसमुख गम्भीरता में है। स्वतन्त्रता का संसार नैतिकता का संसार है, अच्छे और बुरे का संसार है और इस संसार में ईश्वर सदैव अपने प्राणियों की स्वतन्त्रता को बचाता रहता है और उससे प्रत्युत्तर माँगता रहता है। बर्गसाँ (Berg-

sons) के शब्दों के महत्त्व को समझना चाहिए जबकि वह कहता है कि 'ईश्वर सृष्टिकारों की सृष्टि करता है।' ग्रीन (Green), वॉघ (Wagh), मौरिएक (Mauriac), बर्नेनास (Bernanos), क्लॉडेल (Claudel) आदि की तरह के कैथोलिक उपन्यासकार उस रचनात्मक स्वतन्त्रता की खोज में संलग्न है जहाँ दैवी महत्त्व और गम्भीर उत्तरदायित्व है। उनके अनुसार यही वास्तविक जगत् है और यही नास्तिक मानववादी का जगत् बिना मूल्यों का कथात्मक जगत्-मात्र हैं, जिसका कोई आकार नहीं है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है—जो माया है। जैसा कि मारिएक (Mauriac), १९५२ का नोबेल-पुरस्कार-विजेता, स्वीकार करता है कि "एक नास्तिक लेखक मुझे शैली के कारण पढ़ सकता है या इस विश्व के बारे में मेरा दृष्टिकोण जानने के कारण, जो अन्ततोगत्वा उसका ही जगत् है, दूसरी ओर वह मेरी रुचि को बाँध नहीं सकता। मेरे लिए जो वास्तविक जीवन है वह उसके चित्र में अनुपस्थित है। उसका रचनात्मक जगत् एक सीमा तक एक ईश्वर से संचालित हो सकता है और उसकी मानवता एक आत्मा से, लेकिन मेरे लिए वह अनाकर्षक है, अस्तित्व-विहीन है, इसी कारण मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि मेरी पुस्तकों का वातावरण एक नास्तिक के लिए असह्य है, क्योंकि उसकी रुचि किसी भी स्थल पर मेरे चरित्रों के भाग्य से बँधती नहीं। वे सब-के-सब मेरी तरह से एक ही केन्द्र पर सीमित किये जा सकते हैं, जिसे "पापमय, निकृष्ट मानव-आत्मा" कहा जा सकता है, जिसके अस्तित्व पर नास्तिक विश्वास नहीं करता।"

नास्तिक और मानववादी उत्तरदायित्व का भार सहन करने से डरते हैं। इस स्थान पर वे आज के मनुष्य से एकमत हैं, जो स्वतन्त्रता की बात कहता है लेकिन निर्णय के अयोग्य वह अपने को सौंपने से डरता है। सन्देह के वातावरण में पले होने के कारण उसकी कहीं गहरी आस्था नहीं होती और न दृढ़ निश्चय ही होते हैं। उसमें सहज क्षणिक उत्साह की योग्यता होती है, जिसके कारण वह जीवन की महत्तर समस्याओं से भागता है। वह असंदिग्धता के तट पर काँपता हुआ खड़ा रहता है जबकि आस्थावान साहस के साथ आगे बढ़ता है और अपने भाग्य का निर्णय करता है। आस्थाहीन मानव एक से अधिक अर्थों में आस्थाहीन होता है, वह सचाई और प्रेम के योग्य नहीं होता इसीलिए वह उन्मुक्त होने से डरता है। तानाशाही नहीं सन्देहवादी ही स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति के लिए लकवे के समान है। इन कैथोलिक उपन्यासकारों का ईश्वर—ईश्वर जो पिनकी (Pinkie), सारामाइल्स (Sara Miles), बेन्ड्रिक्स (Bendrix), भगोड़ा पादरी आदि की स्वतन्त्रता को बचाता है—वह मात्र एक भावुक मधुर मूर्ति-मात्र नहीं है, जिसकी बाहों में जीवन के यथार्थ से भागकर छिपा जा सके। यह ईश्वर मानव का स्वामी है, संचालक है, और नियमों का सृष्टिकर्त्ता है। एक पापी व्यक्ति, यदि वह पूर्ण मूर्ख नहीं है, अपने पापाचारों से स्वयं काँपता है, अपने नियमों को भंग करने से इस ईश्वर के सम्मुख स्वयं डरता है। यह ढोंग को असम्भव बना देता है। सफाई से बनाया गया झूठ, पलायन और बहानेबाजियों का महल, जिनके पीछे मनुष्य छिपता है, ढह जाता है और पापी व्यक्ति अपनी कुरूप नग्नताओं के साथ हतबुद्ध अपराधी-सा खड़ा रहता है। लेकिन चित्र का यह एक ही पहलू है। वही ईश्वर असीम प्रेम का भी ईश्वर है और ग्रीन (Green) की अभिव्यक्ति में 'वही "ईश्वर पागलों-सा प्यार करता' है।" कोई भी गम्भीर व्यक्ति यह अनुभव करने के लिए विवश है कि इस 'सशक्त प्रेमी' की समीपता उसे तोड़ देगी। जैसा कि 'पावर एण्ड ग्लोरी'

(Power & Glory) में पादरी कहता है—"मेरी तरह का आदमी एक मील दूर भाग जायगा यदि उसे यह ज्ञात हो कि उसके चारों ओर प्यार है।"

जब एक बार मनुष्य ईश्वर के प्रेम और सचाई के वेग को स्वीकार कर लेता है तो उसे प्रत्युत्तर में ईश्वर को प्यार करने से कोई नहीं रोक सकता, क्योंकि समर्पण का उत्तर समर्पण ही हैं। यही स्थिति साधारण व्यक्ति को डरा देती है, इसलिए वह मध्यम मार्ग के अनुसरण में ही अपने को सुरक्षित पाता है। जैसा बेण्ड्रिक्स (Bendrix) कहता है—"यदि मैंने कभी भी उस तरह का प्यार किया होता तो सभी कुछ समाप्त हो गया होता। उसे छोड़कर भी, उसे प्यार करने के अतिरिक्त और कोई सुख नहीं है। सरा (Sarah) मुझे भय लगता है।" ईश्वर को खो देने का कष्ट हो सकता है, लेकिन ईश्वर को पाने की भी एक भयावह पीड़ा होती है—जिसका कि नाम प्रेम है। इन लेखकों के जगत् में बहुत-सी बुराइयाँ भी हैं—पाप की बुराई। परन्तु 'अच्छाइयों' की तरह यह भी अलौकिक आकार ग्रहण करती हैं। हर पापी के अन्दर मिल्टन के शैतान की तरह का कुछ होता है जो अपनी भक्ति पर ईश्वर का अधिकार स्वीकार करता है, लेकिन निश्चय पूर्वक उस अधिकार को अस्वीकृत कर देता है यह कहकर—'पाप तुम मेरी रक्षा करो'। शैतान बच्चों को डराने-मात्र की गप्प नहीं हैं। इन सभी प्रौढ़ लेखकों में जैसा कि मैंने कहा है—मानव के पापों को भड़काने वाले के रूप में शैतान का चित्रण हुआ है—वही मानव के विद्रोह को भी उभारता है—शैतान मानव की स्वतन्त्रता के लिए ईश्वर से मिल जाता है। यह एक शक्तिशाली स्तम्भित करने में समर्थ त्रिभुज है, और मानव-स्वतन्त्रता इसका महत्त्वपूर्ण ढंग से निर्णय करती है। ऐसा दोषारोपण इन लेखकों पर किया जाता है कि इन्हें मानव-स्वतन्त्रता की झख थी, परन्तु वे उस रहस्य के अनुगत थे। जैसा कि मौरियाक कहता है—"वह कलाकार कहाँ है जो ईश्वर की दिव्य झलक को चरित्रनायक के रूप में माध्यम बनाने की कल्पना कर सके। यह हमारे दैन्य और दासता का चिह्न है कि हम बिना असत्य बोले हुए अपनी वासनाओं का चित्रण कर सकें।"

आधुनिक उपन्यासकारों के यही मूल्य हैं और यही उनके जगत् की परिधि है। डास्टवेस्की (Dostoyevski), ग्रीन (Green), मौरिएक (Mauriac), वॉघ(Waugh), बर्नेनास (Bernanos) में आपको ऐसे मूल्य प्राप्त होंगे, जिनको मापा नहीं जा सकता। जो स्वतन्त्रता और अलौकिक गति की परिधियों से भी परे हैं। जिसके सामने नास्तिकों और मानववादियों का जगत् नगण्य-सा लगता है। इस अलौकिक परिधियों के जगत् में मनुष्य स्वतन्त्रता की साँस लेता है। वह अपनी स्वतन्त्रता की चुनौती का सामना करता है, और साहसपूर्ण ढंग से उस चुनौती का उत्तर देने में ही वह अपनी नियति का निर्माण करता है।

—अनुवादक, सर्वेश्वरदयाल 'सक्सेना'

ज्योतिस्वरूप सक्सेना

उपन्यास का भविष्य ?

: १ :

कहते हैं कि बालजाक के पास क़ीमती लकड़ी का एक भारी सोटा था। उस सोटे पर खुदा हुआ था 'यह सोटा सबको तोड़ता है'। इस विचित्र मुद्रा का जो भी मनोवैज्ञानिक महत्त्व लोग निकालें लेकिन इतना तो है ही कि बालज़ाक के उस सोटे ने, जिसका नाम 'कामेडी ह्यूमेन' (Comedi Humaine) था, उन्नीसवीं शताब्दी की एकान्त आवेगों वाली दुनिया को झनझनाकर तोड़ दिया। बालजाक ने घोषणा की,'व्यक्ति और कुछ नहीं, सामाजिक छाया की मँडराहट-मात्र है।' बालजाक के आवेशपूर्ण और उद्दाम आशावाद ने व्यक्ति के रूपहीन संघर्ष को एक ढाँचा दे दिया, जिसका आधार इच्छा-शक्ति थी। आधुनिक जर्मन-उपन्यासकार काफ़्का (Kafka) ने बालजाक के इस बेंत की कहानी सुनी। संकोची, और दुनिया से समझौता असम्भव मानकर अपने-आपको एक दर्द के साथ मिटा देने में हल्का करुण विश्वास रखने वाले क़ाफ़्का को इस कहानी में भी अपने ऊपर व्यंग करने का एक अवसर दीख पड़ा। उसने भी एक छड़ी खरीदी और उस पर लिखा—'इस छड़ी को हर चीज तोड़ देती है'। बालजाक के शक्तिशाली सोटे से काफ़्का की नाजुक छड़ी तक परिवर्तन का एक क्रम है। यह परिवर्तन आधुनिक उपन्यास की दयनीय दशा को उभारकर प्रस्तुत करता है। आज हमसे कहा जाता है कि उपन्यास एक बन्द गली में पहुँचकर रुक गया है। अब जरूरत इस बात की है कि उसकी लाश की चीर-फाड़ की जाय। अन्तर्मन के तहखानों में प्रवेश, पौराणिकता और रीतिवाद का पुनरुत्थान, विषय-वस्तु की भावनात्मक गूँज को केन्द्र-स्थित काव्यात्मक प्रतीकों अथवा रूपकों की शृंखला द्वारा अभिव्यंजित करने का प्रयास, 'उपन्यास का संगीतीकरण' जिसकी तलाश आल्डुअस हक्सले (Aldous Huxley) का फ़िलिप क्वलिस (Phillip Quales) 'चरित्रों की पर्याप्तता' अथवा मिलकर बजते हुए रागों की तरह गूँजने वाले कथानकों में करता है या शोलोखोव (Sholokhov) और सामाजिक यथार्थवादियों में अभिव्यक्त इतिहास की यन्त्रवत् थप-थप करती हुई लय इन सबकी परिणिति आज के कला-रूप-सम्बन्धी (Form) संकट में होती है। निराशावादी तो यही कहेंगे कि हेमिंग्वे (Hemingway) का उद्धत पौरुष और पौष्टिक प्रतीकवाद, फाकनर (Faulkner) का चक्रव्यूहवर्ती अन्तर्मुखी एकालाप, डास पेसास (Dos Pasos) का सरकस, बुद्धिवाद या 'जागरूक स्मृतियों' के शिकंजे से 'खोई हुई घड़ियों' को बचाने के लिए प्रूस्त (Proust) का द्वन्द्ववाद, जीद (Gide) की वि-नैतिकता (Amoralism), जो उसकी इस इच्छा में व्यक्त होती है कि जीवन क्या एक टुकड़ा बिना योजनाबद्ध विभाजन के लम्बाई, चौड़ाई और गहराई से तराशकर निकाल लिया जाय। ज्वायस (Joyce) द्वारा संयोजित शैली या बुना-

वट के माध्यम से विषय का व्यंजनात्मक मूल्यांकन, वर्जीनिया वुल्फ़ (Verginia Wolf) का प्रयास कि 'सत्यतः सत्य' को व्यक्तियों, विचारों और वस्तुओं की ऐसी भाषा से बेध दिया जाय जिसमें मानव-अनुभूति के वे कोई आयाम न छूटें जो 'अहं और अ-अहं' बाह्य और अन्तस् में उलझे हुए हैं, जाक रीविएर (Jacques Riviere) का 'साहसिकता का रोमांस,' यहाँ तक कि कोलेत (Colette) या हेनरी ग्रीन (Henry Green) की तादृश्यवादी (Naturalistic) ऊपर से सरल दीखने वाली, टेकनीक यह सब उपन्यास को उबारने में समर्थ नहीं हो सके हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि उपन्यास से वीर-तत्त्व और प्रतिनिधि-चरित्रों का लोप इस कारण हो गया है कि आधुनिक समाज ने बाह्य और आन्तरिक संसारों की एकता को नष्ट कर दिया है। लुकाक्स (Lucacs) के अनुसार 'वस्तुपरक यथार्थ का यह विपर्यय' सामाजिक कारणों से हुआ है। 'मानव तत्त्व का अंग-भंग हो गया है' और उसकी परिणति इसमें हुई है कि 'मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सामाजिक और व्यक्तिगत' इन दो टुकड़ों में बँट गया है। दूसरे हैं, जो आधुनिक उपन्यासकार और पीलियास (Pelias) की बेटियों में समानता देखते हैं। जादूगरनी मीडिया (Medea) ने एक बूढ़े मेंढ़े को टुकड़े-टुकड़े करके काट डाला, एक अग्नि-कुण्ड में डाल दिया, जादू के कुछ मन्त्र कहे, और कुण्ड से एक जीता-जागता मेमना निकलकर खड़ा हो गया। पीलियास की बेटियों ने इसी प्रयोग द्वारा अपने बुड्ढे बाप का कायाकल्प करना प्रारम्भ किया, और उनके त्रास की सीमा न रही जब उन्होंने यह देखा कि बाप तो गया, गरमागरम शोरबा जरूर तैयार हो गया है। रूप-विधान की अतिरंजना, प्रयोगशीलता के बेतहाशा जोश-खरोश, ने उपन्यास की हत्या कर दी। या फिर यह भी कहा जाता है कि उपन्यास के स्वरूप में ह्रास पाठकों की रुचि और स्तर में ह्रास की प्रतिच्छाया-मात्र है। मनोविनोद के दूसरे साधन रेडियो, जासूसी उपन्यास, चलचित्र और टेलीविज़न, सर्वोच्च बिक्री वाली पुस्तकों का प्रचलन, भ्रमण-शील पुस्तकालयों का उन्मत्त पाठकवर्ग यह सब हमें बताया जाता है, उपन्यास की गम्भीर परम्परा को स्थापित करने में अड़चनें पैदा करती हैं। इस मत के अनुसार जिस वर्ग या पाठक-समुदाय ने उपन्यास को जन्म दिया था वह मर रहा है और समाजवादी या कम्युनिस्ट जीवन-निकायों के दबाव और अनिवार्यता के इस युग में इस विशेषतः मध्यमवर्गीय कला-स्वरूप के बचे रहने की आशा करना केवल बचपन है।

रूप-विधान की कठिनाई उपन्यास की प्रकृति में ही आबद्ध है। तत्त्वतः उपन्यास एक असन्तोषजनक कला-रूप है। उपन्यास को प्रत्यक्ष दिग्दर्शन (Presentation) और उद्भावना (Representation) दोनों ही व्यर्थ करने पड़ते हैं। उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी क्रिया की अनुकृति करे, कहानी कहे और साधारण जीवन की स्थापनाओं के अनुसार सत्य का विश्वसनीय अनुवाद प्रस्तुत करे। साथ-ही-साथ एक कला-कृति होने के कारण यह भी आवश्यक है कि वह हमारे अनुभव का मूल्यांकन भी करे, उस पर कलात्मक संचयन, संगति, एकता, एवं सार्थक तारतम्य के समुचित मानचित्र की छाप डाल दे; रूप-विधान के माध्यम से एक ढाँचा खड़ा करे, विषय-वस्तु की परिभाषा दे, यहाँ तक कि एक बृहत् सत्य में ढालने के लिए जीवन को विकृत भी कर दे। यही उपन्यास का विरोधाभास है। उसे हमारे अन्तर और बाह्य जगत्, इन दोनों भुवान्तों के सम्बन्ध को ऐसे माध्यम से प्रतिच्छायित करना होता है जो स्वयं ही उस बाह्य जगत् की अन्तिम उपज है। उपन्यास का उद्देश्य है 'काव्यात्मक सत्य का अकाव्यात्मक वक्तव्य' (एलीज़ाबेथ-

बोवेन), लेकिन कहानी का कथानक "अपने में ही अकाव्यात्मक वक्तव्य है; वह किसी भी काव्य-सुलभ छूट की माँग नहीं कर सकता। जिस क्षण से उसकी अनिवार्यता अथवा एक-मात्र-सम्भाव्यता परिलक्षित होने लगती है उसी क्षण से उसे 'मात्र-तर्क' के सहारे चलने के लिए विवश हो जाना पड़ता है।" "काव्यात्मक सत्य का सार यह है कि उसका कोई भी वर्णन अन्तिम नहीं हो सकता।" कथानक कृतिकार के यथार्थ अनुभव की पकड़ को भी अभिव्यक्त करता है। जैसा एलिजाबेथ बोवेन ने कहा है 'कथानक भाषा की क्रिया और क्रिया की भाषा है।' उपन्यासकार हमारे सामने घटनाओं का अनुवाद प्रस्तुत करता है स्वयं घटनाओं को नहीं, और सत्य के अपने इस अनुवाद को प्रस्तुत करते समय वह हमें उसकी अनुभूति भी अर्पित करता है। उपन्यास के रूप-विधान में ही आवश्यकता निहित है कि बाह्य जगत् के सामने एक विश्वास-योग्य दर्पण प्रस्तुत कर दिया जाय और साथ ही यह भी कि उसमें पड़ने वाली प्रतिच्छवि में कुछ ऐसा अर्थ भरा जाय जो बाह्य जगत् में नहीं है।

कवि की अखण्ड अनुभूति उसके लिए एक-मात्र सत्य, निरपेक्ष आदर्श प्रज्ञास्थित सत्ता होती है, उपन्यासकार की अखण्ड अनुभूति वस्तु-लिप्त और काल-ग्रस्त होती है। उसकी अनुभूति उसके चारों ओर आवेष्टित यथार्थ के टुकड़ों में बँटी होती है। कवि अपनी मान्यताओं का सृजन करता है, उपन्यासकार को उनका सृजन भी करना पड़ता है और व्याख्या भी। कवि की अनुभूति प्रतीक और बिम्ब में व्यक्त होकर चरमता को प्राप्त हो जाती है, उपन्यासकार की अनुभूति की जड़ें सत्य के प्रतीक एवं बिम्ब के स्पष्टीकरण तक पहुँचती हैं। दूसरे शब्दों में उपन्यासकार की अनुभूति ऐतिहासिक अथवा घटनात्मक होती है। वह परिवर्तनों और संक्रातियों की अनुभूति है, जिनमें एक अदृश्य सूक्ष्मता विद्यमान है। उसकी अनुभूति का केन्द्र नियति की वह धारा है जो जीवन के हर टुकड़े को प्रकाशित करती है। लेकिन उस जीवनांश को, जिसमें हमारी नियति का समन्वय और आंशिकता दोनों ही वर्तमान हैं, उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व के दृष्टिबिन्दु से ही पकड़ता और अनूदित करता है : साथ ही नियति की इस व्याख्या के दौरान में उपन्यासकार का व्यक्तित्व स्वयं बदल जाता है। उपन्यासकार का मूल मन्तव्य इस सीमा का उल्लंघन करना ही है, इस टुकड़े-टुकड़े यथार्थ को एक सार्वभौमिकता और अनन्तता प्रदान करना है जो उसमें अन्तर्मुक्त नहीं है। समस्या यह है कि इस कला-रूप में से ही उसे ये उपादान प्राप्त करने होते हैं जो स्वयं उसकी ऐतिहासिकता की अनिवार्यता को लाँघ सकें।

जेम्स ज्वायस (James Joyce) का डबलिन नगर भी है और एक नैतिक वातावरण भी। नगर के रूप में वह परिवर्तनशील जगत् की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है जिसकी छाया लियोपोल्ड ब्लूम (Leopold Bloom) की चेतना पर पड़ती है। नैतिक वातावरण के रूप में वह ज्वायस को विकलांग, बीसवीं शताब्दी की दुनिया की अनुभूति प्रदान करता है। एक बड़े पैमाने पर वह ज्वायस को एक विशेष क्षण में समस्त ब्रह्माण्ड की अनुभूति भी प्रदान करता है। डिकेन्स का लन्दन या सरवान्ने का स्पेन मूलतः काव्यात्मक अनुभूति अकाव्यात्मक अवतारणाएँ ही हैं जो बराबर एक बृहत्तर पूर्णता तथा मात्र इतिहास में अप्राप्य अधिक जीवन्त गहराई को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ज्वायस की अनुभूति रिल्के (Rilke) अथवा ईलियट के संसार की अखण्डता की ओर खिंचती जाती है, किन्तु उस अखण्ड को कभी प्राप्त नहीं कर सकती। जिस समय कल्पना अत्यन्त वेग के साथ भावना की ढालों पर दौड़ती है तभी उपन्यास उस गति में

रोक लगा देता है। इस पर भी उसका लक्ष्य यह होता है कि हमें काव्य का घनत्व और उसकी गूँज प्राप्त हो जाय।

अतएव उपन्यास के कला-रूप में एक आन्तरिक खिंचाव वर्तमान है जिसका मन्तव्य है 'असाधारण वस्तुओं की चूल चिरन्तन एवं सार्वभौमिक वस्तुओं के साथ बैठा देना' (टामस हार्डी)। उसका उद्देश्य है 'औसत का सामंजस्य उस असमान्यता के साथ कर दिया जाय, जिसके द्वारा ही यह स्वाभाविक हो पाता है कि कोई कहानी या अनुभव स्मृति में बसा रहे, और दुहराए जाने के लिए उकसाता रहे' (टामस हार्डी)। इस प्रकार उपन्यासकार की अनुभूति और अनुभूति के स्रोत के बीच एक संदिग्ध सन्तुलन होता है, परन्तु यह सन्तुलन कभी सम्पूर्ण नहीं हो पाता। अनुभूति के विभिन्न बौद्धिक, भावनात्मक, प्रातिभ अथवा आध्यात्मिक स्तरों में परस्पर संघर्ष या विरोध होता है और हम देखते हैं कि उपन्यासकार समन्वय की खोज करता रहता है और अधिकतर असफल होता है। मौरिएक (Mauriac) कहता है, 'हम कभी वह पुस्तक नहीं लिख पाते जिसकी हम इच्छा करते हैं, कृति हमें वही प्राप्त होती है जिसके हम योग्य होते हैं।' मुझे लगता है कि कला-रूप में उपन्यास वैसा ही है जैसी दाँते (Dante) के विचार से जन-भाषा, 'जो सबको घुलाती है परन्तु कहीं सम्पूर्ण नहीं है।' यथार्थ का एक कारण ऐसा भी है जो उसमें घुल नहीं पाता। सम्भवतः इसी 'अघुलनशील यथार्थ का अनुभव करके ही फार्स्टर (Forster) ने उपन्यास का लक्ष्य 'प्रसार' (expansion) माना है। यह प्रसार 'सम्पूर्णता की उपलब्धि नहीं है, वृत्त का आवेष्टन नहीं बल्कि निरन्तर उन्मीलन ही है।' किन्तु फार्स्टर के इस सुझाव में भी कठिनाई है। अपने अनुभव के उद्घाटन के लिए उपन्यासकार को फिर भी विश्वसनीय यथार्थ की टेक लेनी होगी। और यथार्थ स्वयं फार्स्टर की दृष्टि से 'प्रसारित' नहीं किया जा सकता, उसकी स्वच्छन्दता असम्भव है। जो कुछ स्वच्छन्द किया जा सकता है वह यथार्थ का हमारा अपना अनुवाद है, उस आयाम की हमारी चेतना है जो वस्तु में स्थित नहीं है बल्कि कल्पना द्वारा बाह्य जगत् पर लादी गई है। कवि के लिए तो आसान है कि वह यथार्थ के इस शिकंजे से बाह्य जगत् का मात्र सौन्दर्यात्मक पक्ष प्रस्तुत करके या उसकी उपस्थिति को ही अस्वीकृत करके भाग खड़ा हो, किन्तु जैसे ही उपन्यासकार अनुभूति की घटनात्मकता को अस्वीकृत करने लगता है, जैसा कि गर्ट्रूड स्टाइन (Gertrude Stein) ने किया, तो उसके सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं—या तो वह अपने माध्यम के स्रोतों की अतिवादिता को माने या उपन्यासकार ही न रह जाय। 'विशुद्ध कविता' सम्भव है क्योंकि कविता का क्षेत्र मानव-चेतना का स्वयंसिद्ध संसार है, किन्तु 'विशुद्ध उपन्यास' असम्भव है (यद्यपि जीद 'काउण्टर फीटस' (Counterfeiters) में एडवर्ड की डायरी में इसकी कल्पना करता है।) 'विशुद्ध अस्तित्व' कविता अथवा धर्म का विषय हो सकता है। किन्तु उपन्यास में हमारा सम्पर्क मनुष्य के उस अस्तित्व से होता है जो घटनाओं में प्रकाशित होता है। क्रिया और अस्तित्व, क्रिया एवं उसकी परिणति और क्रियाओं के प्रेरक उद्देश्यों एवं मन्तव्यों के बीच एक अन्तर्विरोध सदैव वर्तमान रहता है। उपन्यास अन्ततः एक कामचलाऊ कला-रूप ही है, क्योंकि अनुभूति को वह जिस ढाँचे पर कसना चाहता है उस ढाँचे की प्रकृति ऐसी है कि वह कभी भी अन्तिम, सम्पूर्ण, स्वतःसिद्ध नहीं हो सकता।

: २ :

यदि हम मार्क्स के शब्दों में कहें तो "सत्य और कुछ नहीं केवल भौतिक जगत् है जो मानव-मस्तिष्क में प्रतिच्छायित होता है और विचारों के रूप में अनूदित हो जाता है—किन्तु प्रतिच्छाया के इस क्रम में मानव-मस्तिष्क यथार्थ और अस्तित्व में अन्तर्मुक्त नहीं है बल्कि मानव-प्रज्ञा द्वारा भौतिक जगत् पर आरोपित है।" लेकिन यहाँ मैं एक अमार्क्सवादी संशोधन प्रस्तुत करना चाहूँगा—उपन्यास में यह क्रम उलट-पलटकर परिलक्षित होता है। उपन्यासकार की चेतना के दर्पण में बाह्य जगत् की छाया पड़ती है। उस छाया में विकृति भी होती है, किन्तु यह विकृति द्रष्टा की चेतना अथवा दर्पण का गुण नहीं है बल्कि दृश्य का ही गुण है; दृश्य का ही एक नया आयाम है जिसे केवल उपन्यासकार की कल्पना ही ग्रहण कर सकती है। उपन्यास का रूप-विधान दृश्य और छाया के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। यह सम्बन्ध देश और काल से परिमित होते हैं, परिवर्द्धित या प्रसारित होते हैं, टूटते हैं और बदलते हैं। निर्लिप्त द्रष्टा केन्द्रीय प्रज्ञा, तटस्थ बिन्दु अथवा 'कैमरे की खुली हुई खिड़की' की स्थिति उपन्यास में असम्भव है; शायद अनर्गल भी है। उपन्यासकार यथार्थ में लिपटा हुआ है, वह उससे बिलकुल निर्लिप्त नहीं हो सकता।

टालस्टाय का कथन है "इतिहासकार घटना की परिणति का विवरण प्रस्तुत करता है, कलाकार की विषय-वस्तु स्वयं घटना का तथ्य ही है।" इस प्रकार आज के उपन्यास की केन्द्रीय समस्या 'ऐतिहासिक सत्य' को 'काव्यात्मक सत्य' में परिवर्तन करना है। भौतिक मानव-सम्बन्ध न तो गीली मिट्टी ही हैं जिन्हें 'मानव-आत्मा के शिल्प' की योजना के साँचे में ढाल दिया जाय और न तो मात्र कवि-कल्पना ही, इसलिए न तो फ्लाबेयर की वस्तुपरकता, न जोला (Zola) का तादृश्यवाद, न बालजाक अथवा डिकेन्स का स्थूल यथार्थवाद और न मार्क्सवादियों का सामाजिक यथार्थवाद, न यूलिसीज (Ulysses) या फ़िनिगन्सवेक (Finnegan's Wake) या प्रूस्त और जीद की 'विशुद्ध कविता' ही इसको अभिव्यक्त कर पाती है। इतिहास की ईंटों से उपन्यासकार एक नई मूर्ति या नया भवन निर्मित करना चाहता है, जिसकी सम्भावना इतिहास में नहीं भी हो सकती है, क्योंकि इतिहास चिरन्तन गतिशील है। उपन्यासकार की समस्या यह है कि वह इतिहास को एक क्षण में स्थिर भी कर दे और उसकी चिरन्तनता का आभास भी देता रहे। यह समस्या और भी कठिन हो जाती है यदि हम इस पर ध्यान दें कि ऐतिहासिक अनुभव के बराबर गहराई, संश्लिष्टता और असामञ्जस्य की वृद्धि होती जाती है। हमें लगता है कि एक कला-रूप की दृष्टि से उपन्यास मरणासन्न है, क्योंकि वह ऐतिहासिक अनुभवों के नये आयामों के साथ क़दम-से-क़दम मिलाकर नहीं चल सका है।

लाफ़ायत (Lafayette) से फ्लौबेयर तक अथवा फीलिंडग से डिकेन्स तक उपन्यास ने यथार्थ की एक विशेष दृष्टि अपने सामने रखी है। इस दृष्टि से बाह्य भौतिक जगत् और व्यक्तिगत चेतना के अन्तर्मुख एवं तर्क-रहित अन्तर्जगत् में अत्यधिक विरोधाभास उपस्थित किया गया। दोनों के बीच का सम्बन्ध मात्र संघर्ष का था और इस संघर्ष की जीवन्तता व्यक्ति की विरोधी यथार्थ से अपने आदर्शवादी संसार की रक्षा में निर्मम संघर्ष-जनित गहराई पर निर्भर थी। इस संघर्ष का ज्ञान तर्क एवं इन्द्रियों पर आधारित था। जैसा कि एफ़० सी० ग्रीन (F. C. Green) ने प्रूस्त पर अपनी पुस्तक में बड़ी खूबी से दिखलाया है। "इस संघर्ष का

रूप-विधान, क्लासिकल नाटक का अनुकरण करता रहा, जिसमें प्रारम्भ, उत्थान, चरम सीमा, अन्त आदि का समावेश था।" उसका नायक एक प्यारा व्यक्ति होता था जो उत्तेजक वातावरण के आक्रमणों से अपनी रक्षा में लगा रहता था। वोत्रें (Vautrin), त्रुबेयर (Trubert), कज़िन बेट्टी, जूलिएँ-सोरेल, एम्मा बोवेरी आदि की भाँति वह समाज नामी अत्याचार के इस क्षेत्र के विरुद्ध सतत् युद्ध रत रहता था। आँरागाँ (Aragan) के उपन्यास 'ओरेलिएँ' (Aurelien) के सम्बन्ध में इस प्रकार क्लोडेल (Claudel) का कथन है "किसी व्यक्तित्व और किन्हीं परिस्थितियों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से घटनाओं की एक शृंखला उद्भूत होती है। ये घटनाएँ कार्य-कारण-तर्क से विवश होकर अनवरुद्ध और सम्पूर्ण वेग से अनिवार्य निष्पत्ति की ओर अग्रसर होती हैं।"

आधुनिक उपन्यास की कठिनाई यही है कि उपरोक्त नाटकीय रूप-विधान यथेष्ट नहीं रह गया। वैयक्तिक चेतना अथवा व्यक्तित्व की भावुकता स्वयं भ्रम-मात्र रह गई है। प्रूस्त के अनुसार "हमारी ऐच्छिक स्मृति, बुद्धि एवं आँखों की स्मृति, हमें अतीत की केवल सतही तस्वीरें देती है, जिनकी समानता उस अतीत से उतनी ही होती है जितनी बुरे चित्रकारों द्वारा निर्मित तस्वीरों की वसन्त से।" उपन्यासकार के लिए उपन्यास अतीत में घटित होता है। वह अनुभूति का इतिहास है। प्रूस्त ने हमारे सामने दो प्रकार के अतीत रखे, एक जो बुद्धि और ऐच्छिक स्मृति द्वारा संग्रहीत है और दूसरा, जो अधिक प्राणवंत है, मानव के अस्तित्व में लीन है। दोनों के बीच जो महान् अन्तर है वह स्पष्ट है। प्रूस्त अथवा आधुनिक उपन्यासकार की यथार्थ अनुभूति आज 'क्लासिकल' की तुलना में अधिक संश्लिष्ट और कम योजनाबद्ध है।

सांस्कृतिक दृष्टि से अहं का विकास गहराई की अनुभूति का विकास है। जैसे-जैसे संस्कृति आगे बढ़ती है यथार्थ की पाशविक शक्ति में चेतना रूपी गुणात्मक परिवर्तन होता जाता है और मानव को अपने अहं में यथार्थ के एक नये आयाम का भान होता है। ऐसी दशा में हमारा 'स्व' शौर्यात्मक अथवा एपिकल (Epical) नहीं, बल्कि वैयक्तिक और अनूठा हो जाता है। उपन्यास के रूप-विधान में जो विकास हुआ है उसके पीछे अहं अथवा 'स्व' के प्रति गहराई के आयाम के रूप में, इस बढ़ती हुई जागरूकता को अभिव्यक्त करने का प्रयास ही है; एक ऐसे दर्पण द्वारा जो न केवल यथार्थ की छाया उपस्थित करता है बल्कि उसे अर्थ भी देता है।

मेरी दृष्टि में उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि मानव-चेतना, सार्थकता, अथवा नियति के विभिन्न सत्यों का इतना ठीक चित्र साहित्य का कोई माध्यम प्रस्तुत नहीं करता। आज लगता है कि उपन्यास यथार्थ और तर्क-संगति के शिकंजे में चूर-चूर हो जायगा। लेकिन जब हम इस पर विचार करते हैं कि अनुभूतियों पर कसा हुआ कोई भी साँचा केवल अस्थायी और असन्तुलित ही होगा तो हमारे सामने औपन्यासिक कला-रूप की मूलतः प्रायोगिक प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। शायद यह हमेशा लगेगा कि उपन्यास एक कला-रूप की दृष्टि से समस्त हो चुका है, क्योंकि सार्थकता और अनुभव, पदार्थ और चेतना वस्तु और व्यक्ति के संयोजन का प्रयास हमेशा विफल होने के लिए विवश है। जीवन की ही भाँति उपन्यास का कला-रूप असमाप्त अधूरा है। केमस (Camus) के अनुसार "उपन्यास लिखने की क्रिया यथार्थ की कुछ-न-कुछ अस्वीकृति को मानकर ही चलती है।" चेतना अथवा इच्छा के वृत्त को इतिहास अथवा विशुद्ध समसामयिक यथार्थ में बाँधने के प्रयास के मूल में ही विफलता

छिपी हुई है। वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा भी इसे करने का प्रयास-मात्र उसे कुण्ठित करता है। उपन्यासकार का प्रयास चेतना की जिस गहराई को लेकर चलता है उससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार अन्तिम सामञ्जस्य असम्भव है उसी प्रकार उपन्यास का अन्त भी असम्भव है।

इस दृष्टि से हम तानाशाही के उपन्यास-विरोध को भी समझ सकते हैं चाहे वह कैथोलिक हो अथवा कम्युनिस्ट। वे उपन्यास को न ट्रेजेडी के रूप से देखने को तैयार हैं न बाह्य जगत् के सम्बन्धों के बीच मानव-आत्मा की गहराई खोजने के प्रयास के रूप में ही। तानाशाह संस्कृति के लिए आवश्यक है कि वह सहमति का एक यंत्र खड़ा करे और सार्थकता का एक-मात्र भण्डार आयोजित करे जिससे बाहर न किसी विचार-धारा, न उसके स्रोत को ही जीवित रहने की इजाजत हो। तानाशाही संस्कृतियों को समाज की दोहरी चेतनता से मौत का-सा भय लगता है। उपन्यासकार के लिए उसकी अपनी आत्मा ही उसका परिधान है और तानाशाह संस्कृतियाँ अपने एकांत मूल्य-सोपानों में आबद्ध होती हैं। उनके लिए सामाजिक अथवा संस्थागत आत्मा से पृथक् किसी आत्मा का स्थान नहीं है। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध आत्यन्तिक है। समाज ही एक-मात्र नियति है और नियति की कोई भी अन्य दृष्टि न सम्भव है और न अनुमति के योग्य ही है। सांस्कृतिक तानाशाही सुसंगठित अथवा व्यावसायिक संस्कृतियों में उभरकर आने वाली प्रवृत्ति है, अतः तानाशाही प्रवृत्ति का खतरा संसार-व्यापी खतरा है और उपन्यास के लिए वह खतरा अतिविकसित व्यावसायिक संस्कृति में भी है और अति संगठित सामूहिक संस्कृति में भी।

—अनुवादक, सर्वेश्वरदयाल 'सक्सेना'

प्रकाशकों से

अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक संघ ने एक प्रस्ताव में कहा है कि प्रकाशकों से समीक्षा के लिए पत्र-पत्रिकाएँ पुस्तकों की दो के स्थान पर एक प्रति ही लिया करें। इसे मान्य करते हुए हमारा प्रकाशकों से निवेदन है कि अब से अपने प्रकाशनों की केवल एक प्रति ही निम्न पते पर भेजा करें:

सम्पादक : आलोचना

४ टागोर टाऊन, इलाहाबाद।